* ओ३म् *

अष्टोपनिषदः

अर्थात्

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय और ऐतरेय का सरल भाषानुवाद

लेखक—पं० बदरीदत्त जोशी

प्रकाशक—
पं० शङ्करदत्तशर्मा
वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद

मुद्रक—नेमीचन्द जैन
शर्मामैशीन प्रिंटिंगप्रेसमुरादाबाद में छपा।

संवत् १९८२ वि०

तृतीय संस्करण १०००] मूल्य २)

भूमिका
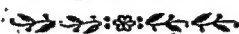
संस्कृत साहित्य में उपनिषदों का आसन बहुत ऊंच
इन को वेदान्त इसीलिये कहा जाता है कि आर्यावर्त के
महर्षियों ने जो रात दिन स्वाध्याय और प्रवचन में तत्पर
थे, संपूर्ण वेदों का सार खींचकर इन में रख दिया है।
देशी विद्वानों ने भी जिन्होंने आर्यसाहित्य का अध्ययन
विवेचन किया है, उपनिषदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की
संसार में कोई ऐसा धर्म या जाति नहीं है कि जहां उपनि
की शिक्षा पहुंची हो और उस पर उसका प्रभाव न पड़ा
इसलाम में सूफी संप्रदाय और ईसाइयों में सेन्टपाल के
यायी इस का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जर्मनी का प्रसिद्ध वि
शोपनहावर तो उपनिषदों की शिक्षा पर यहाँ तक मुग्ध
कि वह अपने अधीत और विज्ञात सब विषयों में उपनि
को सर्वोपरि मान देता है और लिखता है, कि "मेरे वर्त
जीवन को इन से शान्ति मिली है और मुझे आशा है कि
अगला जीवन भी यदि कोई है तो इन्हीं के द्वारा शान्ति
होगा।"

उपनिषद् एक पारिभाषिक शब्द है जो किसी
विशेष या विषय विशेष के अर्थ में रूढ़ नहीं है, इसका शा
र्थ यह है कि जो विद्या गुरु के समीप रहकर पढ़ी जावे
जिसके द्वारा कामादि आन्तरिक शत्रुओं का नाश किया
उस को 'उपनिषद्' कहते हैं। वेद के यज्ञभाग (कर्मकाण्ड

की जिन में व्याख्या कीगई है, उनको 'ब्राह्मण' कहते हैं। तथा वेद में आध्यात्मिक और आधिभौतिक विषयों का जो संकेत रूप से वर्णन हुवा है, उनका उदाहरण और संवाद पूर्वक विस्तृत रूप से जिन में वर्णन हुवा है वे 'उपनिषद्' या 'आरण्यक' कहलाते हैं। उपनिषद् और आरण्यकों में कुछ विशेष भेद नहीं है।

क्योंकि 'आरण्यक' संज्ञा विशेष्यनिघ्न है, जो ग्रन्थ जंगलों में रहकर बनाये गये हैं, वे 'आरण्यक' हैं। इस लक्षण से तो सभी प्राचीन ग्रन्थों में 'आरण्यक' शब्द चरितार्थ हो सकता है। इसीलिये 'बृहदारण्यक' आरण्यक होता हुवा भी उपनिषद् है।

उपनिषदों की संख्या के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। कोई १०८ उपनिषद् मानते हैं, कहीं ५१ माने जाते हैं, कोई १२ और कोई १० मानते हैं। ऐसा मालूम होता है कि आज कल के ही समान प्राचीन काल में भी उपनिषदों का संस्कृत साहित्य में सर्वोपरि मान था, इसलिए जो कुछ रचना कीजाती थी उसको गौरव देने के लिये प्रणेता उस का नाम उपनिषद् रख देते थे। यहां तक कि भक्तिभाव से किये गये स्तव और स्तोत्रों का नाम भी 'उपनिषद्' रक्खा गया।

अस्तु—यह मतभेद होते हुये भी १० या १२ उपनिषद् ऐसे हैं कि जिनको प्राचीन काल से लेकर अबतक उपनिषदों में सर्वोपरि महत्व एवं प्राधान्य प्राप्त है, उन के नाम ये हैं, ईश, (वाजसनेय) केन, (तलवकार) कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और मैत्री या कौपीतकी। कोई २ प्रधान उपनिषदों में पूर्व के १० की ही गणना करतेहैं, उत्तरके दो को छोड़ देतेहैं। पर हम

उन लोगों में से हैं जो इन बारहों को उपनिषदों में प्रधान मानते हैं।

संप्रति हम पूर्व के आठ उपनिषदों का सरल भाषानुवाद पाठकों की सेवा में समर्पित करते हैं। यदि समय और सामर्थ्य की अनुकूलता हुई तो हम शेष चार उपनिषदों का भी ऐसा ही सरल अनुवाद पाठकों की सेवा में अर्पित करेंगे।

यद्यपि उपनिषदों के संस्कृत के अतिरिक्त भाषा में भी बहुत से अनुवाद हो चुकेहैं और इस विषयमें बहुतसे वाद प्रतिवाद भी छप चुके हैं, तथापि इन सब के होते हुवे भी उपनिषदों के एक सरल अनुवाद की जिसके द्वारा पाठकों को मूल का आशय समझने में कठिनता न हो और वे उपनिषदों के रहस्य को भलीभांति समझ सकें; बड़ी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक गहन विषयों में जितना वाद संवाद हो, उतनी ही उन की क्लिष्टता दूर होकर वे जनसाधारण के समझ में आने योग्य होते हैं। बस इसी अभिप्राय से मैंने सरल हिन्दी भाषा में यह अनुवाद किया है। इस में न तो इतना विस्तार ही किया गया है कि जिस के झमेले में पड़कर पाठक प्रकरण से बहक कर प्रस्तुत विषय को ही भूल जावें और न इतना संक्षेप से ही काम लिया गया है कि उस का परिणाम और निष्कर्ष निकालने में भी पाठकों को अपनी बुद्धि और अनुभव से काम लेना पड़े। आशा है कि ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु इस सरल और संक्षिप्त अनुवाद से लाभ उठायेंगे। यदि यह उपयोगी सिद्ध हुवा तो शेष ४ उपनिषदों का अनुवाद भी शीघ्र पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जायगा।

बदरीदत्त जोशी

* ओ३म् *

अथ ईशोपनिषद् ।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

पदार्थः-(यत् किं, च) जो कुछ (जगत्याम्) पृथ्वी पर (जगत्) चलायमान संसार है (इदम्, सर्वम्) यह सब (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादित (व्याप्त) है । (तेन, त्यक्तेन) उस ईश्वरके दिए हुवे पदार्थों से (भुञ्जीथाः) भोगकर (कस्य, धनम्) किसी के धनका(मा, गृधः) मत लालच कर अथवा (धनम्) धन (कस्य, स्वित्) किस का है ? ॥ १ ॥

भावार्थः-यह सारा जगत् जो कि स्थावर जङ्गम तथा जरायुज, अण्डज,स्वेदज और उद्भिज्ज आदि योनियों में तथा सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि लोकों में एवं पृथिव्यादि भूतों में तथा भूतादि कालों में विभक्त है, यह सब उस ईश्वर से (जो इसका नियामक और नियोजक है) आच्छादित और अधिष्ठित है अर्थात् कोई वस्तु, देश और काल ऐसा नहीं जो उस नियन्ता पुरुष की व्याप्ति और अधिकार से बाहर हो । अतएव हे जीव ! तू सर्वदा उसीके दिए हुए अर्थात् अपने धर्म युक्त पुरुषार्थ से उपार्जन किये हुवे फलों का भोग कर । अन्याय से वा लालच से अन्यों के धनादि पदार्थों की (जिन पर तेरा कोई स्वत्व नहीं है) लेने की इच्छा मत कर क्योंकि ये सब पदार्थ अनित्य हैं ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

पदार्थः—(इह) यहां पर (कर्माणि) कर्तव्य कर्मों को (कुर्वन्, एव) करता हुआ ही (शतं, समाः) सौ वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे। (एवम्) इस प्रकार निष्काम कर्म करते हुवे (त्वयि-नरे) तुझ मनुष्य में (कर्म) किया हुआ ,न, लिप्यते) नहीं लिपटेगा। (इतः) इससे (अन्यथा) विपरीत कर्माऽलेप का और कोई उपाय (न अस्ति) नहीं है॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्म शब्द से कर्तव्य का ग्रहण है। जो मनुष्य फल में आसक्त न होकर अपने कर्तव्य का आचरण करते हैं उनके लिये कर्म वन्धन का हेतु नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि फलासक्ति ही मनुष्य को कर्म के बन्धन में फँसाती है। भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है "मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"— हे अर्जुन! तू कर्मफल की इच्छा करने वाला मत हो और कर्म के न करने में भी तेरी रुचि न हो। अर्थात् सदा निष्काम कर्म किया कर॥२॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

पदार्थः—(ये, के, च) जो कोई (आत्महनः) आत्मा के हनन करने वाले (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे (अन्धेन-तमसा) तमरूप अन्धकार से (वृताः) ढके हुवे (असुर्य्याः, नाम, लोकाः) असुरसम्बन्धी प्रसिद्ध जो लोक हैं (तान्) उनको (प्रेत्य) मरकर (अभिगच्छन्ति) सब ओर से प्राप्त होते हैं॥

भावार्थः-इस मन्त्र में आत्महन् शब्द से दो प्रकार के मनुष्यों का ग्रहण होता है। एक वे जो कि अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने वाले आत्मा को नहीं मानते, किन्तु प्राण और देहादि को ही आत्मा मानकर उनका पोषण करते हैं और यह कहते हैं कि शरीर और इन्द्रियोंके अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, जो कर्म का फल भोगे। दूसरे वे कि जो आत्मा के अनुकूल सत्य का हनन कर तत्प्रतिकूल असत्य का आचरण करते हैं। ऐसे लोग तामस गति को प्राप्त होते और असुर कहलाते हैं ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अनेजद्) नहीं चलता हुआ (एकम्) एक ब्रह्म (मनसो, जवीयः) मन से भी अधिक वेगवान् है (एनत्) इसको (देवाः) इन्द्रियगण (न, आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होते। यद्यपि ब्रह्म व्यापक होने से उनमें (पूर्वम्, अर्षत्) पहिले से ही पहुंचा हुआ है। (तत्, तिष्ठत्) वह ठहरा हुआ भी (धावतः, अन्यान्) चलते हुये अन्य पदार्थों को (अत्येति) उल्लङ्घन कर जाता है। (तस्मिन्) उसमें (मातरिश्वा) सूत्रात्मा वायु (अपः) कर्मों को (दधाति) धारण करता है। यद्वा (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (अपः) जलों को (दधाति) धारण करता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-पाठकों को आश्चर्य हुआ होगा कि ठहरा हुआ पदार्थ चलते हुवों का उल्लङ्घन कैसे करसकता है? निःसन्देह

एकदेशीय पदार्थों में तो ऐसा होना असम्भव है, परन्तु ब्रह्म के सर्वगत होने से उसका तो कहीं पर अभाव ही नहीं फिर वह किससे अतिक्रमण किया जा सकता है? भौतिक पदार्थों में यद्यपि मन बड़ा वेगवान् है जो पलभर में सहस्रों कोश चला जाता है परन्तु यह जहां जाता है, वहीं का हो रहता है। अर्थात् एक समय में सब तो सब, दो देशों को भी नहीं घेर सकता। फिर भला उस ब्रह्म का, जो युगपत् सारे ब्रह्माण्ड में एकरस व्याप्त होरहा है, क्योंकर यह अत्ययन कर सकता है? कदापि नहीं, उसी आत्मा में सूत्रात्मा वायु कर्मों को धारण करता है। अर्थात् उसी के आश्रय से जीवात्मा कर्म करने में समर्थ होता है। यद्वा निराधार आकाश में यद्यपि कोई वस्तु ठहर नहीं सकती, परन्तु उस सर्वाधार के आश्रय से वायु मेघरूप जलों को धारण करता है। यह उसी की महिमा है॥ ५॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

पदार्थः-(तत्) वह (एजति) चलता है (तत्) वह (न एजति) नहीं चलता। (तद्) वह (दूरे) दूर है (तद्, उ,) वह, ही (अन्तिके) पास है (तद्) वह (अस्य-सर्वस्य) इस सब के (अन्तः) भीतर है (तद्, उ) वह ही (अस्य-सर्वस्य) इस सब के (बाह्यतः) बाहर है॥ ५॥

भावार्थः-आत्मतत्व के न जानने वाले पुरुष कह उठेंगे कि ये परस्पर विरुद्ध धर्म एक पदार्थ में कैसे रह सकते हैं? निस्सन्देह किसी भौतिक एवं परिच्छिन्न पदार्थ में ऐसे दो विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है, परन्तु ब्रह्म के लिये,

जिस की सत्ता का कहीं पर भी अवरोध नहीं, यह परस्पर व्याघात नहीं कहलाता। प्रत्युत भौतिक पदार्थों से उस की भिन्नता और विलक्षणता सिद्ध करता है। यद्यपि वह अपने स्वरूप से नहीं चलता, तथापि जगत् के चलायमान होने से लोग एजनक्रिया का कर्त्ता उसी को समझने लगते हैं। एवं व्यापक होने से वह सब के पास है, पर तो भी सूक्ष्म होने से वही अतिदूर हो जाता है। " अणोरणीयान् महतोमहीयान् "="सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान्" क्या सिवाय ब्रह्म के किसी अन्य पदार्थ का ऐसा निर्वचन कर सकते हैं ? कदापि नहीं। यद्वा दूर, समीप और भीतर, बाहर दोनों जगह व्यापक होने से ऐसा कहा गया ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

पदार्थः-(यः) जो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों वा पदार्थों को (आत्मनि, एव) आत्मा में ही (च) और (आत्मानम्) आत्मा को (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों वा वस्तुओं में (अनुपश्यति) देखता है (ततः) तदनन्तर (न, विजुगुप्सते) पतित नहीं होता ॥ ६ ॥

भावार्थः-इस मन्त्र में आत्म शब्द से परमात्मा और जीवात्मा दोनों का ग्रहण इष्ट है। आद्य पक्ष में तो यह अर्थ होगा कि जो परमात्मा को समस्त वस्तुजात में और वस्तुमात्रको परमात्मा में सन्निविष्ट देखता है, उस से कोई ऐसा कर्म, जो निन्दनीय हो, नहीं हो सकेगा क्योंकि अपने स्वामी की उपस्थिति में कोई निन्द्य कर्म नहीं कर सकता। अन्यपक्ष में जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में और अपने

आत्मा को सब प्राणियों में देखता है अर्थात् अपने समान ही सब का सुख दुःख अनुभव करता है, वह किसी का अनिष्ट-साधनरूप निन्दित कर्म नहीं करसकेगा ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

पदार्थः-(एकत्वम्) ब्रह्म के अद्वैतभाव को (अनुपश्यतः) देखते हुवे (विजानतः) ज्ञानी पुरुष को (यस्मिन्) जिस दशा में (सर्वाणि-भूतानि) सब प्राणी (आत्मा, एव, अभूत्) आत्मा ही हो जाते हैं (तत्र) उस दशा में (कः, मोहः) क्या मोह ? (कः, शोकः) क्या शोक ? (अर्थात् कुछ भी नहीं) ॥ ७ ॥

भावार्थः-प्रिय पदार्थों के वियोग से शोक और मोह उत्पन्न होते हैं। मनुष्य जिस में जितनी अधिक ममत्वबुद्धि रखता है, उतना ही अधिक उस के वियोग से उस को दुःख होता है। हम रात दिन देखते हैं कि जिन प्राणियों का हम से विशेष सम्बन्ध नहीं है, उनका वियोग हमारे लिये वैसा दुःखदायी नहीं होता,जैसाकि घनिष्ठ सम्बन्धवालोंका,बस इस से सिद्ध है कि ममता ही दुःख का कारण है, न कि वियोग। क्योंकि ममता के अभाव में वियोग के होते हुवे भी मनुष्य को कुछ दुःख नहीं होता और यह ममता तभी छूटती है जब कि मनुष्य जगत् को आत्ममय देखता है अर्थात् शरीरादि के होते हुवे भी उन में उस की ममत्वबुद्धि नहीं रहती। यद्वा जो सब को आत्मा का अधिष्ठान जानकर उन में एक आत्मा ही को देखता है, उसे फिर क्या मोह ? और क्या शोक ? कुछ भी नहीं ॥ ७ ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्ध-मपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—जो (शुक्रम्) सब जगत् का उत्पादक (अकायम्) शरीररहित (अव्रणम्) छिद्ररहित (अस्नाविरम्) नाड्यादिवर्जित (शुद्धम्) पवित्र (अपापविद्धम्) पापशून्य (कविः) क्रान्तदर्शी (मनीषी) मन का साक्षी (परिभूः) सबका अध्यक्ष (स्वयंभूः) कारणरहित है (सः) वह (परि.अगात्) सर्वत्र पहुंचा हुआ है। उसने (शाश्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) समय के लिये (याथातथ्यतः) ठीक२ (अर्थान्) पदार्थों को (व्यदधात्) रचा है ॥ ८ ॥

भावार्थः—उक्त मन्त्रों में जिस आत्मा का वर्णन किया गया, अब इस मन्त्र में उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं–वह परमात्मा विभु होने से सर्वत्र प्रकाशमान है, अतएव नाड़ी, नस और व्रणादि के विकारों से रहित है, अतः शुद्ध और पापरहित है। वही सर्वद्रष्टा सर्वान्तर्यामी और सर्वोपरि विराजमान है। उसका कोई कारण नहीं किन्तु वही सबका आदिकारण है। उसने सदा के लिये कल्प की आदि में ही वेदरूप अनादि विद्या के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार फलों का विधान कर दिया और सबको रचा है ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(ये) जो लोग (अविद्याम्) अविद्या की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धन्तमः) गाढ़-अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (ये, उ) और जो

(विद्यायाम्) विद्या में (रताः) तत्पर हैं (ते) वे (ततः) उससे भी (भूयः एव) अधिक ही (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः–इस मन्त्र में अविद्या शब्द से कर्मकाण्ड और विद्या शब्द से ज्ञानकाण्ड का निर्देश किया गया है अर्थात् जो मनुष्य ज्ञानकाण्ड की उपेक्षा करके केवल कर्म की उपासना करते हैं, वे कर्म में लिप्त होकर वारवार जन्ममरण के प्रवाहरूप अन्धकार में पड़ते रहते हैं और जो कर्मकाण्ड की उपेक्षा करके केवल ज्ञान की शुष्कचर्चा में लगे हुवे हैं, वे संसार और परमार्थ दोनों से वञ्चित रहकर अपने जन्म को निष्फल बनाते हैं। इसी लिये वे कर्म वालों की अपेक्षा अधिक अन्धकार में हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

पदार्थः–(विद्यायाः) विद्या का (अन्यद् एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं । [अविद्यायाः] अविद्या का[अन्यत्] और फल [आहुः] कहते हैं । (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीरपुरुषों के वचन, हम (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे प्रति (तद्) उस का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं ॥ १० ॥

भावार्थः–धीर पुरुषों ने ज्ञान और कर्म का फल भिन्न २ वर्णन किया है । यथा–"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" =ज्ञान का फल मोक्ष है । एवं "स्वर्गकामो यजेत" =यज्ञादि कर्म का फल स्वर्ग है ॥ १० ॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयथं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (विद्याम्) विद्या को (च) और (अविद्यां च) अविद्या को भी (तद् उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ २ (वेद) जानता है [सः] वह (अविद्यया) अविद्या से [मृत्युम्] मौत को [तीर्त्वा] तर कर [विद्यया] विद्या से [अमृतम्] मोक्ष को [अश्नुते] प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य ज्ञान और कर्म का साथ २ उपयोग करते हैं अर्थात् ज्ञान के द्वारा कर्म को और कर्म के द्वारा ज्ञान को सार्थक बनाते हैं, उनको ज्ञानपूर्वक कर्म मृत्यु से तराताहै (जो बिना ज्ञान के मृत्यु (बन्धन) का कारण था) और कर्मसहित ज्ञान मोक्ष का अधिकारी बनाता है (जो बिना कर्म के मोक्ष तो मोक्ष, स्वर्ग से भी वञ्चित रखता था) ॥११॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याथंरताः १२

पदार्थः—(ये) जो लोग (असम्भूतिम्) असम्भूति की (उपासते) उपासना करते हैं, (ते) वे (अन्धन्तमः) गाढ अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं । (ये उ) और जो (सम्भूत्याम्) सम्भूति में (रताः) लगे हुवे हैं (ते) वे (ततः) उस से भी (भूय इव) अधिक ही (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में 'असम्भूतिः' शब्द से कारणरूप प्रकृति और 'सम्भूतिः' से कार्यरूप जगत् का ग्रहण होता है । " सम्भवनम् सम्भूतिः, न सम्भवनम् असम्भूतिः" उत्पन्न होने

का नाम सम्भूति है और उत्पन्न न होने को असंभूति कहते हैं। यद्यपि ब्रह्म और जीव भी अनादि होने से उत्पन्न नहीं होते तथापि वे किसी का उपादान कारण न होनें से कार्य रूप में परिणत नहीं होते। केवल अनादि प्रकृति ही जगत् का उपादान होने से असम्भूति का वाच्यार्थ है। अतएव उस ब्रह्म के स्थान में जो अनुत्पन्न प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में गिरते हैं और जो उससे उत्पन्न कार्यरूप जगत् में ईश्वर बुद्धि करते हैं वे तो महान्धकार में पड़े हुवे हैं। यद्वा, जो असम्भूति की उपासना करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि यह जगत् न कभी उत्पन्न हुआ, और न होगा, किन्तु सब शून्यमय है। ऐसे शून्यवादी अन्धकारग्रस्त हैं। एवमेव जो केवल सम्भूति की उपासना करते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि इस जगत् का कोई अदृश्य कारण नहीं, न कोई अनुत्पन्न अनादि पदार्थ है किन्तु यह जगत् सदा से ऐसा ही है और ऐसा ही रहेगा, इस का कभी विनाश न होगा। ऐसे प्रत्यक्षवादी (नास्तिक) उस से भी अधिक अन्धकार में पड़ते हैं ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

पदार्थः—(सम्भवात्) सम्भूति से (अन्यद्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) असम्भूति से (अन्यद्) और फल (आहुः) कहते हैं। (इति) इस प्रकार, (धीराणाम्) धीरपुरुषों के वचन हम (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे प्रति (तद्) उसका (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः-धीरपुरुषों ने कार्य्य और कारण का भिन्न२ फल वर्णन किया है। यथा-कार्य की उपासना से संसार में आसक्ति और कारण की उपासना से अनात्मवाद की वृद्धि होती है ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयथं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (सम्भूतिम्) सम्भूति को (च) और (विनाशं, च) असम्भूति को भी (तद्, उभयम्] इन दोनों को [सह] साथ २ [वेद] जानता है [सः] वह [विनाशेन] असम्भूति से [मृत्युम्] मौत को [तीर्त्वा] तरकर [सम्भूत्या] सम्भूति से [अमृतम्] मोक्ष को [अश्नुते] प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य कार्य और कारण को साथ २ जानते हैं अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति और कार्य से कारण की सफलता समझते हैं। वह कारण के ज्ञान से मृत्यु को तरकर कार्य के ज्ञान से जीवन्मुक्त होजाते हैं। मृत्यु या विनाश क्या है? कार्य का अपने कारण में लीन हो जाना बस जो यह समझ लेगा कि कार्य एक दिन अपने कारण में अवश्यमेव लीन होगा, उसको मृत्यु का भय क्या ? यद्वा, जो पुरुष आत्मा को विनाश और उत्पत्ति से (जो कार्य और कारण के धर्म हैं) पृथक् जानता है, वह मृत्यु को जीत कर मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पदार्थः—[हिरण्मयेन] स्वर्णमय [पात्रेण] आवरण से [सत्यस्य] सत्य का [मुखम्] मुंह [अपिहितम्] ढ़का हुवा है। [पूषन्] हे पूषन्! [तत्] उस को [सत्यधर्माय] [सत्य धर्म के लिये [दृष्टये] ज्ञान के लिये [अपावृणु] खोल दीजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में स्वर्ण उपलक्षण है धनादि पदार्थों का अर्थात् धनादि के लोभ से मनुष्य सत्य धर्म का हनन कर बैठता है। वास्तव में परमात्मा ही जब मनुष्य के हृदय में सत्य का प्रकाश करते हैं, तब वह आवरण टूटता है अर्थात् ये धनादि तुच्छ पदार्थ उस को सत्य धर्म से विमुख नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पदार्थः—(पूषन्) पुष्टिकारक! (एकर्षे) एक ही सब में व्यापक! (यम) सब को नियमन करने वाले! [सूर्य] सब के प्रकाशक! [प्राजापत्य] प्रजाकेस्वामिन्! [व्यूह] फैला [रश्मीन्] अपनी [तेजोमय] किरणोंको [समूह] इकट्ठाकर [यत्] जो [ते] तेरा [तेजः] तेजोमय [कल्याणतमं, रूपम्] मङ्गलमय रूप है [ते] तेरा [तत्] वह रूप [पश्यामि] देखता हूं [यः] जो [असौ, पुरुषः] यह पुरुष है [सः] वह [अहम्] मैं [अस्मि] हूं। वीप्सा में द्विवचन है ॥१६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में जीवात्मा परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे पूषन्! सर्वान्तिर्यामिन्! प्रकाशमय! सर्वेश्वर परमात्मन्! आप कृपा करके अपनी विज्ञानमय किरणों का

प्रकाश जो सर्वत्र फैला हुआ है इकट्ठा करके मेरे हृदय में फैलाइये अर्थात् मुझे इस योग्य बनाइये कि मैं आप के उस तेजोमय रूप के दर्शन कर सकूं और यह कहने का अधिकारी बन सकूं कि मैं आप के उस मङ्गलमय रूप को सर्वत्र देखता हूं और जो यह पुरुष है वह मैं हूं अर्थात् मुझ में वह स्थित है। तात्स्थ्योपाधि से ब्रह्मज्ञानी ऐसा कहसकता है १६

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳस्मर १७

पदार्थः-[वायुः] देहान्तरों में जाने वाला [अनिलम्] पार्थिवादि विकारों से रहित जीवात्मा [अमृतम्] अमर है [अथ] और [इदम्] यह [शरीरम्] भौतिक शरीर [भस्मान्तम्] भस्म होने पर्यन्त है, ऐसा समझ कर, हे [क्रतो] जीव ! तू [ओ३म्] प्रणव के वाच्यार्थ का [स्मर] स्मरण कर। [क्लिबे] बलप्राप्ति के लिये [स्मर] स्मरण कर [कृतम्] अपने किये हुवे का [स्मर] स्मरण कर ॥ १७ ॥

भावार्थः-जिस समय मनुष्य का आत्मा इस शरीर से प्रयाण करता है, उस समय के लिये मनुष्य के प्रति वेद भगवान् का यह उपदेश है कि—

हे मनुष्य ! तू आत्मा को अमर और शरीर को भस्मान्त समझ कर शोक मत कर किन्तु अपने किये हुवे को स्मरण करता हुवा आत्मिकबल की प्राप्ति के लिये ओ३म् जिसका वाचक है, उस जगदीश्वर का ध्यान कर ॥ १७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

पदार्थः—हे [अग्ने] प्रकाशमय ! [देव] परमात्मन् ! आप [अस्मान्] हमारे [विश्वानि] सम्पूर्ण [वयुनानि] शुभाऽशुभ कर्मों को [विद्वान्] जानते हैं । कृपा कर हम को [राये] इष्टप्राप्ति के लिये [सुपथा] शोभन मार्ग से [नय] चलाइये [अस्मत्] हम से [जुहुराणम्] कुटिल [एनः] पाप को [युयोधि] दूर कीजिये । हम लोग [ते] आप की [भूयिष्ठाम्] बहुत बड़ी [नम-उक्तिम्] नम्रता पूर्वक स्तुति [विधेम] करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि—

हे विज्ञानमय ! अन्तर्यामी होने से आप हमारे समस्त शुभाऽशुभ कर्मों को जानते हैं, जब हमारा मन भी जो क्षण-भर में आकाश और पाताल की खबर लाता है, आप का अतिक्रमण नहीं कर सकता, तब अन्य इन्द्रियों की तो कथा ही क्या है ? अतएव हे नाथ ! हम आप के शासन से किसी दशा में भी बाहर नहीं जा सकते । कृपा करके आप हम को ऐसे शोभनमार्ग से चलाइये कि जिस में चलने से आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीनों प्रकार के दुःखों में से कोई दुःख हम को न सतावे और सारे कुटिल-भाव और पापाचरणों से जो इन दुःखों के मूल हैं, हम को और हम से इन को सर्वदा पृथक् रखिये । इस लिये हम बार बार विनयपूर्वक आपकी स्तुति करते हैं ॥ १८ ॥

* समाप्तेयमुपनिषद् *

ओ३म्

अथ केनोपनिषत् प्रारभ्यते

प्रथमः खण्डः

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचामिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

पदार्थः—[केन] किस से [प्रेषितम्] प्रेरित हुआ [मनः] सङ्कल्पविकल्पात्मक मन [इषितम्] अभीप्सित विषय को [पतति] पहुंचता है ? [केन] किस से [युक्तः] नियोजित हुआ [प्रथमः] शरीरमें फैला हुआ [प्राणः] प्राणवायु [प्रैति] अपना व्यापार करता है ? [केन] किस से [इषिताम्] प्रेरित की हुई [इमाम्] इस [वाचम्] वाणी को [वदन्ति] बोलते हैं ? [कः उ] और कौन [देवः] अधिष्ठाता [चक्षुः श्रोत्रम्] आंख और कान को [युनक्ति] अपने २ काम में युक्त करता है ? ॥ १ ॥

भावार्थः—यह श्रुति प्रश्नात्मक है। इस में यह पूछा गया है कि जो मन आदि इन्द्रियोंको अपने २ कार्य में नियुक्त करता है अर्थात् जिस ने प्रत्येक इन्द्रिय का अर्थ नियत कर दिया है और यह नियम रक्खा है कि आंख से रूप का ही ग्रहण हो, रस का नहीं; वह इन का नियामक अधिष्ठाता कौनहै ? अगली श्रुति में इस का उत्तर दिया गया है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचोह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

पदार्थः—[यत्] जो [श्रोत्रस्य] कान का [श्रोत्रम्] श्रवण शक्ति का नियामक होने से कान, एवं [मनसः] मन का [मनः] प्रेरक होने से मन है, तथा [वाचः] वाणी का [वाचम] ज्ञानका अधिकरण होने से वाक् है, [सः उ] वही [प्राणस्य] प्राण का [प्राणः] जीवनशक्ति देने से प्राण है, [चक्षुः] आंख का [चक्षुः] दर्शनशक्ति देने से चक्षु है, उसको [अतिमुच्य] इन्द्रियादि के बन्धन से पृथक् जान कर [धीराः] धीरपुरुष [अस्मात्] इस लोक से [प्रेत्य] पृथक् होकर [अमृताः] अमर [भवन्ति] होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—यद्यपि ये सब इन्द्रिय उसी की दी हुई शक्ति से अपने २ कार्य को करते हैं; तथापि वह स्वयं इन के बन्धन से पृथक् है । अर्थात् जीवात्मा के सदृश वह देखने के लिये आंख, सुनने के लिये कान और मनन करने के लिये मनकी अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु ये सब अपना २ काम करने में उस की अपेक्षा रखते हैं, इसी लिये वह कान का कान, एवं मन का मन इत्यादि है । अर्थात् उसकी सहायता के बिना ये जड़ इन्द्रिय कुछ भी नहीं कर सकते । ऐसा जो धीरपुरुष उस ब्रह्म को जानते हैं, वे ऐहिक बन्धनों से छूट कर मोक्ष के अधिकारी होते हैं ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्य-
देव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति
शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

पदार्थः (तत्र) उस ब्रह्म में (चक्षुः) आंख (न गच्छति) नहीं जासकती, एवं (वाग्) वाणी (न गच्छति) नहीं

पहुंचती (नो मनः) न मन ही पहुंच सकता है। अतएव हम उसको (न विद्मः) नहीं जानते (न विजानीमः) और न विशेषतः जान सकते हैं, (यथा) जिससे [अनुशिष्यात्] शिष्यादि को उपदेश किया जावे। [तत्] वह ब्रह्म [विदितात्] ज्ञात वस्तु से [अन्यद् एव] और ही है [अथो) अनन्तर [अविदितात्] अज्ञात वस्तु से [अधि] ऊपर है। [इति] इस प्रकार [पूर्वेषाम्] पूर्वाचार्यों के वचन [शुश्रुम] हम सुनते हैं [ये] जो [नः] हमारे प्रति [तत्] उस का [विचचक्षिरे] व्याख्यान कर गये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोक में दिखला चुके हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय के सिवाय दूसरे इन्द्रिय के अर्थ को भी ग्रहण करनेमें असमर्थ है। फिर भला जो वस्तु अतीन्द्रिय है [किसी इन्द्रिय का भी विषय नहीं] उसमें इन की गति क्योंकर हो सकती है ? हम संसार में जो कुछ भी ज्ञान उपलब्ध करते हैं, इन्द्रियों के द्वारा। फिर भला वह परिमित ज्ञान क्योंकर उस असीम और अनन्त ब्रह्म के जानने में पर्याप्त हो सकता है ? कदापि नहीं। यही कारण है कि हम ब्रह्म को विशेष तो क्या सामान्य प्रकार से भी नहीं जान सकते और, जब स्वयं अबोध हैं, तो दूसरों को क्या उपदेश कर सकते हैं ? जो कुछ हमने जाना है, ब्रह्म उस से भिन्न है अर्थात् हमारे जानने के लिये अवशिष्ट है और सदा रहेगा और जो कुछ हम ने नहीं जाना, वह उसके ऊपर है अर्थात् अज्ञात विषय में ब्रह्म प्रधान है। हमारा भावी ज्ञान अन्य अज्ञात विषयों से चाहे बढ़जावे परन्तु ब्रह्म की तो "कलां नार्हन्ति षोडशीम्" सोलहवीं कला को भी नहीं पहुंच सकता। यद्वा वह ब्रह्म इस कार्यरूप जगत् से [जो प्रत्यक्ष होने से विदित है] भिन्न है। एवं कारणरूप

प्रकृति से जो अव्याकृत होने से अविदित है] ऊपर है अर्थात् उसका अधिष्ठाता है। ब्रह्म का ऐसा ही निरूपण पूर्वाचार्यों से हमने सुना है ॥ ३ ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागऽभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

पदार्थः—[यत्] जो [वाचा] वाणीसे [अनभ्युदितम्] प्रकाशित नहीं होता [येन] जिस से [वाग्] वाणी [अभ्युद्यते] प्रकाशित होती है [तद् एव] उस को ही [ब्रह्म] सब से बड़ा [[त्वम्] तू [विद्धि] जान [यत् इदम्] जो इस वाणी से प्रकाशित शब्दादि का [उपासते] सेवन करते हैं [इदम् न] यह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो वाणी ब्रह्म से प्रकाशित हुई है, वह भला उस ब्रह्म को क्योंकर प्रकाशित कर सकती है ? यद्यपि महात्मा लोगों ने ब्रह्म का निरूपण और प्रवचन वाणी के द्वारा ही किया है, तथापि वाणी केवल शब्द और अर्थ का सम्बन्ध जतलाती है, जो ब्रह्मज्ञान के लिये कुछ उपयोगी होता है। परन्तु विना प्रत्यगात्मदृष्टि के [जो ध्यान और समाधि द्वारा प्राप्त होती है] ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होसकता, इसलिये वाणी उसको वर्णन करने में असमर्थ है। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भी इस की पुष्टि की गई है। यथाः—

"शाब्दस्य हि ब्रह्मण एषपन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः। परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्मायामये वासनया शयानः" ॥

(अर्थ) जो लोग शब्द को ही ब्रह्म मानते हैं. उन का यह (पन्थ) तरीक़ा है कि अर्थ शून्य (ज्ञेयवर्ज्जित।) नामों का पाठ मात्र करते हैं। वे इस मायामय संसार में वासना में बन्धे हुवे शब्दों के चक्र में घूमते हैं। ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त नहीं होते ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

पदार्थः-(यत्) जो ब्रह्म (मनसा) मन से (न मनुते) नहीं मनन किया जाता, (येन) जिससे (मनः) मन को (मतम्) ज्ञात वा प्राप्त (आहुः) कहते हैं, (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वम्) तू (विद्धि)जान (यत् इदम्) जो इस मनोगम्य सुखादि की (उपासते) उपासना करते हैं (इदम्, न) वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

भावार्थः-जो मन स्वभाव से ही चञ्चल है, वह निश्चल ब्रह्मको कैसे जानसकता है?"न हि ध्रुवाणि अध्रुवैः प्राप्यन्ते" असार साधनों से सार पदार्थ की प्राप्ति असम्भव हैं। हां मन में जो मननात्मक शक्ति है, उसका नियोजक ब्रह्म अवश्य है। यदि उस की योजना न हो तो जड़ मन कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येनचक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

पदार्थः-(यत्) जिस को (चक्षुषा) आंख से (न पश्यति) नहीं देखता, (येन) जिस से (चक्षूंषि) आंखे (पश्यति) देखती हैं (तद्, एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वम्) तू [विद्धि) जान (यत् इदम्) जो इस चक्षुर्मार्ग

रूप को (उपासते) उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

भावार्थः—आँख से हम रूप को देख सकते हैं। ब्रह्म अरूप है। फिर भला आंखें उसे क्योंकर दिखा सकती हैं? हां यह आंखें स्वयं उस की दी हुई शक्ति से देखने में समर्थ होती हैं। अन्यथा जड़ होने से स्वयं इन में देखने का सामर्थ्य कहां? ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

पदार्थः—(यत्) जिस को (श्रोत्रेण) कानसे (न शृणोति) नहीं सुनता (येन) जिस से (इदम्) यह (श्रोत्रम्) कान (श्रुतम्) सुने गये हैं। (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वम्) तू (विद्धि) जान। (यत् इदम्) जो इस श्रोत्रग्राह्य शब्द का (उपासते) सेवन करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थः—श्रोत्र से हम शब्द को सुन सकते हैं। जो ब्रह्म अशब्द है उस को भला श्रोत्र क्योंकर सुना सकते हैं, हां यह कान उस की दी हुई शक्ति से शब्द को सुनने में समर्थ होते हैं, अन्यथा जड़ होने से स्वयं इन में सुनने का सामर्थ्य कहां? ॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

पदार्थः—(यत्) जो (प्राणेन) प्राण से (न, प्राणिति) चेष्टा नहीं करता (येन) जिससे (प्राणः) प्राण (प्रणीयते) चेष्टा करते हैं। (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वम्)

तू (विद्धि) जान (यत् इदम्) जो इस श्वास प्रश्वास रूप वायु की (उपासते) उपासना करते हैं (इदम् , न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थः-प्राण जो हमारे जीवन का आधार है वह ब्रह्म की ही प्राणात्मिका शक्ति से सम्पन्न होकर चेष्टादि अपना व्यापार करता है । यदि ब्रह्म की शक्ति उस को परिचालक न हो तो जड़ प्राण कुछ भी नहीं कर सकता । अतएव उस शक्ति का (जो इस प्राण को चला रही है) जो आधार है, वही हमारा उपास्य देव है, न कि यह जड़ प्राण जो श्वास और प्रश्वास रूप से आता और जाता है ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं
वेत्थ ब्रह्मणोरूपम् । यदस्य त्वं यदस्य
देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ ९ ॥

पदार्थः-हे शिष्य ! (यदि) जो [त्वम्] तू (अस्य ब्रह्मणः) इस ब्रह्म का (यत्) जो (रूपम्) स्वरूप है उस को (सुवेद) अच्छे प्रकार जानता हूं (इति) ऐसा (मन्यसे) मानता है तो (नूनम्) निश्चय करके (त्वम्) तू [दभ्रम् एव] थोड़ा ही (वेत्थ) जानता है । (अथ) और यदि (नु) निश्चय करके (यत्) जो (अस्य) इस ब्रह्म का (रूपम्) स्वरूप (देवेषु) पृथिव्यादि भूतों तथा चक्षुरादि इन्द्रियों में व्याप्त है, उस को (ते) तेरे लिये (मीमांस्यम् एव) विचार करने योग्य ही (मन्ये) मैं मानता हूं ॥ ९॥

भावार्थः—रूप शब्द यहां चक्षुर्ग्राह्य विषय का वाचक नहीं है, किन्तु वस्तु की सत्ता का बोध कराने वाला है। जैसे ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप कहते हैं। सत्, चित्, आनन्द, इन तीनों में से एक भी चक्षु का विषय नहीं, परन्तु यह तीनों मिलकर ब्रह्म का स्वरूप कहे गये हैं। इसी प्रकार यहां भी रूप शब्द से ब्रह्म की सत्ता वा महिमा अभिधेय है। उस ब्रह्म तत्व को जो केवल [अधिदैवत] जड़ प्रकृति का ही अधिष्ठाता नहीं किन्तु [अध्यात्म] चेतन जीवात्माओं का भी नियन्ता है) जो पुरुष "मैं अच्छे प्रकार जानता हूं" ऐसा मानता है, वह उसे कुछ भी नहीं जान सकता। हां! जो उसे श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य जान कर उसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन में तत्पर होता है, वह उसे जान सकता है ॥ १ ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥१०॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (सुवेद, इति, न, मन्ये) ब्रह्म को अच्छे प्रकार जानता हूं, ऐसा नहीं मानता (न वेद इति) बिलकुल नहीं जानता, ऐसा भी (नो) नहीं मानता (वेद च) जानता भी हूं, पर [नो न वेद इति वेद च] नहीं जानता वा जानता हूं, ऐसा नहीं मानता (यः) जो पुरुष (नः) हममें से (तद्, वेद) ऐसा जानता है। (तद्, वेद) वही उसको जानता है ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य जिस विषय को अच्छे प्रकार जान लेता है, उसमें फिर उसकी जिज्ञासा नहीं रहती और जिस विषय को बिलकुल नहीं जानता, उसमें भी जिज्ञासा नहीं होती।

जब कुछ जानता है और कुछ नहीं जानता, तब उसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है। दृष्टान्त के लिए त्रैराशिक के एक प्रश्न को ले लीजिये–जिसमें दो राशि दीगई हैं और तीसरी राशि पूछी गई है। जिसको गणित के द्वारा तीसरी राशि ज्ञात होगई, उसकी क्रिया की समाप्ति होगई और जिसको पहिली दो राशि भी ज्ञात नहीं हैं, उसकी क्रिया का अभी आरम्भ भी नहीं हुआ और जिसको दो राशि का तो ज्ञान है परन्तु तीसरी अविदित है, वह उसके जानने के लिये यथाशक्य परिश्रम करता है। जब हम किसी पदार्थ के विषय में यह समझ लेते हैं कि हमें उसका पूर्ण ज्ञान होगया तब हमारी उसके प्रति जिज्ञासा नहीं रहती और जिज्ञासा के अभाव में हम उसके विशेष ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। इसी प्रकार उसके विषय में कुछ न जानना भी तद्विषयक हमारी प्रवृत्ति का विघातक है। इससे सिद्ध है कि किसी विषय का सामान्य ज्ञान ही हमें उसके विशेष ज्ञान के लिये प्रवृत्त करता है। जब सांसारिक सान्त पदार्थों के विषय में भी हमारा ऐसा अभिमान या ज्ञान उनके विशेष ज्ञान का बाधक होता है तब उस असीम और अनन्त ब्रह्म को (जिसके विषयमें बड़े२योगी, तपस्वी, ध्यानशील, महर्षिगण भी नेति २ कहते आये हैं) ऐसा समझना कहां तक ठीक होसकता है? इसको सुधी पाठक विचारेंगे ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ३॥११

पदार्थः–(यस्य) जिसका (अमतम्) कुछ मत नहीं अर्थात् मन निर्विकल्प है (तस्य) उसका (मतम्) ब्रह्म जाना हुवा है और (यस्य) जिसका (मतम्) मत है अर्थात् मनः संकल्प

विकल्प की तरङ्गों में घूम रहा है (सः) वह (न वेद) ब्रह्मको नहीं जानता। वह ब्रह्म (विजानताम्) जानने वालों को (अविज्ञातम्) अविज्ञात है (अविजानताम्) न जानने वालों को (विज्ञातम्) विज्ञात है ॥ ३ ॥

भावार्थः–" मनसा यदवधार्यते तन्मतम् " जो मन से अवधारण किया जाय, उसको मत कहते हैं। मन भौतिक एवं एकदेशीय होने से अपने समान ही प्राकृतिक और परिच्छिन्न पदार्थों का ग्रहण कर सकता है, ब्रह्म विभु और अनन्त है, फिर भला वह उसका अवधारण कैसे कर सकता है ? इस लिये जो पुरुष ब्रह्म को मन से अनवधारित मानता है, वही उसको जानता है। जब तक मनुष्य के मनमें सङ्कल्प विकल्प की तरङ्गें उठती हैं, तब तक वह मत के आवर्त में घूमता है। इस अनवस्थित दशा में वह ब्रह्म को नहीं जान सकता। हाँ जब इसका मन बाह्य विषयों से उपरत होकर अन्तरात्मा में लीन होजाता है, तब इसकी सारी मानसिक कल्पनायें (जिनको यह अपना मत समझता है) शिथिल एवं शान्त होजाती हैं। उस समय आत्मिक ज्योति का प्रकाश होता है, जिसमें यह केवल ब्रह्म को देखता है। जिस पुरुषको यह अभिमान है कि " मैं ब्रह्म को जानता हूं " वह उसे कुछ भी नहीं जानता। क्योंकि जो जिस विषय को जितना कम जानता है, उतना ही अधिक वह उस विषय का अपने को ज्ञाता समझता है राजर्षिप्रवर भर्तृहरिजी क्या ठीक कहतेहैं।

"यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
स्तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वरइव मदोमे व्यपगतः" ॥

अर्थ-जब मैं कुछ जानता था, हस्ती के समान मदान्ध था और अपने को सर्वज्ञ समझता था, जब कुछ कुछ विद्वानों से मैंने सीखा तब " मैं मूर्ख हूं " यह निश्चय होगया और वह सारा मद ज्वर के समान उतर गया। जब सांसारिक विषयों का विशेष ज्ञान हमको निरभिमान बना देता है, तब ब्रह्मज्ञान का (जिसकी कोई सीमा नहीं) अभिमान करने वाले कहां तक उसको जान सकते हैं ? ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥१२

पदार्थः-(प्रतिबोधविदितम्) इन्द्रियों से जो विषयों का ज्ञान होता है उसे बोध कहते हैं और इन्द्रियों को विषयों से रोककर आत्मा में बुद्धि की वृत्तियों को लगाने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रतिबोध कहते हैं। उस प्रतिबोध से जाना हुआ (मतम्) जो आत्मतत्त्व है, उससे (हि) निश्चय करके (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विन्दते) प्राप्त होता है। (आत्मना) आत्मा से (वीर्यम्) बल को (विन्दते) प्राप्त होता है। (विद्यया) विद्या से [अमृतम्] मोक्ष को [विन्दते] पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-पूर्वार्द्ध का आशय स्पष्ट है। उत्तरार्द्ध में दो बातें कही गई हैं। एक आत्मा से बल की प्राप्ति। दूसरी विद्या से मोक्ष की प्राप्ति। जब तक मनुष्य को अपने आत्मा का ज्ञान नहीं होता वह सांसारिक बल से सम्पन्न भी अपने को महा-निर्बल समझता है। निर्बल कौन है ? जिसको भय है। शत्रु से वह डरता है, रोग उसे चैन नहीं लेने देते, बुढ़ापा अलग अपनी भयङ्कर सूरत दिखा रहा है और मृत्यु का तो नाम ही सुनकर कांपने लगता है। उधर ज्ञातिभय, वित्तभय, मानभय

स्त्रीभय आदि अलग अलग उस पर आक्रमण कर रहे हैं। भला जो पुरुष चारों ओर से इस प्रकार भयाक्रान्त हो, वह कभी अपने को बलवान् बना सकता है ? जब तक मनुष्य को अपने आत्मा का ज्ञान नहीं होता तभी तक यह सम्पूर्ण भय अपना अपना प्रभाव दिखाते हैं। आत्मज्ञान के होते ही यह सारे भय ऐसे विलीन हो जाते हैं, जैसे सूर्य के निकलते ही अन्धकार। उस समय मनुष्य को वह महान् बल प्राप्त होता है, जिसके सामने संसार के सारे शोक मोह परास्त होजाते हैं।

अब रही विद्या से मोक्ष की प्राप्ति, महर्षि गौतम अपने न्यायदर्शन में लिखते हैं। यथाः—" दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" अर्थ— दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इन पांचों के उत्तरोत्तर क्षीण होने से अनन्तर जो दुःख है, उसके अभाव से मोक्ष होता है। उस दुःख का कारण जन्म है, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोष का कारण मिथ्याज्ञान है। बस मोक्ष के लिये सब से पहिले मिथ्याज्ञान के दूर करने की आवश्यकता है, जो कि बन्ध का अनन्य कारण है इस में किसी को भी सन्देह नहीं होसक्ता कि मिथ्याज्ञान की ओषधि केवल यथार्थ ज्ञान है, जो कि विद्या का पर्याय होने से दूसरा नाम है। इस से सिद्ध है कि विद्या ही मोक्ष की देने वाली है ? ॥ ४ ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥ १३ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इह) यहां पर (अवेदीत्) जाना गया तब तो (सत्यम्) अमृत (अस्ति) है (अथ) और (चेत्) यदि (इह) यहां पर (न) नहीं (अवेदीत्) जाना गया तो (महती) बड़ी (विनष्टिः) हानि है। (धीराः) धीर लोग (भूतेषु भूतेषु) चराचर जगत् में (विचिन्त्य) विचार कर (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-सत्य उसको कहते हैं जो सर्वत्र और सर्वकालमें एकरस रहता है। अर्थात् जिसमें देश और काल के भेद से कोई विकार या परिणाम नहीं होसकता। ऐसा केवल आत्मा है, तद्विरुद्ध सारा जगत् विनाश धर्म वाला होने से असत्य है अर्थात् देश और काल के भेद से विकारी और परिणामी होता रहता है। इस विनश्वर जगत् में जिनको आत्मा का यथार्थ ज्ञान है, वह शरीरादि के विनष्ट होने पर भी आत्मा की सत्यता में सन्देह नहीं करते, किन्तु विनाश से (जो जगत् का धर्म है) उसको पृथक् जानते हैं। विपरीत इसके जो आत्मतत्त्व को नहीं जानते, वह शरीरादि के नाश में अपनी ही विनष्टि समझ लेते हैं। अतएव धीर लोग सम्पूर्ण पदार्थों में आत्मा को ही सत्य समझ कर और उसके प्रभाव से प्राकृतिक बन्धनों को तोड़कर अमृत हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

--:०:--

अथ तृतीयः खण्डः ।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥१४॥

पदार्थः—(ह) निस्सन्देह (ब्रह्म) परमात्मा (देवेभ्यः) अग्न्यादि देवताओं से (विजिग्ये) जीत गया। (तस्य ब्रह्मणः) उस ब्रह्म के (विजये) जीत जाने पर (देवाः) उक्त देव (अमहीयन्त) बढ़ने लगे, (ते) वे देव (अस्माकम्) हमारी ही (अयम्) यह (विजयः) जीत है, (अस्माकम् एव) हमारा ही (अयम्) यह (महिमा) महत्व है (इति) ऐसा (ऐक्षन्त) मानने लगे ॥ १ ॥

भावार्थः—कारणरूप अग्न्यादि भूत और उसके कार्यरूप चक्षुरादि इन्द्रिय देवसंज्ञक हैं। यह सब जड़ होने पर भी ब्रह्म की दी हुई शक्ति (सहायता) से अपना २ काम कर रहे हैं। कभी २ इनको अभिमान उत्पन्न हो जाता है कि हम स्वतन्त्र हैं। हम ही संसार के सब कार्य सिद्ध करते हैं। इस लिये यह सब हमारी ही महिमा है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्योह प्रादुर्बभूव।
तन्न व्यजानन्त, किमिदं यक्षमिति ॥२॥१५॥

पदार्थः—[तत्] वह ब्रह्म [एषाम्] इनके विचेष्टित को [विजज्ञौ] जान गया [ह] निश्चय [तेभ्यः] उन्हीं में से [प्रादुर्बभूव] प्रकट हुआ। उन्होंने [इदम्] यह [यक्षम्] प्रकाशपुञ्ज [किम्] कौन है? [इति] इस प्रकार [तत्] उसको [न व्यजानन्त] नहीं जाना ॥ २ ॥

भावार्थः—ब्रह्म उनका अभिमान दूर करने के लिये यक्षरूप से प्रकट हुआ, अर्थात् एक प्रकाश उत्पन्न हुआ, जिसको वे न जान सके कि यह क्या है? यक्ष शब्द का अर्थ पूजनीयतम है ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवन्, जातवेद ! एतद्विजानीहि,
किमेतद्यक्षमिति, तथेति ॥ ३ ॥ १६ ॥

पदार्थः-[ते] वे सब देवता [अग्निम्] अग्नि से [अब्रुवन्] बोले कि [जातवेदः] हे अग्ने ! [एतत्] यह [यक्षम्] यक्ष [किम् इति] कौन है ? [एतत्] इसको [विजानीहि] जान । अग्नि ने कहा कि [तथेति] बहुत अच्छा ॥ ३ ॥

भावार्थः-वे सब देवता उस प्रकाश को देखकर चकित हुये, सब ने मिलकर अग्नि से प्रार्थना की कि तू इस को जान कि यह क्या है ? ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥४॥१७

पदार्थः-अग्नि [तत्] उस यक्ष के [अभ्यद्रवत्] सामने गया, [तम्] उस अग्नि से [अभ्यवदत्] यक्ष ने कहा [कोऽसीति] तू कौन है ? [अब्रवीत्] अग्नि ने कहा— [अग्निः अहम् अस्मि इति] कि मैं अग्नि हूँ [जातवेदाः वै अहम् अस्मि इति] कि मैं जातवेदा हूं ॥ ४ ॥

भावार्थः—यक्ष ने जब अग्नि से पूछा कि तू कौन है ? तब उसने साभिमान कहा कि मैं अग्नि हूं, मैं जातवेदा हूं अर्थात् मुझ से ही यह ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है । यदि मैं न हूं तो जगत् अन्धकारमय होजावे । फिर किसी को किसी पदार्थ का ज्ञान ही न हो ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयम् । यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥ १८ ॥

पदार्थः—[तस्मिन् त्वयि] उस तुझ में [किम्] क्या [वीर्यमिति] पराक्रम है? [यत् इदम्] जो कुछ यह [पृथिव्याम्] पृथिवी में है [अपि] निस्सन्देह [इदम् सर्वम्] इस सबको [दहेयम्] जला सकता हूं [इति] मुझ में यह सामर्थ्य है ॥ ५ ॥

भावार्थः—तब यक्ष ने अग्नि से कहा कि उस तुझ में क्या बल है? अग्नि ने कहा कि यह जो कुछ पृथ्वी में है, इस सब को जला सकता हूं।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥ १६ ॥

पदार्थः—[तस्मै] उस अग्नि के लिये यक्ष ने [तृणम्] एक तिनका [निदधौ] धर दिया और कहा कि [एतत्] इस को [दह इति] जलादे । अग्नि [सर्वजवेन] सारे वेग से [तत्] उस तृण के [उपप्रेयाय] समीप पहुंचा परन्तु [तत्] उसका [दग्धुम्] जलाने को [न शशाक] समर्थ न हुआ । [सः] वह अग्नि [तत एव] उस कर्म से ही [निववृते] निवृत्त हुआ और अन्य देवों से कहने लगा कि [यत् एतत् यक्षमिति] जो यह यक्ष है [एतत्] इसके [विज्ञातुम्] जानने को [न अशकम्] मैं समर्थ नहीं हुआ ॥ ६ ॥

भावार्थः—जब अग्नि से वह तृण नहीं जलाया गया, तब लज्जित होकर कहता है कि मैं इसके जानने में असमर्थ हूं अर्थात् इसके सामने तृण को भी जलाने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है ॥

उक्त संवाद का तात्पर्य यही है कि अग्नि में जो जलाने की शक्ति है वह उसी ब्रह्म की योजना से है । उसकी सत्ता के बिना यह जड़ होने से कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि । किमेत-द्यक्षमिति ॥ ७ ॥ २० ॥

पदार्थः-[अथ] इसके अनन्तर वे सब देव [वायुम्] वायु से [अब्रुवन्] बोले- [वायो] हे वायु ! तू [एतत्] यह [यक्षम्] यक्ष [किम् इति] कौन है ? [एतत्] इसको [विजानीहि] ज्ञात कर ॥ ७ ॥

भावार्थः—जब अग्नि हार कर बैठ रहा, तब सब देवताओं ने वायु को अग्नि से अधिक बलिष्ठ समझ प्रेरित किया ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहम-स्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥ २१ ॥

पदार्थः- वायु (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सामने गया (तम्) उस वायु से (अभ्यवदत्) यक्ष ने कहा कि (कः असीति) तू कौन है ? (अब्रवीत्) वायु बोला कि (अहम्) मैं (वायुः) वेगशील (अस्मीति) हूँ । (अहम्) मैं (मातरिश्वा) अन्तरिक्षगामी (अस्मीति) हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थः—वायु ने भी यक्ष के पूछने पर साभिमान कहा कि मैं अत्यन्त वेगवान् होने से वायु हूँ और अन्तरिक्ष में विचरने से मातरिश्वा हूँ ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाद-दीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥ २२ ॥

पदार्थः-(तस्मिन् त्वयि) उस तुझ में (किम्) क्या (वीर्यम्) बल है ? (यत् इदम्) जो कुछ यह (पृथिव्याम्) पृथिवी में है (अपि) निश्चय (इदम् सर्वम्) इस सब को (आददीयम्) उड़ा सकता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थः-तब यक्ष ने वायु से कहा कि उस तुझ में क्या बल है ? वायु ने कहा-यह जो कुछ पृथिवी में है, इस सबको मैं उड़ा सकता हूँ ॥ ६ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१०॥२३॥

पदार्थः-[तस्मै] उस वायु के लिये यक्ष ने [तृणम्] एक तिनका [निदधौ] धर दिया और कहा कि [एतत्] इसको [आदत्स्व, इति] उठा दे वा उड़ादे । वायु [सर्व जवेन] सारे वेग से [तत्] उस तृण के [उपप्रेयाय] समीप पहुंचा परन्तु [तत्] उसको [आदातुम्] उठाने को [न शशाक] समर्थ न हुआ। [सः] वह वायु [तत एव] उस कर्म से ही [निववृते] निवृत्त हुआ और अन्य देवों से कहने लगा कि [यत्, एतत्, यक्षमिति] जो यह यक्ष है [एतत्] इसके [विज्ञातुम] जानने को [न अशकम्] मैं समर्थ नहीं

भावार्थः-जब वायु से वह तृण नहीं उठाया गया, तब लज्जित होकर कहता है कि मैं इसके जानने में असमर्थ हूं अर्थात् इसके सामने तृण को भी उठाने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति, तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥११॥२४॥

पदार्थः-[अथ] इसके अनन्तर वे सब देव [इन्द्रम्] सूर्य वा जीवात्मा से (अब्रुवन्] बोले-हे [मघवन्] सूर्य ! वा जीवात्मन् ! तू [एतत्, यक्षम्, किमिति] यह यक्ष कौन है! [एतत्] इसको [विजानीहि] जान ; इन्द्र [तथेति]

तथास्तु कहकर [तद्] उस ब्रह्म के [अभ्यद्रवत्] सम्मुख गया [तस्मात्] उस इन्द्र से [तिरोदधे] वह अन्तर्धान होगया ॥ ११ ॥

भावार्थः-"इरामन्नं ददाति दधातीति वेन्द्रः" 'इरा' नाम अन्न का है, उसको जो देवे वा धारण करे, उस को इन्द्र कहते हैं, सो ऐसा सूर्य है। तथा इन्द्र नाम जीवात्मा का भी है। इसी इन्द्र शब्द से "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" इस पाणिनीयसूत्रानुसार इन्द्रियशब्द निष्पन्न होता है। यथा-"इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्" इन्द्र जीवात्मा के चिह्न वा साधन को इन्द्रिय कहते हैं। जब कारणरूप से अग्नि और कार्यरूप से चक्षु और त्वगिन्द्रिय उस यक्षरूप तेजः पुञ्ज को न जान सके, तब सब देवताओं ने मिलकर सूर्य वा जीवात्मा से कहा कि तू इस को जान। इन्द्र तथास्तु कहकर उस तेजः पुञ्ज यक्ष के पास गया, परन्तु उस की परीक्षा लेने के लिये कि वह क्या उपाय करता है ? वह तेज अन्तर्हित होगया ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तांꣳ होवाच किमेतद्यक्षमिति १२।२५

पदार्थः-(सः) वह इन्द्र (तस्मिन्, एव, आकाशे) उस ही हृदयमन्दिर में (बहुशोभमानाम्) बड़ी शोभा वाली (हैमवतीम्) प्रकाशयुक्त (उमाम्) उमा नाम्नी [स्त्रियम्] स्त्री के समीप [आजगाम] आया। [ह] स्पष्ट रीति पर [ताम्] उस से [उवाच] बोला कि [एतत्, यक्षम्, किमिति] यह यक्ष कौन है ? ॥ १२ ॥

भावार्थः-जीवात्मा ने जब ब्रह्म का प्रकाश नहीं देखा, किन्तु अपने को अविद्यान्धकार में प [illegible], तब वह उस बुद्धि

की शरण में पहुंचा; जो उमा नाम्नी ब्रह्मविद्या से उत्पन्न होती है। जिसके प्रकाश होते ही हृदय का सारा अन्धकार विलीन हो जाता है और जिसकी सहायता के विना यह मन आदि साधनों के होते हुवे भी ब्रह्म को नहीं जान सकता। जैसे कि सूर्य या अग्नि की सहायता के विना चक्षुरादि इन्द्रियों के होते हुवे भी कुछ नहीं देख सकता। जीवात्मा उस बुद्धि के पास जाकर उससे पूछता है कि यह यक्ष कौन है१२

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ।

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणोवा एतद्विजये महीयध्वमिति । ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति १।२६

पदार्थः-(सा) वह उमानाम्नी बुद्धि (ब्रह्म, इति) ब्रह्म है, यह (ह) प्रसिद्ध (उवाच) बोली-(वै) निश्चय ब्रह्मणः) ब्रह्म की (एतत्) इस (विजये) जीत में(महीयध्वम्) महत्त्व को प्राप्त होओ। (ततः) उस बुद्धि के उपदेश से जीवात्मा ने ब्रह्म को (विदाञ्चकार) जाना ॥ १ ॥

भावार्थः-उस बुद्धि के द्वारा जीवात्मा ने उस यक्ष को (जिसको अग्नि और वायु न जान सके थे) पहचान कर देवताओं से कहा कि यही ब्रह्म है, इसी के महत्त्व में तुम्हारी महिमा है, अर्थात् इसी की दी हुई शक्ति से तुम सब अपना अपना काम करते हो। बस यह समझ कर अभिमान त्याग दो और इसी की बड़ाई में अपनी बड़ाई समझो ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥२७॥

पदार्थः–(यत्) जो अग्निर्वायुरिन्द्रः) अग्नि, वायु और सूर्य अथवा चक्षु, त्वक् और जीवात्मा (ते) यह तीन (एनत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अत्यन्त समीप (पस्पर्शुः) स्पर्श करने वाले हुवे (हि) निश्चय (ते) उक्त तीनों ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः) सबसे पहले (ब्रह्म इति) 'ब्रह्म है' ऐसा (विदाञ्चकार) जाना (तस्मात्) इस कारण (एते देवाः) यह तीनों देव (अन्यान् देवान्) अन्य देवों का उलङ्घन कर (अतितराम् इव) प्रशस्त हुवे ॥ २ ॥

भावार्थः–आधिदैविक देवों में अग्नि, वायु और सूर्य और आध्यात्मिक देवों में, चक्षु, त्वक् और जीवात्मा इसीलिये श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ माने जाते हैं कि इनके द्वारा ब्रह्म की महिमा का जिज्ञासु पुरुषों को विशेष परिचय मिलता है ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥ २८ ॥

पदार्थः–(यस्मात्) जिस कारण (इन्द्रः) सूर्य वा जीवात्मा (एनत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अति समीप (पस्पर्श) स्पर्श करने वाला हुवा (सः हि) और उस ही ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः) सबसे पहले (विदाञ्चकार) जाना (तस्मात्) इस कारण (सः) वह इन्द्र (अन्यान् देवान्) अन्य देवों को अतिक्रमण कर, (अतितराम् इव) प्रशस्त हुवा ॥ ३ ॥

भावार्थः-आधिदैविक त्रिक में भी सूर्य इस लिये प्रशस्त माना गया है कि वह इस जगत् में ब्रह्म के महत्त्व का सब से बड़ा निदर्शन (नमूना) है। इसी प्रकार आध्यात्मिक त्रिक में जीवात्मा इसलिये उत्कृष्ट माना गया है कि इस संसार में ब्रह्मज्ञान का एकमात्र अधिकरण वही है ॥ ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥ २९ ॥

पदार्थः-(तस्य) उस ब्रह्म का (एषः) यह (आदेशः) अलङ्कारयुक्त उपदेश है (यत्) जो (एतत्) यह (विद्युतः) बिजली के (आ) समान (व्यद्युतत्) कभी चमक जाता है, और कभी छिप जाता है। (इति) तथा (आन्यमीमिषद्) नेत्र के समान खुलता वा बन्द होजाता है (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवता विषयक ब्रह्म का उपाख्यान है ॥ ४ ॥

भावार्थः-पूर्व खण्ड में जो ब्रह्म का यक्ष रूप से औपचारिक वर्णन किया गया है, वह बिजली अथवा निमेष के समान है, जो कभी प्रादुर्भूत और कभी तिरोभूत होजाते हैं और इसी को अधिदैवत कहते हैं ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मं, यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ५ ॥ ३० ॥

पदार्थ-(अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म कहते हैं, (यत्) जो (एतत्) इस ब्रह्म के प्रति (मनः) मन (गच्छति, इव) चलता हुआ सा जान पड़ता है (च) और (अनेन) इस मन से उत्थित (सङ्कल्पः) सङ्कल्प (अभीक्ष्णम्) बारंबार (एतत्) इस ब्रह्म का (उपस्मरति) स्मरण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य अपनी बाह्य वृत्तियों को रोक कर अन्तरात्मा में लीन कर देता है और उस मन को (जिसको शम दमादि साधनों से चञ्चलता नष्ट करदी गई है । केवल ब्रह्म के ही चिन्तन और स्मरण में लगा देता है, तब वह प्रत्यगात्मदर्शी कहलाता है और इसीको अध्यात्म कहते हैं॥५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥६॥

पदार्थः—(तत् ह) वह ब्रह्म (तद्वनम्) योगिजनसेव्य होने से (नाम) प्रसिद्ध (तद्वनम्) तद्वन कहलाता है (तत्) वह (इति) इस प्रकार (उपासितव्यम्) उपासनीय है (सः यः) सो जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है(एनम्) उसको (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अभि संवाञ्छन्ति) चाहना करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य, ऋषि, देव, इन सबका केवल ब्रह्म ही उपास्य है जो लोग अनन्यभाव से उसकी उपासना करते हैं, वे जगत् में सबके माननीय और कमनीय होते हैं ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७-३२ ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! तुमने कहा था कि (भोः) आचार्य ! (उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि इति) कहिए (लो) (ते) तेरे लिए (उपनिषद्) ब्रह्मविद्या (उक्ता) कही गई (वाव) निश्चय (ते) तेरे प्रति (ब्राह्मीम् उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या सम्बन्धिनी उपनिषद् को (अब्रूम) हमने कह दिया ॥ ७ ॥

भावार्थः—शिष्य ने आचार्य से यह प्रश्न किया था कि ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए, उसके उत्तर में आचार्य कहते,

हैं कि तुम्हारी जिज्ञासानुसार ब्रह्मविद्या सम्यक् कहदीगई। अब क्या चाहते हो॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥ ३३ ॥

पदार्थः-(तस्यै) उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये (तपः) द्वन्द्वसहिष्णुता (दमः) मन का निग्रह (कर्म) वैदिक कर्मानुष्ठान (इति) यह तीन मुख्य साधनहैं और इन्हीं में (वेदाः) चारों वेद (सर्वाङ्गानि) छहों अङ्ग, इनके (आयतनम्) मूल (सत्यम्) सत्य की भी (प्रतिष्ठा] स्थिति है॥ ८ ॥

भावार्थ-ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए तप, दम और कर्म यह तीन मुख्य साधन हैं। अन्य स्वाध्यायादि इनके उपयोगी होने से तटस्थ साधन हैं॥ ८॥

योवाएतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमनन्ते
स्वर्गेलोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति६-३४

पदार्थ-(यः) जो पुरुष (वै) निश्चय कर (एताम्) इस ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, वह (पाप्मानम्) चिरकाल से सञ्चित पापवासनाओं को (अपहत्य) नष्ट कर (अनन्ते) जिसका अन्त नहीं ऐसे (ज्येये) सबसे बड़े (स्वर्गे, लोके) आनन्दमय पद में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होना है॥ ६ ॥

भावार्थ-जो पुरुष इस ब्रह्मविद्या को जानता है अर्थात् उक्त साधनों के अनुष्ठान से जिसकी वृत्ति ब्रह्म में लीन होगई है; वह दीर्घकाल सञ्चित पापमय वासनाओं को छिन्नभिन्न करके ब्रह्म के अनामय पद में प्रतिष्ठित होता है। द्विर्वचन यहां पर ग्रन्थसमाप्ति का द्योतक है॥६॥इति चतुर्थः खण्डः॥४॥

समाप्तेयमुपनिषद्

* ओ३म् *

अथ कठोपनिषत् प्रारभ्यते ।

तत्र प्रथमा वल्ली ।

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

पदार्थः-(ह, वै) सुना जाता है कि (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र ने (उशन्) फल की कामना करते हुवे (सर्ववेदसम्) सर्वस्व को (ददौ) दान किया । (तस्य) उस वाजश्रवस का (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता नाम) नचिकेता नाम वाला (पुत्रः) बेटा (आस) था ॥ १ ॥

भावार्थः-वाजश्रवा नामक एक ऋषि था और यह नाम उसका इसलिये हुआ कि वह अन्न और विज्ञान के (जो वाज शब्द के वाच्यार्थ हैं) दान करने से प्रख्यात-कीर्त्ति था । उसने फल की कामना से सर्ववेदस् नाम यज्ञ किया (जो संन्यास धारण करने के समय किया जाता है) और उसमें सर्वस्व को सुपात्रों के लिये दान किया । उसका एक पुत्र था, जिसका नाम नचिकेता था ॥ १ ॥

तꣳ ह कुमारꣳ ह सन्तं दक्षिणासु-
नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

पदार्थः-(कुमारम् सन्तम् ह) बालक होनेपर भी (तम् ह) उस नचिकेता को (दक्षिणासु) दान किये हुवे पदार्थों के (नीयमानासु) यथायोग्य विभाग करते समय (श्रद्धा)

आस्तिकी बुद्धि (आविवेश) प्रविष्ट हुई [सः] वह [अमन्यत] सोचता था कि ॥ २ ॥

भावार्थः- यज्ञ में जब ऋत्विजों को वाजश्रवस् यथायोग्य दान का विभाग कर रहा था, उस समय नचिकेता को [यद्यपि अभी वह कुमार ही था तथापि पिता के उपदेश और ज्ञानियों के संसर्ग से सत्कर्मों में उसकी निष्ठा उत्पन्न हो गई थी] यह ध्यान आया ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

पदार्थः-जो गायें (पीतोदकाः) जल पी चुकी हैं [जग्धतृणाः] तृण भक्षण कर चुकी हैं [दुग्धदोहाः] दूध जिन का दुहा जा चुका है [निरिन्द्रियाः]सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ होगई हैं, (ताः) उन को जो [ददत्] दान करता है [सः] वह [अनन्दा नाम ते लोकाः] आनन्द रहित जो लोक हैं [तान्] उन को [गच्छति] जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-जो पहिले खा पी चुकीं और दूध भी दे चुकीं अब बुड्ढी हो जाने से न तो खा पी सकतीं हैं और न दूध ही दे सकती हैं एवं सन्तान उत्पन्न करने में भी असमर्थ हो गई हैं, ऐसी गायों को दान करने से दाता को अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है । फिर मेरा पिता क्यों ऐसी गौओं को दान कर रहा है ? मैं उस को जहां तक हो सकेगा, इस अनिष्टापत्ति से निवृत्त करूंगा । चाहे इस में मेरा शरीर भी लग जावे । यह सोच कर वह पिता के समीप जाकर बोला---॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति, द्वितीयं तृतीयम् । तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

पदार्थः–[सःह] वह नचिकेता [पितरम्] पिता से [उवाच] बोला [तत] हे तात ! [माम्] मुझ को [कस्मै] किस के लिये [दास्यसि] दोगे ? पिता ने बालक समझ कर उपेक्षा की, तब उसने [द्वितीयम्] दोबारा [तृतीयम्] तिबारा उक्त वाक्य कहा कि मुझे किस के लिये दोगे ? तब पिता क्रुद्ध होकर [तम्] उस से [उवाच] बोला कि [मृत्यवे] मौत के लिये [त्वा] तुझ को [ददामि इति] दूंगा ।४।

भावार्थः–नचिकेता ने पिता से कहा कि आपने सर्ववेदस् [जिस में सब कुछ दान कर दिया जाता है] यज्ञ किया है और इसी लिये आप सब कुछ दान कर चुके हैं। अब एक मैं शेष रहा हूं, सो आप मुझे किस के लिये दोगे ? पिता ने बालक समझ कर उपेक्षा की। तब उस ने पुनः पुनः अनुरोध पूर्वक कहा कि मुझ को किस के लिये दोगे ? तब पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि तुझे मौत के लिये दूंगा ॥ ४ ॥ नचिकेता ने असंकोच पिता से कहा कि-

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किंस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्यकरिष्यति ॥५॥

पदार्थः–[बहूनाम्] बहुत से शिष्यों में मैं [प्रथमः] मुख्य [एमि] समझा जाता हूं । [बहूनाम] बहुतसों में [मध्यमः] मध्यम [एमि] माना जाता हूं [यमस्य] मृत्यु का [किंस्वित्] क्या [कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है [यत्] जो [मया] मुझ से [अद्य] आज [करिष्यति] करावेगा ॥ ५ ॥

भावार्थः–पिता की यह क्रूर आज्ञा सुनकर नचिकेता कहने लगा कि मैं बहुत से शिष्यों में मुख्य और बहुत सों

मैं मध्यम हूं, किन्तु किन्हीं की अपेक्षा निकृष्ट नहीं हूं फिर मौत का क्या काम अटका पड़ा है, जो वह आज मुझ से करावेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६॥

पिता ने उत्तर दिया कि [यथा] जैसे [[पूर्वे] पहिले लोग मृत्यु को प्राप्त हुवे हैं उसको [अनुपश्य] पीछे देखकर [तथा ऐसे ही [परे] अगले लोगों की गति को [प्रतिपश्य] आगे देखकर कि [मर्त्यः] प्राणी [सस्यम् इव] यवादि के सदृश [पच्यते] जीर्ण होकर मरता है [पुनः] फिर [सस्यम् इव] धान्य के ही सदृश [आजायते] उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-वाजश्रवस नचिकेता से कहता है कि हे पुत्र ! पिछले तथा अगले लोगों की गति (परिणाम) को देख क्यों कि यह संसार अनित्य है । इस में जैसा अन्न क्षेत्र में पककर वृक्ष से अलग हो जाता है, ऐसे ही प्राणी वृद्ध एवं जीर्ण होकर चोला छोड़ देता है और जैसे फिर बीज क्षेत्र में पड़ कर उत्पन्न होता है, ऐसे ही गर्भाशय में आकर यह भी जन्म धारण करता है । इस लिये तू इस अनित्य शरीर का मोह मत कर क्योंकि इस के नाश के पश्चात् दूसरा देह अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ७।

पदार्थः-हे(वैवस्वत!) विवस्वान् के पुत्र! आपके(गृहान्) घरों में (वैश्वानरः) अग्नि के समान तेजस्वी (ब्राह्मणः) विद्या और तप से युक्त (अतिथिः) अभ्यागत (प्रविशति)

आया हुआ है, (तस्य) ऐसे ब्रह्मचारी को [सज्जन धर्मात्मा लोग] (एताम्) इस सत्कार पूर्वक (शान्तिम्) प्रसन्नता को [कुर्वन्ति] करते हैं, [अतः आप पाद्यादि के लिये] [उदकम्] जलादि को [हर] प्राप्त कीजिये ॥ ७ ॥

भावार्थः-इसप्रकार पिताके वाक्यको सुनकर नचिकेता मृत्यु के द्वार पर पहुंचा. मृत्यु घर पर न था. उसके सेवकों के आतिथ्यको उसने स्वीकार नहींकिया, तीन दिनतक अनाहार पड़ा रहा, तीसरे दिन जब यम आया; तब उस के सेवकों ने उस से कहा कि हे वैवस्वत ! * आप के घर में अग्नि के समान तेजस्वी,, वर्चस्वी, ब्रह्मचारी अतिथिरूप से आया है। उस के आतिथ्य के लिये आप जलादि का आहरण कीजिये, क्योंकि सज्जन पुरुष अतिथि सत्कार को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳसूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् । एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्या-नश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

पदार्थः-(यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के [गृहे] घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् अतिथि (अनश्नन्) निराहार [वसति] रहता है [तस्य अल्पमेधसः] उस अल्पबुद्धि के [आशाप्रतीक्षे] ज्ञात वस्तु की चाहना आशा और अज्ञात वस्तु की कामना प्रतीक्षा कहलाती है-इन दोनों. (सङ्गतम्) सत्सङ्गति से होने वाले फल, [सूनृताम्] प्रिय वाणी [च] उस की निमित्त

* विवस्वान् नाम सूर्य का है; उस का पुत्र मृत्यु को इस लिये कहा कि सूर्य ही अपने उदयास्त से आयु का आदान करता है और इसीलिये उस को आदित्य भी कहते हैं ॥

दयाआदि, [इष्टा पूर्ते] यज्ञादि श्रौत कर्म के फल को इष्ट और अनाथरक्षणादि स्मार्त कर्म के फल को पूर्त कहते हैं, इन दोनों को भी [च] और [सर्वान्] सब [पुत्र पशून्] पुत्र और पशु [एतत्] इस सब को [वृङ्क्ते] (सत्कार न किया हुआ अतिथि) नाश करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ –इस श्लोक में जो अतिथि का सत्कार नहीं करते उन के प्रति अनिष्ट फल का निर्देश किया गया है। पारिषद् पुनः मृत्यु से कहते हैं कि जिस के घर से अतिथि भूखा जाता है उस के उक्त शुभ कर्मों के फल को भी वह अपने साथ ले जाता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है–"अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥" अर्थ-जिस के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उसका पुण्य लेकर और पाप उसे देकर जाता है ॥ इस लिये इस अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना चाहिये, जिस से कि सुकृत का विलोप न हो ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

पदार्थः–(ब्रह्मन् !) हे ब्रह्मवित् ! आप (अतिथिः) आगमनतिथि के नियत न होने से अतिथि हैं, अतएव (नमस्यः) नमस्कार करने के योग्य हैं [ते] आपके लिये (नमः) प्रणाम [अस्तु] हो। (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण [अस्तु] हो। हे (ब्रह्मन्) ! ब्रह्मवित् ! (यत्) जो आप (मे) मेरे [गृहे] घर में [तिस्रः रात्रीः] तीन रात [अनश्नन्] अन्न जल के बिना [अवात्सीः] बसे [तस्मात्] इस कारण [प्रति] प्रति

रात्रि एक २ के हिसाब से [त्रीन् वरान्] तीन वरों को (वृणीष्व) अङ्गीकार करें ॥

भावार्थ-पार्षदों के इस प्रकार निवेदन करने पर मृत्यु नचिकेता को सम्बोधन करके कहता है कि-हे ब्रह्मन् ! आप अतिथि होने से नमस्करणीय हैं, अतः आप के लिये मैं प्रणाम करता हूं। आप के आशीर्वाद से मेरा कल्याण हो। पुनः अपने अपराध की क्षमा चाहता हुआ मृत्यु नचिकेता से यह आवेदन करता है कि हे-ब्रह्मन् ! आप मेरे घर में तीन रात्रि तक घर [उपोषित] विना आहार के रहे हैं, इसलिये आप प्रति रात्रि एक एक के हिसाब से तीन वर [जो मैं आप को देना चाहता हूं] अङ्गीकार कीजिये ॥ ९ ॥

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्यु-
र्गौतमो माभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्
प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

पदार्थः-(मृत्यो!)हे मृत्यु !.(गौतमः)गौतमगोत्रीय मेरा पिता (मा अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) शान्तचित्त, (सुमनाः) प्रसन्नमन, (वीतमन्युः) विगतरोष (यथा) जैसे (स्यात्) होवे, (त्वत्प्रसृष्टम्) आप के भेजे हुये, (मा अभि) मुझ को देख कर (प्रतीतः सन्) लब्धस्मृति होकर (कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिसको मैंने मृत्यु के पास भेजा था) [वदेत्] बोले । [एतत्]यह[त्रयाणाम्]तीन में से[प्रथमम्] पहिला [वरम्] वर [वृणे] चाहता हूं ॥ १० ॥

भावार्थः- मृत्यु के उक्त वचन को सुन कर नचिकेता ने कहा कि जैसे मेरा पिता मुझ पर प्रसन्न और कृपालु होजावे अर्थात् इस बीच के उत्पन्न हुवे क्रोध को त्याग कर पूर्ववत् वर्त्तने लगे और आप के भेजे हुवे मुझ को पहचान कर कि

यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिसको मैंने मृत्यु के पास भेजा था. प्रीतिपूर्वक सम्भाषण करे और कुशलक्षेमादि पूछे। यह मैं उन तीन वरों में से [जो आप मुझे देना चाहते हैं] पहला वर आप से मांगता हूं ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारु-
णिर्मत्प्रसृष्टः । सुखꣳरात्रीः शयिता वीतम-
न्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

पदार्थः-[औद्दालकिः] उद्दालकवंशी [आरुणिः] अरुण* का पुत्र तेरा पिता [यथा] जैसा [पुरस्तात्] पहले था वैसा ही [मत्प्रसृष्टः] मुझ से प्रेरित वा बोधित होकर [प्रतीतः] तुझ पर विश्वास करने वाला [भविता] अवश्य होगा, [रात्रिः] शेष रात्रियों में भी [सुखम्] सुख से [शयिता] सोवेगा और [वीतमन्युः] विगतरोष होकर [त्वाम्] तुझ को [मृत्यु मुखात्] मौत के मुंह से (प्रमुक्तम्) छूटा हुवा (ददृशिवान्) देखेगा ॥ ११ ॥

भावार्थः- इस प्रार्थना को सुनकर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि तेरा पिता जैसा पहले तुझ से स्नेहभाव रखता था वैसा ही अब मुझ से प्रेरित होकर तुझ पर दयालु होगा और अब विगतरोष होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक सोवेगा और तुझे मौत के मुंह से छूटा हुवा पाकर अत्यन्त हर्षित होगा ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया
बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकाति-
गो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

---

* यह वाजश्रवा का दूसरा नाम था ।

पदार्थः-(स्वर्गलोके) स्वर्ग लोक में (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं है, (न तत्र) न वहां पर [त्वम्] तू=मृत्यु है और [न] न कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है (अशनायापिपासे) भूख और प्यास (उभे) दोनों को [तीर्त्वा] तरकर [शोकातिगः] शोक से वर्जित पुरुष [स्वर्गलोके] स्वर्ग में [मोदते] आनन्द करता है ॥ १२ ॥

भावार्थः- नचिकेता द्वितीय वर की याचना करता हुआ मृत्यु से कहता है कि स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है। वहां पर न रोग ही होते हैं और न बुढ़ापा ही किसी को सताता है और तू=मृत्यु भी वहां पर आक्रमण नहीं करता। उस स्वर्गलोक में जीवात्मा भूख, प्यास, शीत, उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को जीत कर शोक रहित हो आनन्द करता है ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो! प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

पदार्थः-[मृत्यो ! हे मृत्यु । [सः त्वम्] सो तू [स्वर्ग्यम] स्वर्ग के साधनभूत [अग्निम्] ज्ञानाग्नि को [अध्येषि] जानता है [तम्] उस को [श्रद्दधानाय] श्रद्धा रखते हुये [मह्यम्] मेरे लिये [प्रब्रूहि] वर्णन कर [जिस के यथायोग्य अनुष्ठान करने से] [स्वर्गलोकाः] स्वर्ग के अधिकारी जन [अमृतत्वम्] अमरत्व को [भजन्ते] सेवन करते हैं। [एतद्] यह [द्वितीयेन] दूसरे [वरेण] वर से [वृणे] मांगता हूँ ॥ १३ ॥

भावार्थः–नचिकेता पुनः कहता है कि उस स्वर्ग के साधन भूत ज्ञानाग्नि को आप भले प्रकार जानते हैं। कृपया मुझ श्रद्धालु के प्रति भी उस का उपदेश कीजिये, जिस से मैं भी अमरत्व को प्राप्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बनूं। यह मैं दूसरे वरसे मांगता हूं ॥ १३ ॥

प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥

पदार्थः–[नचिकेतः] हे नचिकेता ! [स्वर्ग्यम्] स्वर्ग के साधन भूत [अग्निम्] ज्ञानाग्नि को [प्रजानन्] जानता हुआ [ते] तेरे लिये [तत्] उस विद्या को [प्रब्रवीमि] मैं कहता हूं [मे] मेरे वचन को [निबोध] सुन वा जान [अथो] इस के अनन्तर [त्वम्] तू [एतम्] इस अग्नि को [अनन्तलोकाप्तिम्] विविध स्थानों में प्राप्त कराने वाला [प्रतिष्ठाम्] जगत् की स्थिति का हेतु [गुहायाम्] बुद्धि में [निहितम्] स्थित वा व्याप्त [विद्धि] जान ॥ १४ ॥

भावार्थः–मृत्यु नचिकेता से कहता है कि मैं ज्ञानाग्नि को जिस का मुझे पूर्ण अनुभव है तेरे प्रति उपदेश करता हूं, तू सावधान होकर सुन जिस अग्नि को जानने से मनुष्य पृथिवीस्थ वा अन्तरिक्षस्थ अनेक स्थानों में अनायास जा आ सकता है और जो सारे जगत् की स्थिति का हेतु है। यह बुद्धि से जाना जाता है ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

पदार्थः-(तस्मै) उस नचिकेता के लिये (लोकादिम्) सृष्टि की आदि में उत्पन्न अथवा दर्शन के हेतु (तम्) उस (अग्निम्) अग्नि का (उवाच) व्याख्यान किया [और उस अग्नि से सिद्ध होने वाले ज्ञान यज्ञादि में] (याः) जो (वा) या (यावतीः) जितनी (वा) या (यथा) जिस प्रकार से (इष्टकाः) ईंटें चिननी चाहियें या जिस प्रकार अग्निचयन करना चाहिये, यह सब वर्णन किया (सः च अपि) उस नचिकेता ने भी (यथा) जिस प्रकार (उक्तम्) मृत्यु ने उपदेश किया था (तत्) उस को (प्रति अवदत्) प्रत्यक्ष अनुवाद करके सुनाया (अथ) इस के अनन्तर [अस्य] इसके ऊपर मृत्यु (तुष्टः सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुनः एव) फिर भी (आह) बोला ॥ १५॥-

भावार्थः-उपनिषत्कार कठ ऋषि कहते हैं कि मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उक्त अग्नि का सविस्तर व्याख्यान किया और ज्ञानयज्ञ के लिये उपयोगी वेदि तथा अग्निचयन की विधि भी बतलाई, जिस को उस ने धारण कर के प्रत्यक्ष अनुवाद भी करदिया। जिस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर उस से कहता है ॥ १५ ॥-

> तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य
> ददामि भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः
> सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण १६

पदार्थः—(महात्मा) उच्चभाव से भावित मृत्यु (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला कि—(भूयः) फिर भी (इह) इस दूसरे वर के प्रसंग में (तव) तेरे लिये (अद्य) इस समय (वरम्) वर को (ददामि) देता हूं (अयम्) यह विधान किया हुआ

(अग्निः) अग्नि (तव, एव) तेरे ही (नाम्ना) नाम से प्रसिद्ध (भविता) होगा (च) और (इमाम्) इस (अनेक-रूपाम्) चित्र विचित्र (सृङ्काम्) माला वा प्रतिष्ठा को (गृहाण) स्वीकार कर ॥१६॥

भावार्थः- नचिकेता की योग्यता से प्रसन्न होकर मृत्यु उस से कहता है कि मैं इस दूसरे वर के साथ ही एक और वर तुझे देना चाहता हूं और वह यह है कि यह अग्नि जिस का मैंने तेरे प्रति उपदेश किया है, तेरे ही ('नाचिकेत) नाम से प्रसिद्ध होगा। अब तू मेरी दी हुई इस प्रतिष्ठा वा माला को ग्रहण कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥

पदार्थः-(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता के प्रति जिस का विधान किया गया वह "नाचिकेत" अग्नि कहलाता है। उस को जो तीन वार चयन करे वह पुरुष (त्रिभिः) तीन से (सन्धिम्) सम्बन्ध को [एत्य] प्राप्त होकर [त्रिकर्मकृत्] तीन कर्म करने वाला [जन्ममृत्यू] जन्म और मरण के [तरति] पार होजाता है [ब्रह्मजज्ञम्] वेदरूप ज्ञान के उत्पन्न और धारण करने वाले [ईड्यम्] स्तुति के योग्य [देवम्] परमात्मा को [विदित्वा] जानकर और [निचाय्य] निश्चय कर के [अत्यन्तम्] अतिशय [शान्तिम्] शान्ति को [एति] प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

पदार्थः-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नाम से ३ अग्नियों

का चयन करने वाला पुरुष माता पिता एवं आचार्य इन तीन उपदेष्टाओं के सत्सङ्ग तथा उपदेश से यज्ञ, अध्ययन और दान, इन तीन कर्मों का यथायोग्य अनुष्ठान करता हुवा जन्म और मरण के बन्धनों को शिथिल करता है. तत्पश्चात् प्रज्ञानमय ब्रह्म को जान कर परमशान्ति (मुक्ति) का अधिकारी बनता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

पदार्थः-[यः] जो [विद्वान्] ज्ञानवान् [त्रिणाचिकेतः] उक्त विधि से तीन बार चयन करने वाला पुरुष [एतत्, त्रयम्] इस तिगड्डे को [विदित्वा] जान कर [एवम्] इस प्रकार [नाचिकेतम्] नाचिकेत अग्नि को (चिनुते] चयन करता है [सः] वह [मृत्युपाशान्] मौत के बन्धनों को [पुरतः] आगे से [प्रणोद्य] छिन्न भिन्न कर [शोकातिगः] शोक से रहित होकर [स्वर्गलोके] स्वर्गलोक में [मोदते] आनन्द करता है ॥ १८ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य उक्त तीनों आश्रमों में उक्त तीनों शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करके उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का यथाविधि सेवन करता हुआ नाचिकेत अग्नि को सञ्चयन करता है वह आगे होने वाले मौत के बन्धनों को तोड़ कर स्वर्ग में आनन्द करता है । ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः ! स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण । एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

पदार्थः-[नचिकेतः] हे नचिकेतः ! [एषः] यह [अग्निः] ज्ञानाग्नि [स्वर्ग्यः] स्वर्ग का उपयोगी [ते] तुम्हारे लिये कहा गया [यम्] जिस को [द्वितीयेन वरेण] दूसरे वर से [अवृणीथाः] तुमने मांगा था [एतम्] इस [अग्निम्] अग्नि को [तव एव] तुम्हारे ही नाम से [जनासः] मनुष्य लोग [प्रवक्ष्यन्ति] कहेंगे । [नचिकेतः] हे नचिकेतः ! [तृतीयम् वरम्] तीसरे वर को [वृणीष्व] मांग ॥ १६ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! यह स्वर्ग का सोपान अग्नि, जिसको तैंने दूसरे वर से मांगा था, मैंने तेरे लिये दिया और इस अग्नि को तेरे ही नाम से प्रसिद्ध भी किया । अब तू तीसरा वर मांग ॥ १६ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

पदार्थः-(मनुष्ये प्रेते) मनुष्य के मरने पर (अयम्) यह आत्मा (अस्ति इति एके) है, ऐसा कोई मानते हैं (च) और (न अस्ति इति एके) नहीं है, ऐसा अनेक लोग मानते हैं, इस प्रकार (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है, सो (त्वया) आप से (अनुशिष्टः) उपदेश पाया हुआ (अहम्) मैं (एतत्)इस आत्मवस्तु को(विद्याम्) जानूं । (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ॥ २० ॥

भावार्थः-अब तीसरे वर को मांगता हुवा नचिकेता मृत्यु से कहता है कि मनुष्य के मरने पर जो यह संशय

होता है कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है या नहीं? इस को मैं आप से उपदेश पाकर जानना चाहता हूं। यही मेरा तीसरा वर (अभीष्ट) है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(पुरा) पहले (अत्र) इस आत्मिक विषय में (देवैः अपि) देवताओं ने भी (विचिकित्सितम्) सन्देह किया था (हि) निश्चय (एषः) यह आत्मज्ञानरूप (धर्मः) विषय (अणुः) अतिसूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्) सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है अतएव (नचिकेतः) हे नचिकेतः! तुम (अन्यं वरम्) अन्य वरको (वृणीष्व) मांगो (मा) मुझ को (मा-उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य मत दबाओ (मा) मेरे प्रति (एनम्) इस वर को (अतिसृज) त्याग दो ॥२१॥

भावार्थः—इस तीसरे वर को सुन कर मृत्यु नचिकेता की परीक्षा करने के लिये कि यह आत्मज्ञान का अधिकारी है वा नहीं? उससे कहता है कि इसी विषय पर पहले बड़े २ विद्वानों के सन्देह और वाद हो चुके हैं, वे भी पूर्णरूप से इस की मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अति सूक्ष्म होने से दुर्ज्ञेय है और यह भी सम्भव नहीं कि इस में प्रवृत्त होने से प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य हो ही जावे। अतएव हे नचिकेतः! तुम और कोई वर, जिस के फलमें सन्देह न हो, मुझ से मांगो। मुझे अधमर्ण के समान मत दबाओ और इस वर की हठ छोड़ दो ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो !

यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो
न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

पदार्थः-(मृत्यो !) हे अन्तक ! (अत्र) इस विषय पर (देवैः अपि) बड़े २ विद्वानों ने भी (विचिकित्सितम्) सन्देह या अन्वेषण किया है (त्वंच किल) और तू भी (यत् सुविज्ञेयं न) जो सुगमता से जानने के योग्य नहीं है ऐसा (आत्थ) कहता है (अस्य) इस विषय का (वक्ता) कहने वाला (त्वादृक्) तेरे तुल्य (अन्यः) और (न लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस वर के (तुल्यः) बराबर (अन्यः कश्चित् वरः न) और कोई वर नहीं है ॥२२ ॥

भावार्थः-उक्त वर्जन सुन कर नचिकेता बोला कि हे मृत्यो ! जब बड़े २ विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा और आलोचना की है और तू भी इस को अतिसूक्ष्म और दुर्ज्ञेय बतलाता है, इसी से इस का परमोत्तम और सर्वोपरि होना अनुमान किया जाता है और तेरे समान उपदेष्टा मुझे कहाँ मिलेगा ? जो ऐसे गहन और कठिन विषय को मेरे हृदयङ्गम और बुद्धिगोचर करेगा । अतः मेरी सम्मति में इस के बराबर और कोई वर नहीं है ॥ २२ ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून्
हस्तिहिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

पदार्थः-(शतायुषः) सौ वर्षपर्यन्त जीने वाले (पुत्रपौत्रान्) बेटे पोतों को (वृणीष्व) मांग और (बहून् पशून्) बहुत से गाय, बैल आदि पशु (अश्वान्) घोड़े (हस्तिहिरण्यम्) हाथी और सुवर्ण आदि तथा (भूमेः) पृथिवी के

(महत्) बड़े (आयतनम्) माण्डलिक राज्य को (वृणीष्व) मांग (स्वयं च) और तू भी (यावत्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) चाहता है (जीव) जीवन धारण कर ॥ २३ ॥

भावार्थः–नचिकेता का तद्विषयक आग्रह सुन कर फिर भी मृत्यु उस को प्रलोभन देता हुआ कहता है कि दीर्घजीवी पुत्र, पौत्र, गौ, अश्व, हस्ति आदि उत्तम २ पशु, सुवर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थ, पृथिवी के एक मण्डल का राज्य; यह सब मुझ से मांग, मैं तुझे दूंगा। यदि इस में यह शङ्का हो कि अपने बिना यह सब तुच्छ हैं तो अपना जीवन भी जितना चाहता है, मांग ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं
चिरजीविकां च । महाभूमौ नचिकेतस्त्व-
मेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

पदार्थः–(यदि) जो (एतत्) इस उक्त वर के (तुल्यम्) बराबर (वरम्) वक्ष्यमाण वर को (मन्यसे) मानता है तो [वित्तम] ऐश्वर्य के साधन धन (च] और [चिरजीविकाम्] सदा की आजीविका को [वृणीष्व) मांग। [नचिकेतः] हे नचिकेतः ! [त्वम्] तू [महाभूमौ] बड़ी पृथिवी पर [एधि] बढ़ने वाला हो अर्थात् सार्वभौम राज्य को प्राप्त हो [त्वा] तुझ को [कामानाम्] सम्पूर्ण कामनाओं का [कामभाजम्] भोग करने वाला [करोमि] करता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः–पुनः मृत्यु कहता है कि यदि उक्त वर के तुल्य सदा की आजीविका और प्रभूत धन को समझता है तो उस

को भी माँग और यदि इन सब से बढ़कर सार्वभौम राज्य का अभिलाषी है तो वह भी मैं तेरे लिये दे सकता हूं और तेरी जो कामना हो, उसे पूर्ण कर सकता हूं ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाᳪं-श्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो ! मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

पदार्थ—[मर्त्यलोके] पृथिवी में [ये ये] जो जो [कामाः] कामनायें [दुर्लभाः] दुर्लभ हैं उन [सर्वान्] सब [कामान्]-कामनाओं को [छन्दतः] यथेष्ट [प्रार्थयस्व] मांग। [इमाः] ये [सरथाः] रथादि यानों सहित [सतूर्याः] वादित्रादि सहित [रामाः] रमणीय स्त्रियां हैं [आभिः] इन [मत्प्रत्ताभिः] मेरी दी हुई युवतियों से [परिचारयस्व] अपनी सेवा शुश्रूषा कराओ [हि) निस्सन्देह [ईदृशाः] ऐसे भोग [मनुष्यैः] साधारण मनुष्यों से [न लम्भनीयाः] अप्राप्य हैं। [नचिकेतः] हे नचिकेतः ! [मरणम्] मौत को [मा अनुप्राक्षीः] मत पूछ ॥ २५ ॥

भावार्थः—पुनः मृत्यु कहता है कि जो २ कामनायें इस मर्त्यलोक में दुष्प्राप्य हैं, उन सब को यथारुचि मांग और विविध यान एवं वादित्रादि सहित जो मनोहारिणी स्त्रियां हैं इन के साथ रमण कर। ऐसे विचित्र भोगसाधन मनुष्यों को दुर्लभ हैं। हे नचिकेतः ! ऐसे दिव्य पदार्थों को छोड़ कर मौत का प्रश्न क्यों करता है ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जर-

यन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

पदार्थः-(अन्तक!) हे मृत्यु ! (यत्) क्योंकि (श्वोभावाः) कल ही कल (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के (एतत्) इस (तेजः) तेज का (जरयन्ति) नाश करदेती हैं। (सर्वम् अपि जीवितम्) सब जीवन भी (अल्पम् एव) अल्प ही है (अतएव प्राणी) (तव एव) तेरे ही (वाहाः) वाहन रहे और (नृत्यगीते) नाचना गाना भी (तव) तेरा ही रहा ॥ २६ ॥

भावार्थः-इस प्रकार बहुविध प्रलोभित किया हुआ भी नचिकेता अपने अभीष्ट वर को नहीं त्यागता और मृत्यु से कहता है कि यह सब कल ही कल में बीतने वाले समय, इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करने वाले हैं और समस्त जीवन भी चाहे उस की पूर्ण अवधि ही क्यों न हो, मुक्तिसुख की अपेक्षा अल्प ही है क्योंकि यह सब मिलनेपर भी अन्त में तो तेरे ही अधीन रहना पड़ा और तू (मृत्यु) ही शिर पर नाचता रहा ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

पदार्थः-(मनुष्यः) प्राणी (वित्तेन) धन से (न तर्पणीयः) तृप्त नहीं हो सकता (चेत्) जो (त्वा) तुझ मौत को (अद्राक्ष्म) हम ने देखा तो (वित्तम्) ऐश्वर्यभोग को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा तब तक (जीविष्यामः) जीवेंगे । अतः

(मे) मुझ को (वरः तु) वर तो (सः एव) वह ही (वरणीयः) मांगना है ॥ २७ ॥

भावार्थः—पुनः नचिकेता कहता है कि धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती और यदि तुझ को देखा है तो धनभी मिलेगा, इस लिये मुझे धन की स्पृहा नहीं है और जीवन भी जब तक तू (मृत्यु) न हो तभी तक है, अतएव इस की भी आकाङ्क्षा नहीं है। वर तो मेरा केवल वही प्रापणीय है, जिस को याचना मैं कर चुका हूं ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अजीर्यताम्) जरा से जीर्ण न होने वाले [अमृतानाम्] मुक्त पुरुषों को [उपेत्य] प्राप्त होकर [कधःस्थः] पृथिवी के अधोभाग में स्थित [मर्त्यः] मरणधर्मा मनुष्य [जीर्यन्] शरीरादि के नाश का अनुभव करता हुआ [वर्णरतिप्रमोदान्] सुन्दर वर्ण और सुरतजन्य विनश्वर सुखों को (अभिध्यायन्) सोचता हुवा (कः) कौन (प्रजानन्) जानता हुआ [अतिदीर्घे जीविते] बहुत बड़े जीवन में [रमेत] रमण करे ॥ २८ ॥

भावार्थः—नचिकेता पुनः कहता है कि मरणरहित मुक्त पुरुषों को पाकर एवम् सांसारिक सुखभोगों की विनश्वरता को देखता हुवा कौन ऐसा निकृष्ट दशा में स्थित प्राणी है, जो मुक्ति जैसे उच्चकक्षा के सुख को छोड़ कर अतिदीर्घकालीन जीवन की जो नाना प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से परिपूर्ण है, इच्छा करे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

पदार्थः-[मृत्यो !] हे मृत्यो ! [यस्मिन्] जिस आत्मज्ञान विषय में [इदम्] आत्मा कोई है या नहीं ? यदि है तो कहां है ? और कैसा है ? इत्यादि प्रकार से [विचिकित्सन्ति] सन्देह करते हैं [यत्] जो [महति] अनन्त [साम्पराये] परमार्थ दशा में [प्राप्त किया जाता है] [तत्] उस आत्मज्ञान का [नः] हमारे प्रति (ब्रूहि) उपदेश कर [यः] जो [अयम्] यह प्रसङ्गप्राप्त [गूढम्] गुप्त [वरः] वर [अनुप्रविष्टः] मेरे मन में समाया हुआ है [तस्मात्] उस से [अन्यम्] भिन्न वर को [नचिकेता] मैं [न वृणीते] नहीं चाहता ॥ २९ ॥

भावार्थः-नचिकेता पुनरपि कहता है कि हे मृत्यु ! जिस आत्मा के विषय में लोग अनेक प्रकार से सन्देह करते हैं और जो केवल पारमार्थिक दशा में जाना जाता है, उसी आत्मतत्त्व का मेरे प्रति उपदेश कर । यह मेरा गूढ़ अभीष्ट, जो मेरे हृदय में समाया हुआ है, इस से भिन्न और कोई वर मैं नहीं चाहता ॥ २९ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमा वल्ली समाप्ता ।

—:०:—

अथ द्वितीया वल्ली ।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥ (३०)

पदार्थः-(श्रेयः) निःश्रेयसरूप कल्याण का मार्ग (अन्यत्) और है (उत) और (प्रेयः) अभ्युदयरूप रोचक मार्ग (अन्यत् एव) और ही है (ते) वे श्रेय और प्रेय (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न २ प्रयोजन वाले (पुरुषम्) मनुष्यको (सिनीतः) वासनारूप रज्जु में बांधते हैं [तयोः] उन दोनों में से [श्रेय आददानस्य] श्रेय ग्रहण करने वाले का [साधु] कल्याण [भवति] होता है [यः उ] और जो [प्रेयः] प्रेय को [वृणीते] ग्रहण करता है वह [अर्थात्] परमार्थरूप प्रयोजन से [हीयते] भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

भावार्थः-जब ऐसे २ प्रलोभन देने पर भी नचिकेता अपने सङ्कल्प से न हटा, तब मृत्यु उस को आत्मज्ञान का अधिकारी समझ कर उपदेश करता है कि हे नचिकेतः ! इस संसार में मनुष्यों के लिये दो मार्ग हैं। १ श्रेय, २ प्रेय। इन्हीं को प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग भी कहते हैं। श्रेय मार्ग जिसमें चलने से मनुष्य का कल्याण होता है, प्रेय मार्ग से-जिस में फंस कर मनुष्य लोलुप और अधीर हो जाता है, अत्यन्त विलक्षण है। इन में से प्रेय को ग्रहण करने वाला श्रेय से वञ्चित रह जाता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य
विविनक्ति धीरः। श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो
वृणीते प्रेयोमंदोयोगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥ (६१)

पदार्थः-[श्रेयः] अरोचक परन्तु कल्याण का मार्ग [च] और [प्रेयः] रोचक परन्तु अकल्याण का मार्ग, यह दोनों [मनुष्यम्] मनुष्य को [एतः] प्राप्त होते हैं [धीरः] बुद्धिमान् [तौ] उन दोनों को [सम्परीत्य] सम्यक् प्राप्त होकर

[विविनक्ति] विवेचन करता है [धीरः हि] विद्वान् ही [प्रेयसः] प्रवृत्ति मार्ग से [श्रेयः] निवृत्ति मार्ग को [अभिवृणीते] सब ओर से ग्रहण करता है [मन्दः] मूर्ख [योगक्षेमात्] धन आदि के उपार्जन और रक्षण से [प्रेयः] प्रवृत्ति मार्ग को ही [वृणीते] स्वीकार करता है ॥ २ ॥

भावार्थः—यद्यपि श्रेय मार्ग कष्टसाध्य होने से आदि में अरोचक और नीरस सा प्रतीत होता है, तद्विरुद्ध प्रेय सुखसाध्य होने से प्रथम रोचक और सरस प्रतीत होता है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष "यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्" जो पहिले विष के समान प्रतीत होता है, परिणाम में वही अमृत के तुल्य हो जाता है। इस के तत्त्व को जानता हुआ परमार्थ के आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु मन्दबुद्धि जन पहिले ही सुखाभास में लिप्त होकर सदा के लिए वास्तविक सुख से हाथ धो बैठता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः । नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥३॥(२०)

पदार्थः—(नचिकेतः!) हे नचिकेतः! [सः त्वम्] सो तैने [प्रियान्] पुत्रपौत्रादि [प्रियरूपान्] सुन्दरी कामिनी आदि [कामान्] भोगों को [अभिध्यायन्] उन की असारता को विचार कर [अत्यस्राक्षीः] छोड़ दिया [एताम्] इस भोगैश्वर्यरूप [सृङ्काम्] शृङ्खला में [न अवाप्तः] नहीं फंसा [यस्याम्] जिस में [बहवः] बहुत [मनुष्याः] मनुष्य [मज्जन्ति] फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि—हे नचिकेतः! तैने सांसारिक सुख भोगों को अनित्य और सार समझ कर त्याग दिया। अर्थात् प्रेय मार्ग का, जिस में सांसारिक मनुष्य प्रायः फंसे रहते हैं, अनुसरण नहीं किया। इस लिये तू आत्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥ (३२)

पदार्थः—[एते] उक्त दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग [विपरीते] परस्पर विरुद्ध [विषूची] वैधर्म्यसूचक [दूरम्] भिन्न २ हैं [विद्वानों ने उक्त दोनों मार्ग] [अविद्या या च विद्या इति] अविद्या और विद्या के नाम से [ज्ञाता] जाने हैं। मैं [नचिकेतसम्] तुझ नचिकेता को [विद्याभीप्सिनम्] विद्या का चाहने वाला अर्थात् श्रेयःपथगामी [मन्ये] मानता हूं। इसलिये कि [त्वा] तुझ को [बहवः कामाः] बहुत सी कामनायें [न अलोलुपन्त] प्रलोभित नहीं कर सकीं ॥ ४ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि जैसे दिन रात; सुख दुःख इत्यादि परस्परविरुद्ध होने से महा अन्तर रखते हैं। इसी प्रकार उक्त श्रेय और प्रेय मार्ग भी परस्पर प्रतिकूल हैं। विद्वान् लोग इन्हीं को विद्या और अविद्या के नाम से निर्देश करते हैं। तुझ को बहुत सी कामनायें [जो अविद्या से उत्पन्न होती हैं] प्रेय मार्ग में न लेजासकीं, इसलिये मैं तुझे विद्यानुरागी अर्थात् श्रेयःपथानुगामी समझता हूं ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥ (३४)

पदार्थः-[अविद्यायाम् अन्तरे] अविद्या के बीच में [वर्त्तमानाः] पड़े हुवे [स्वयम्] अपने को [धीराः] धीर और [पण्डितं मन्यमानाः] पण्डित मानते हुवे [दन्द्रम्यमाणाः] कुटिलपथगामी अथवा इधर उधर घूमते हुवे[मूढाः] विक्षिप्तचित्त [अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः] जैसे अन्धे से लेजाये गये अन्धे [परियन्ति] घूमते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—प्रेयमार्ग में अनुधावन करने वाले कामुक पुरुष यद्यपि चारों ओर से अविद्या में फंसे हुवे होते हैं तथापि अपने को धीर और पण्डित मानते हुवे कुटिलपथ में प्रवेश करते हैं और मोह के चक्र में पड़कर इधर उधर घूमते हैं। ऐसों के अनुयायियों की वही दशा होती है, जो अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे की ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥ (३५)

पदार्थः-[वित्तमोहेन] धन के मोह से [मूढम्] मुग्ध [प्रमाद्यन्तम्] प्रमत्त [बालम्] विवेकरहित पुरुष को [साम्परायः] परलोक वा परमार्थ सम्बन्धी विचार वा अन्वेषण [न प्रतिभाति] नहीं भाता [अयं लोकः] यही लोक है [परः नास्ति] परलोक वा परमार्थ नहीं है [इति] ऐसा [मानी] मानने वाला [पुनः पुनः] वारंवार [मे] मुझ मृत्यु के [वशम्] वश में [आपद्यते] प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि जो पुरुष धनादि पदार्थों के मोह से उन्मत्त और विवेकरहित हो रहे हैं, उन को परमार्थ की बातें नहीं सुहातीं। वे इस प्रत्यक्ष संसार को ही अनन्य सुख का साधन मानकर परमार्थ को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। ऐसे लोग बारबार मेरे वश में पड़कर जन्म मरण के दुःखों को भोगते हैं॥ ६॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥७॥(३६)

पदार्थः-[यः] जो आत्मतत्त्व [बहुभिः] बहुतों को [श्रवणाय अपि] सुनने के लिये भी [न लभ्यः] नहीं मिलता [शृण्वन्तः अपि] सुनते हुवे भी [बहवः] अनेक जन (यम्) जिसको [न विद्युः] नहीं जानते [अस्य] इस आत्मतत्त्व का [वक्ता] प्रवचन करने वाला [आश्चर्यः] कोई विरला ही होता है, (अस्य) इस का [लब्धा] पाने वाला (कुशलः) कोई बड़ा विवेकशील होता है। (कुशलानुशिष्टः) विवेकी पुरुष से उपदेश पाया हुवा (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्यः कोई होता है॥ ७॥

भावार्थः-आत्मज्ञान की दुरूहता कहते हैं। जो आत्मतत्त्व बहुत से सांसारिक कामों में आसक्त पुरुषों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता और बहुत से अनधिकारी सुनते हुवे भी जिस को नहीं जान सकते अतएव उस का प्रवचन करने वाला कोई विरला ही होता है। श्रोताओं में भी उसका यथार्थरूप से समझने वाला कोई विवेकी ही पुरुष (जो संस्कृतात्मा और परमार्थ के साधनों से सम्पन्न है) मिल सकता है॥ ७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात् ॥ ८ ॥ (३७)

पदार्थः-(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्त) उपदेश किया हुवा (बहुधा) अनेक प्रकार से [चिन्त्यमानाः] विचार किया हुआ भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (अनन्यप्रोक्ते) जो अनन्य-भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं ऐसे तन्मय और तत्परायण आचार्यों के उपदेश किये हुवे (अत्र) इस आत्मा में (गतिः) विकल्प वा सन्देह (नास्ति) नहीं है। यह आत्मा [अणुप्रमाणात्] सूक्ष्म से भी [अणीयान्] अति सूक्ष्म है [हि] इसी लिये [अतर्क्यम्] तर्क करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ -इस श्लोक से भी उक्तार्थ की ही पुष्टि की जाती है। जिन की बुद्धि प्राकृत पदार्थों में रमण करती है, ऐसे साधारण पुरुषों के बारंबार उपदेश करने से भी यह आत्मा सम्यक् नहीं जाना जाता किन्तु जो अनन्य भाव से तन्मय और तत्परायण होकर उस की उपासना में रत हैं, ऐसे आचार्यों के उपदेश से ही असन्दिग्ध रीति पर वह सूक्ष्म से ही सूक्ष्म और अप्रतर्क्य आत्मतत्त्व जाना जाता है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! । यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥ (३८)

पदार्थः-हे [प्रेष्ठ !] प्रियतम ! [एषा] यह आगमप्रसूता [मतिः] बुद्धि [तर्केण] स्वबुद्धिकल्पित हेतुओं से [न, आ

पनेया] नहीं बिगाड़नी चाहिये [अन्येन एव] शास्त्रवित् आचार्य से ही [प्रोक्ता] उपदेश की हुई उक्त बुद्धि [सुज्ञानाय] सम्यक्ज्ञान के लिये होती है [सत्यधृतिः] तू निश्चल धैर्य वाला [असि] है [त्वम्] तू [याम्] जिस बुद्धि को [आपः] प्राप्त हुआ है [बत] (अनुकम्पा सूचक अव्यय है)। हे [नचिकेतः !] नचिकेतः [त्वादृक्] तेरे समान ही [नः] हम से [प्रष्टा] पूछने वाला [भूयात्] हो ॥ ६ ॥

भावार्थः—यद्यपि धर्मादि विषयों के निर्णय में मन्वादि महर्षियों ने तर्क का उपयोग माना है, यथा "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" अर्थात् जो तर्क से अनुसन्धान करता है वह धर्म को जान सकता है, इतर नहीं, इत्यादि। तथापि आत्मज्ञान के विषय में [जो निश्चयात्मिका बुद्धि की अपेक्षा रखता है] तर्क से कुछ काम नहीं चलता क्योंकि जहाँ सन्देह होता है वहीं तर्क की प्रवृत्ति होती है। आत्मतत्त्व के जानने पर सारे सन्देह और विकल्प शान्त हो जाते हैं फिर भला वहाँ तर्क का प्रवेश क्योंकर हो सकता है ? इस बात को लक्ष्यमें रख कर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे प्रियतम ! यह शास्त्रवित आचार्यों के उपदेश से उत्पन्न हुई बुद्धि, जिस को तू प्राप्त हुआ है, केवल तर्क के आधार पर न लगानी चाहिये किन्तु आगम पर श्रद्धा रखते हुवे श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिये ॥ ६ ॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् । ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निर-नित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥ (३६)

पदार्थः—[अहम्] मैं [शेवधिः] कर्मफलजन्य स्वर्गादि [अनित्यम्] अनित्य है [इति] ऐसा [जानामि] जानता

हूं [हि] निस्सन्देह [अध्रुवैः] अनित्य और अस्थिर साधनों से [तत्] वह [ध्रुवम्] नित्य और अचल आत्मा [न, प्राप्यते] नहीं पाया जाता [ततः] इसी लिये [मया] मैंने [नाचिकेतः] जिस का अभी तुम्हारे प्रति विधान किया है वह अग्नि [चितः] कर्मफलवासना से रहित होकर चयन किया है। अतः [अनित्यैः द्रव्यैः] अनित्य पदार्थों से [नित्यम्] नित्य ब्रह्म को [प्राप्तवान् अस्मि] परम्परा से प्राप्त हुआ हूं ॥१०॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि यद्यपि यह मैं जानता हूं कि सकाम कर्म से स्वर्गादि अनित्य पदार्थों की प्राप्ति होती है परन्तु इन अनित्य साधनों से वह नित्य ब्रह्म अप्राप्य है, इसी लिये मैंने कर्मफल की वासना को त्यागकर यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया है जो साक्षात् नहीं तो परम्परा से मेरे मोक्ष का कारण हुये हैं। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो कर्म फ की वासना से किये जाते हैं वही मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, केवल निष्काम कर्म करने से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥ (४०)

पदार्थः(नचिकेतः) हे नचिकेतः ! तैंने (कामस्य) भोगादि कामनाओं की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) संसार की (प्रतिष्ठाम्) स्त्रीसंभोगादि रूप से स्थिति को, (क्रतोः) यज्ञादि के (अनन्त्यम्) अखण्ड राज्यादि फल को, (अभयस्य) सांसारिक निर्भयता की (पारम्) पराकाष्ठा को (उरुगायम्) बहुधा मनुष्य जिस का गान करते हैं ऐसे

(स्तोममहत्) स्तुतिसमूह और (प्रतिष्ठाम्) प्रशंसा को (दृष्ट्वा) ज्ञान चक्षु से इन सबको असार देखकर (धृत्या) धैर्य से (अत्यऽस्राक्षीः) त्याग दिया, अतएव (धीरः) तू बड़ा बुद्धिमान् है ॥ ११ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! तुझको संसार की बड़ी से बड़ी कामनायें भी न लुभा सकीं । अतएव तू धीर है और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं
पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥ (४१)

पदार्थः—(धीरः) विद्वान् (अध्यात्मयोगाधिगमेन) बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति को हटाकर आत्मा में लगाने से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) दुःख से जानने योग्य (गूढम्) अतीन्द्रिय होने से गुप्त (अनुप्रविष्टम्) अन्तः करण और जीवात्मा में भी व्याप्त (गुहाहितम्) बुद्धि में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुर्गम होने से विषमस्थ (पुराणम्) सनातन (देवम्) प्रकाशमय आत्मा को (मत्वा) मानकर (हर्षशोकौ) सुख दुःख को (जहाति] त्याग देता है ॥ १२ ॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है कि वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक होने से दुर्दर्श है, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं । यहां तक कि अप्राप्त देश में पहुंचने वाला मन भी वहां तक जाने में थक जाता है । वह केवल धारणावती बुद्धि में स्थित होने से (जो बिना अध्यात्मयोग के अप्राप्य है) विषमस्थ कहलाता है । उस का योगी जन अध्यात्मयोग से (जो बाह्य विषयों से चित्त को

हटा कर अन्तरात्मा में लीन करने से सिद्ध होता है) प्राप्त होकर हर्ष शोक को त्याग देते हैं ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यम-
णुमेतमाप्य । समोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥ १३ ॥ (४२)

पदार्थः-(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस वक्ष्यमाण (धर्म्यम्) धर्म के अधिकरण आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर तथा (सम्परिगृह्य) अच्छे प्रकार ग्रहण करके. एवं (प्रवृह्य) बारम्बार अभ्यास करके (एतत्) इस (अणुम्) सूक्ष्म ब्रह्म को (आप्य) प्राप्त होकर (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (मोदते) आनन्दित होता है। ऐसे ब्रह्म को (नचितसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्, सद्म) खुला है द्वार जिस का ऐसे स्थान के सदृश (मन्ये) मानता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! इस ब्रह्म को श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा जो मनुष्य ग्रहण करते हैं वह आनन्दमय पद को प्राप्त होकर सब बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाते हैं। तेरे लिये भी इस गुप्त मन्दिर में [जिस का पता लगना बड़ा कठिन है) प्रवेश करने के लिये द्वार खुला हुआ है ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽ
कृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्त-
त्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥ (४३)

पदार्थः-(धर्मात्) कर्तव्यरूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अधर्मात्) अकर्तव्य से (अन्यत्र) अलग (अस्मात्)

इस (कृताऽकृतात्) कार्य और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) भूत काल से (भव्यात्) भविष्यत् से (च) वर्त्तमान से भी (अन्यत्र] अतिरिक्त (यत्) जिस को (पश्यसि) देखते हो (तत्) उस को (वद) कहो ॥ १४ ॥

भावार्थः-नचिकेता प्रश्न करता है-हे मृत्यु ! जो पदार्थ धर्म और अधर्म और उनके शुभाऽशुभ फल से रहित एवं कार्य, कारण और उनके उत्पत्ति और विनाश धर्म से भिन्न तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों के बन्धन से पृथक् है, उस का मेरे प्रति उपदेश कर ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥ (४४)

पदार्थः-(सर्वे वेदाः) चारों वेद (यत् पदम्) जिस पद का (आमनन्ति) बारम्बार वर्णन करते हैं (सर्वाणि, तपांसि च) सारे तप और नियमादि भी (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं [यत्] जिस पद की [इच्छन्तः] इच्छा करते हुये [ब्रह्मचर्यम्] ब्रह्मचर्याश्रम का [चरन्ति] आचरण करते हैं [तत्, पदम्] उस पद को [ते] तेरे लिये (सङ्ग्रहेण) संक्षेप से [ओम् इति, एतत्] " ओम् " है, यह [ब्रवीमि] कहता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः-अब मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है कि हे नचिकेतः चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य जिस पद की प्राप्ति कराने का है अर्थात् उक्त वेद कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से जिस पद का चिन्तन करते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा अन्य धर्मानुष्ठान भी जिस पद की

प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, उस पद का वाचक अनन्य-रूप से केवल "ओम्" यह शब्द है; जिसका मैं तेरे प्रति उपदेश करता हूं ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा योयदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥ (४५)

पदार्थः-[एतत् हि, एव] यह ओम् ही [अक्षरम्] नाश न होने वाला [ब्रह्म] ब्रह्म है [एतत्, एव] यह ही [परम्] सब से उत्तम [अक्षरम्] अक्षर है [एतत् हि एव] इस ही [अक्षरम्] अक्षर को [ज्ञात्वा] जानकर [यः] जो [यत्] जिस अर्थ को [इच्छति] चाहता [तस्य, तत्] उस को वह अर्थ अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावार्थः-वाच्य और वाचक की अभिन्नता कहते हैं । वाचक ही से वाच्य का निर्देश किया जाता है । संसारमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिस का कोई वाचक न हो । परमात्मा के वाचक यद्यपि अग्नि आदि और भी अनेक शब्द हैं तथापि वे अन्य पदार्थों के भी वाचक हैं । केवल यही एक शब्द है जो अनन्यभाव से उस की सत्ता का बोध कराता है और किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं । इसी लिये वाच्य ब्रह्म से इसकी अभिन्नता प्रतिपादन की गई है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥ (४६)

पदार्थः-(एतत्] यह [आलम्बनम्] साधन [श्रेष्ठम्] प्रशस्त है [एतत्] यह [आलम्बनम्] आश्रय [परम्] सर्वोपरि है [एतत्] इस [आलम्बनम्] आलम्बन को [ज्ञात्वा] जान कर [ब्रह्मलोके] ब्रह्मानन्द में [महीयते] आनन्द करता है ॥ १७ ॥

भावार्थः-फिर उसी के माहात्म्य को कहते हैं। ब्रह्म ज्ञान के साधनों में "ओ३म्" की उपासना करना सर्वोत्तम है अर्थात् इसी परमोत्तम साधन से वाच्य ब्रह्म की उपासना करना ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता है ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणोन हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥ (४७)

पदार्थः-[विपश्चित्] सर्वज्ञ [अयम्] यह आत्मा [न, जायते, वा, म्रियते] न उत्पन्न होता और न मरता है [कुतश्चित्] किसी उपादान से [न, बभूव] उत्पन्न नहीं हुआ [कश्चित] कोई इस से भी उत्पन्न नहीं हुआ [अयम्] यह आत्मा [अजः]जन्म नहीं लेता [नित्यः] विकार रहित [शाश्वतः] अनादि [पुराणः] सनातन है [शरीरे] देह के [हन्यमाने] नाश होने पर [न, हन्यते] नहीं नष्ट होता ॥ १८ ॥

भावार्थः-अब उस "ओ३म्" के वाच्य का निरूपण करते हैं, वह आत्मा जन्म मरण से रहित है। उसका कोई उपादान नहीं (जिस से वह उत्पन्न हुवा हो) और न वह किसी का उपादान है (जिस से कोई उत्पन्न हो) वह अजन्मा, निर्विकार सनातन और अनादि होनेसे सदा एकरस रहता है जिस प्रकार घट मठादि के टूटने फूटने पर आकाश में कोई विकार नहीं आता, इसी प्रकार शरीरों के विनाश होने पर आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतोनायꣳ हन्ति न हन्यते ।१९।(४८)

पदार्थः-(चेत्) यदि (हन्तुम) मारने को (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) मानता हैं तथा (चेत्) यदि (हतः) मारा हुवा (हतम्) आत्मा को मरा हुवा (मन्यते) जानता है (तौ, उभौ) वे दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्) यह आत्मा (न, हन्ति) किसी को नहीं मारता (न, हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः-मारने वाला यदि यह समझता है कि मैं आत्मा को मार सकता हूँ और मारा हुवा यह जानता है कि आत्मा मारागया । यह दोनों कुछ नहीं जानते क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितोगुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोकोधातुः प्रसादान्महिमामात्मनः ॥ २० ॥ (४८)

पदार्थः-(आत्मा) ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म जीवात्मा से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े आकाशादि से भी (महीयान्) बड़ा है, वह (अस्य, जन्तोः) इस प्राणी की (गुहायां) बुद्धि में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुः प्रसादात) बुद्धि के विमल होने से (अक्रतुः) कामनारहित (वीत शोकः) विगतशोक प्राणी (पश्यति) देखता है ॥ २० ॥

भावार्थः-जो आत्मा व्यापक होने से सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनन्त होने से बड़े से भी बड़ा है, वह मनुष्य की धारणावती बुद्धि में स्थित है । जिन की बुद्धि बाह्य विषयों से उपरत होकर विमल होगई है, ऐसे काम शोक से विवर्जित विरक्त जनही उस की महिमा को सर्वत्र देखते हैं ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हति ॥२१॥(५०)

पदार्थः—(आसीनः) बैठा हुवा (दूरम्) दूर (व्रजति) पहुँचता है (शयानः) सोता हुआ (सर्वतः) सब ओर यानि जाता है (तम्) उस (मदामदम् देवम्) आनन्दरूप देव को (मदन्यः) मुझ से सिवाय (कः) कौन (ज्ञातुं) जानने को (अर्हति) योग्य है ॥ २१ ॥

भावार्थः—"आसीन" शब्द से अचल और "शयान्" से व्यापक लिया जाता है । हमारे पाठक आश्चर्य करेंगे कि अचल का दूर पहुंचना और व्यापक का सब ओर जाना कैसे हो सकता है ? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वरूप से अचल और व्यापक है तथापि व्याप्य पदार्थों में गत्यादि क्रियाओं के होने से ब्रह्म में भी उनका अध्यास किया जाता है क्योंकि विना ब्रह्म की सत्ता के किसी पदार्थ में भी गति और चेष्टा आदि क्रियायें नहीं रह सकतीं । एतदर्थ व्याप्य के धर्मों का व्यापक में आरोप करके वर्णन किया जाता है और ऐसा किये विना उस अचल और अखण्ड ब्रह्म को हम समझ नहीं सकते । मृत्यु नचिकेता की श्रद्धा बढ़ाने के लिये कहता है कि मेरे सिवाय उस सांसारिक विनश्वर सुख से रहित और पारमार्थिक नित्यानन्द से पूरित ब्रह्म को और कौन जान सकता है ? ॥ २१ ॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ॥
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।२२।५१

पदार्थः—(शरीरेषु) विनाश धर्म वाले पदार्थों में (अशरीरम्) विनाश रहित (अनवस्थेषु) चलायमान पदार्थों में

(अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

भावार्थः–उक्तार्थ को हम श्लोक में स्पष्ट करते हैं। यद्यपि परमात्मा अनित्य, चलायमान और विनाशशील पदार्थों में व्यापक होनेसे उनमें अवस्थितहै तथापि स्वयम् नित्य, अचल और अविनाशी होने से उन के धर्म में लिप्त नहीं होता। उन सब में और सब से अलग आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान कर धीर पुरुष शोक से मुक्त होता है ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ २३ ॥ (५२ ॥

पदार्थः–(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) उपदेश से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता, (मेधया) बुद्धि से (न) नहीं मिलता (बहुना, श्रुतेन) बहुत सुनने से भी (न) नहीं जाना जाता (एषः, आत्मा (यम्, एव) जिसको ही (वृणुते) स्वीकार करता है (तेन) उस से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः आत्मा) यह आत्मा (तस्य) उस के लिये (स्वाम् तनूम्) अपने यथार्थ स्वरूप को वृणुते) प्रकाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थः–श्रवण, मनन और प्रवचन आदि यद्यपि परम्परा से तो ब्रह्मप्राप्ति के साधन माने ही जाते हैं। परन्तु साक्षात् इनसे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब साधक वा जिज्ञासु अनन्यभाव से आत्मा की ओर झुकता है और आत्मा उसको अधिकारी समझकर स्वीकार करता है तब इस को

आत्मतत्त्व का बोध होता है और वह आत्मा इसके लिये अपने यथार्थ पारमार्थिक स्वरूप को प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

नविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैमाप्नुयात् ॥२४॥५३

पदार्थः-[दुश्चरितात्] अपकर्मों से [न, अविरतः] जो उपरत नहीं हुआ वह [एनम्] इस आत्मा को [न] नहीं प्राप्त होता [अशान्तः] चञ्चल चित्त भी [न]नहीं पाता [असमाहितः संशयात्मा भी [न] नही पाता [वा] और [अशान्तमानसः,अपि] जिस ने बाह्य इन्द्रियों को तो विषयों में जाने से रोक लिया है परन्तु मन जिस का तृष्णा में फंसा हुवा है वह भी [न] नहीं प्राप्त होता, केवल [प्रज्ञानेन] यथार्थ ज्ञान से [आप्नुयात्] ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥ २४ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य हिंसा, स्तेय, अनृत आदि प्रतिषिद्ध कर्मों से उपरत नहीं हुवा वह ज्ञान का अधिकारी नहीं है। उक्त अविहित कर्मों से पृथक् होकर भी जिसका चित्त शान्त नहीं हुवा है लब्धशान्ति होकर अर्थात् बाह्येन्द्रियों को विषयों से रोक कर भी जिसकी वासनारूप तृष्णा नहीं बुझी वह भी आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता, किन्तु जो सारे अपकर्मों से उपरत होकर शान्तचित्त और समस्त विषय वासनाओं से वितृष्ण होकर आत्मपरायण होगया है वह केवल यथार्थज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।२५।(५४)

पदार्थः-[यस्य] जिस ब्रह्म के [ब्रह्म] ब्राह्मण [च] और [क्षत्रं च] क्षत्रिय भी [उभे] दोनों [ओदनम्] भक्ष्य

[भवतः] होते हैं । [यस्य] जिस का [उपसेचनम्] उप-सेचन [मृत्युः] मौत है [सः] वह परमात्मा [यत्र] जिस दशा में वा जैसा है [इत्था] इस प्रकार [कः, वेद] कौन जान सकता है ।

भावार्थः-ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म यह दोनों ही जगत् की स्थिति के मुख्य कारण हैं "मुख्यगौणयोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः" इस के अनुसार वैश्य और शूद्र के धर्मों का भी इन्हीं में समावेश होजाता है, अर्थात् प्रलय में चारों वर्ण जिसका भक्ष्य होजाते हैं । और मृत्यु भी जो इनसबको भक्ष्य बनाता है, स्वयं जिसका उपसेचन [आज्य] बनजाता है, अर्थात् सृष्टि के अभाव से मृत्यु भी अनावश्यक हो जाने से जिस परमात्मा में लीन होजाता है, उस प्रकार ब्रह्म को, वह ऐसाही है, इसप्रकार कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ २५ ॥

इति द्वितीय वल्ली समाप्त ।

अथ तृतीया वल्ली प्रारभ्यते ।

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥ (५५)

पदार्थः-(परमे) सब से उत्तम (परार्द्धे) हृदयाकाश में तथा (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविष्टौ) स्थित [लोके] शरीर में [स्वकृतस्य] अपने किये कर्मों के [ऋतम्] फल को [पिबन्तौ] भोगते हुवे [छायातपौ] अन्धकार और प्रकाश के तुल्य [ब्रह्मविदः] ब्रह्म के जानने वाले [वदन्ति] कहते हैं [च] और [ये] जो [त्रिणाचिकेताः] तीन बार जिन्हों ने नाचिकेत अग्नि का सेवन किया, ऐसे कर्मकाण्डी [पञ्चा-

दनयः] पञ्च यज्ञों के करने वाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वर्णन है। मनुष्य के हृदयाकाश में छाया और आतप के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों निवास करते हैं। एक इन में से अपने कर्म फल का भोक्ता और दूसरा भुगवाने वाला होने से दोनों का कर्मफल के साथ सम्बन्ध है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं कर्म या उस के फल में लिप्त नहीं होता, तथापि जीव को कर्म का फल भुगाता है। इस अपेक्षा को मान कर दोनों के लिये "पिबन्तौ" क्रिया रक्खी गई है। इस प्रकार शरीरों में दोनों आत्माओं की सत्ता केवल कर्मकाण्डी ही नहीं, किन्तु ज्ञानकाण्डी भी मानते हैं ॥ १ ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि ॥ २ ॥ (५.७)

पदार्थः-[यः] जो [ईजानानाम्] यज्ञशीलों का [सेतुः] पुल के समान है, उस (नाचिकेतम्) नाचिकेत् अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यत्) जो [पारम्] भवसिन्धु के पार (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भय रहित साधन है, उस [परम्] सब से उत्कृष्ट [अक्षरम्] नाशरहित [ब्रह्म] परमात्मा को भी [शकेमहि] जान सक्ते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः-इस कर्मनाशा नदी से जिस में सांसारिक लोग मज्जित होते हैं, तरने के दो मार्ग हैं। पहला यज्ञादि कर्मकाण्ड है, जो पुल के समान हमें इस नदी के पार लेजाकर विज्ञान के तट पर बिठा देता है। दूसरा ज्ञानकाण्ड है, जो हमें उस

भवसागर के पार पहुंचाता है (कि जिस में यह कर्मनासा नदी सहस्रधारा होकर मिलती है ।) जो लोग कर्मकाण्ड की उपेक्षा वा निन्दा करके ज्ञानकाण्ड के अधिकारी बनना चाहते हैं, वह आँख खोल कर ज़रा इस श्लोक के आशय पर ध्यान देवें ॥ २ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।३।५७
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।४।५८

पदार्थः-(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम् , एव) शरीर को ही (रथम्) रथ जान (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मन , एव) मनको ही (प्रग्रहम्) रश्मि जान ॥ ३ ॥ (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन इन्द्रियों में (विषयान्) शब्द स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग कहते हैं (मनीषिणः) पण्डित लोग (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः---इन श्लोकों में रथ के अलङ्कार से शरीर का वर्णन कियागया है । जैसे वह रथी जिसका रथ दृढ़, सारथि चतुर, लगाम मज़बूत और खिची हुई, घोड़े सीखे हुवे और सड़क साफ़ और सुथरी हुई हैं, निश्शङ्क अपने निर्दिष्ट स्थान में पहुँच जाता है ऐसेही वह आत्मा जिसका शरीर आरोग्य बुद्धि शुद्ध, मन अक्षुब्ध, इन्द्रियगण वश्य और उनके शब्दादि

श्रर्थ अक्षुण्ण हैं, निर्भयता के साथ अपने प्राप्तव्य पद को पहुँचता है ॥ ४ ॥

तत्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ५।५६
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ६।६०

पदार्थः-(यः, तु) जो (अविज्ञानवान्) विषयों में लम्पट मनुष्य (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) सर्वदा युक्त (भवति) होता है (तस्य) उसके (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) सारथी के (दुष्टाश्वाःइव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होते ॥ ५ ॥ [यः तु] और जो [विज्ञानवान्] विवेकसम्पन्न [युक्तेन मनसा] समाहित मन से [सदा] सर्वदा-युक्त [भवति] होता है [तस्य] उसके [इन्द्रियाणि] चक्षुरादि [सारथेः] सारथि के [सदश्वाःइव] शिक्षित घोड़ों के समान [वश्यानि] वश में होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः-जिस मनुष्य की चित्तवृत्ति विषयों से नहीं हटी है और जिस का मन अभी अनवस्थित दशा में है, उसके इन्द्रिय दुष्ट घोड़ों के समान उसे विषयों की खाईमें डाल देते हैं ॥ ५ ॥ और जो मनुष्य विवेक के शस्त्र से विषय के जाल को छिन्न भिन्न कर देता है। एवं जिसका मन सब ओर से हटकर परमार्थमें युक्त होगया है, उसकेइन्द्रिय शिक्षित घोड़ों के समान उसे अपने निर्दिष्ट स्थान पर लेजाते हैं ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।७।६१।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ८।६२

पदार्थः-[यः तु] जो [विज्ञानवान्] विवेकरहित [अमनस्कः] मन के पीछे चलने वाला [सदा] सर्वदा [अशुचिः] अपवित्र [भवति] होता है [सः] वह [तत्, पदम्] उस शान्त पद को [न, आप्नोति] नहीं प्राप्त होता [च] किन्तु [संसारम्] जन्म मरण के प्रवाह को [अधिगच्छति] प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ [यः तु] और जो [विज्ञानवान्] विवेकसम्पन्न [समनस्कः] मन को जीतने वाला [सदा] निरन्तर [शुचिः] शुद्धभावयुक्त [भवति] होता है [सः, तु] वह तो [तत् पदम्] उस आनन्दपद को [आप्नोति] प्राप्त होता है [यस्मात्] जिस से [भूयः] फिर [न, जायते] उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्य का मन वश में नहीं है और संस्कार तथा संसर्ग के दोषों से जिसके भाव भी मलिन हो रहे हैं, ऐसा विवेकशून्य पुरुष उस परमपदको नहीं पा सकता, किन्तु इस संसार में ही जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है ॥ ७ ॥ इसके विपरीत जो मनुष्य इस चञ्चल मनको वश में कर लेता है और जिसके संस्कार तथा भाव भी शुद्ध हो गये हैं, ऐसा विवेकी पुरुष उस आनन्दपदको प्राप्त होता है, जिससे फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनःपारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।६।६३।

पदार्थः—[यः, तु] जो [नर] मनुष्य [विज्ञानसारथिः] विवेक सारथि वाला एवम् [मनःप्रग्रहवान्] मनकी लगाम

को रोकने वाला है [सः] वह [अध्वनः] मार्ग के [पारम्] पार [विष्णोः] व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (तत्,पदम्) उस पद को [आप्नोति] प्राप्त होता है ॥९॥

भावार्थः-जिस मनुष्य ने विवेक को अपना सारथि बना कर मनकी लगाम को मज़बूत पकड़ा हुआ है, वह उस विष्णु के परम पद को जहां उसकी यात्रा समाप्त हो जाती है प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥६४॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥६५

पदार्थः-[इन्द्रियेभ्यः] भौतिक इन्द्रियों से [हि] निश्चय [अर्थाः] शब्दादि विषय [पराः] सूक्ष्म हैं [च] और [अर्थेभ्य] विषयों से [मनः] मन [परम्] सूक्ष्म है [च] तथा [मनसः] मनसे (बुद्धिः बुद्धि परा) सूक्ष्महै [बुद्धेः] बुद्धिसे [महान् आत्मा] महत्तत्त्व [परः] सूक्ष्म है ॥ १० ॥ (महतः, महत्तत्त्व से [अव्यक्तम्] अव्याकृत प्रकृति [परम्] सूक्ष्म है [अव्यक्तात्] अव्यक्त प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म [परः] अत्यन्त सूक्ष्म है [पुरुषात्] पुरुष से [परम्] सूक्ष्म [किञ्चित न] कुछ भी नहीं है [सा] वही [काष्ठा] स्थित की सीमा [सा] वही [परा गतिः] अन्तिम अवधि है ॥ ११ ॥

भावार्थः-इन दोनों श्लोकों में परमात्मा का सब से सूक्ष्म होना दिखलाया गया है। चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा उन के रूपादि विषय कुछ सूक्ष्म हैं। विषयों की अपेक्षा मन कुछ सूक्ष्म है और मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि से उस का

कारण महत्तत्व और महत्तत्व से भी उस का कारण प्रकृति (जो अव्यक्त और प्रधानादि नामों से प्रख्यात है) सूक्ष्म है। इस प्रकृति से भी पुरुष (जो समस्त अण्डकटाह में व्यापक है) अत्यन्त सूक्ष्म है। पुरुष से परे वा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है, वही सारे जगत् की परमगति और अन्तिम सीमा है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

पदार्थः-(सर्वेषु, भूतेषु) सब पदार्थों में (एषः) यह (गूढात्मा) गुप्त आत्मा (न प्रकाशते) स्थूलदृष्टि से नहीं देखा जाता (तु) किन्तु (अग्र्यया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते) देखा जाता है ॥ १२ ॥ ६६ ॥

भावार्थः-जिसकी वृत्ति बाह्य विषयों में लीन होने से फैली हुई है उसको यह अन्तरात्मा (जो गुप्तरूप से सब पदार्थों में ओत प्रोत हो रहा है) नहीं दीखता किन्तु यह तो तत्त्वदर्शियों से उस सूक्ष्म बुद्धि द्वारा (जो मानसिक वृत्तियों के समाधान से प्राप्त होती है) जाना जाता है ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥ ६७ ॥

पदार्थः-(प्राज्ञः) धीरपुरुष (मनसि) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) सब ओर से हटाकर लगा देवे (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के उपकरण बुद्धि में (यच्छेत्) ठहरावे (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति, आत्मनि

इसके कारण महत्त्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महत्तत्त्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ॥ १३ ॥

भावार्थः-जिज्ञासु के लिये अध्यात्मयोग का क्रम बतलाते हैं। पहले वाणी को (जो बाह्य व्यापारों को उत्पन्न करती है) मनमें रोके. फिर मन को (जो भीतर ही भीतर बाह्य व्यापारों का चित्र खींचता रहता है) बुद्धि में ठहरावे। तत्पश्चात् बुद्धि को (जो बाह्य वस्तुओं का बोध कराती और उनमें फँसाती है) महत्तत्त्व (अहङ्कार) में लीन करे और महत्तत्त्व को (जिससे रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं) उस आत्मा में (जहां सारे विकार और उपाधि शान्त होजाते हैं) युक्त कर देवे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥ ६८ ॥

पदार्थः-(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) अपने अभीष्टों का (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो-(निशिता) तीक्ष्ण (दुरत्यया) अति कठिन (क्षुरस्य, धारा) छुरे की धारा के समान (कवयः) कवि लोग (तत्) उस [पथः] मार्ग को [दुर्गम्] दुःख से प्राप्त होने योग्य [वदन्ति] कहते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः-हे मनुष्यो ! उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये उठो ! जागो !! महात्मा आचार्यों के उपदेश से ज्ञान को बढ़ाओ। क्योंकि जैसे सान पर चढ़े हुवे छुरे की धार तीक्ष्ण और कठिन होती है ऐसे ही यह श्रेयमार्ग भी बड़ा दुर्गम

और कठिन है। इसमें कोई विरला ही मनुष्य [जो शम दमादि साधनों से युक्त है चल सकता है ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥ ६९ ॥

पदार्थः-[यत्] जो ब्रह्म [अशब्दम्] शब्द नहीं जो कान से जाना जावे [अस्पर्शम्] स्पर्श नहीं, जो त्वचा से ग्रहण किया जावे [अरूपम्] रूप नहीं, जो चक्षु का विषय हो [तथा] वैसे ही [अरसम्] रस नहीं जो रसना का विषय हो [च] और [अगन्धवत्] गन्ध वाला नहीं, जो घ्राणागम्य हो। अतएव वह [अव्ययम्] अविनाशी [नित्यम्] सदा एक रस [अनादि] अनुत्पन्न [अनन्तम्] सीमारहित [महतः परम्] महत्तत्त्व से भी सूक्ष्म [ध्रुवम्] अचल है [तम्] उसको [निचाय्य] सम्यक् जानकर [मृत्युमुखात्] मौत के मुख से [प्रमुच्यते] छूट जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थः-जो ब्रह्म किसी इन्द्रिय का विषय न होने से अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्तादि विशेष गुण युक्त है, उसही को जानकर मनुष्य मौत के मुँह से छूटता है। वेद भगवान् भी कहते हैं "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अर्थात् केवल उसही को जानकर मनुष्य मौत को जीत सकता है और कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्। उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते १६।७०

पदार्थः-[नाचिकेतम्] नचिकेता से ग्रहण किये गये [मृत्युप्रोक्तम्] मृत्यु से उपदेश किये गये [सनातनम्] आ-

चीन [उपाख्यानम्] आख्यान को [उक्त्वा] कहकर [श्रुत्वा, च] सुनकर भी [मेधावी] विवेकी पुरुष [ब्रह्मलोके] ब्रह्म के पद में [महीयते] बड़ाई को प्राप्त होना है ॥ १६ ॥ ७० ॥

भावार्थ-अब दो श्लोकों में उक्त उपाख्यान का फल वर्णन करते हैं, जो जिज्ञासु भक्ति और श्रद्धा के साथ इस उपाख्यान को [जो मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उपदेश किया है] सुनते और सुनाते हैं वे कालान्तर में ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बनकर ब्रह्म के पद को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रतयः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥ ७१ ॥

पदार्थः-[यः] जो पुरुष [प्रयतः] सावधान हो कर [इमम्] इस [परमम्, गुह्यम्] परमगुप्त आख्यान को [ब्रह्मसंसदि] ब्राह्मणों की सभा में [वा] या [श्राद्धकाले] श्रद्धा से किये जाने वाले सत्कार्य्य के अवसर पर [श्रावयेत्] सुनावे [तत्] वह [आनन्त्याय] अनन्त फल की प्राप्ति के लिये [कल्पते] समर्थ होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः-जो पुरुष इस पवित्र उपाख्यान को ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों की सभा वा श्राद्धादि सत्कर्मों के अनुष्ठान के अवसर पर सुनते सुनाते हैं, उनका आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र संस्कारों से युक्त होता हुआ अनन्त फल की प्राप्ति के लिए समर्थ होता है । द्विर्वचन वीप्सा और वल्ली की समाप्ति जताने के लिये है ॥ १७ ॥

इति तृतीया वल्ली समाप्तः ।

अथ चतुर्थी वल्ली ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥ ७२ ॥

पदार्थः-[स्वयम्भूः] परमात्मा ने [खानि] इन्द्रियों को [पराञ्चि] बाह्य विषयों पर गिरने वाला [व्यतृणत्] किया है [तस्मात्] इस कारण मनुष्य [पराङ्] बाह्य विषयों को [पश्यति] देखता है [न, अन्तरात्मन्] अन्तरात्मा को नहीं [कश्चित्] कोई [आवृत्तचक्षुः] ध्यानशील [धीरः] विवेकीपुरुष [अमृतत्वम्] मोक्ष को [इच्छन्] चाहता हुवा [प्रत्यगात्मानम्] अन्तःकरणस्थ आत्मा को [ऐक्षत] ध्यान योग से देखता है ॥ १ ॥

भावार्थ-अब आत्मज्ञान के प्रतिबन्धों को कहते हैं । चक्षुरादि इन्द्रिय स्वभाव से ही रूपादि विषयों पर गिरने वाले हैं । इस लिये इन का अनुगामी पुरुष केवल बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं । कोई धीरपुरुष ही जिस ने अपने इन्द्रियों को बाह्यविषयों से हटा लिया है, मोक्षकी इच्छा करता हुवा ध्यानयोग से उस अन्तरात्मा को देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥ (७३)

पदार्थः-जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्यपदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुवे (कामान्) विषयवासनाओं के (अनुयन्ति) पीछे भागते हैं (ते) वे (विततस्य) फैले हुवे

(मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) फाँसे को (यन्ति) प्राप्त होते हैं, (अथ) और (धीराः) विवेकी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (इह) यहाँ (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में सुख को (न, प्रार्थयन्ते) नहीं चाहते ॥ २ ॥

भावार्थः-अज्ञानी पुरुष, इन्द्रिय और विषयों के संयोग होने पर वासनारूप रज्जु से आकर्षित हुये उन पर टूट पड़ते हैं, परन्तु वे उस मृत्यु के पाश को जो इन विषयों के भीतर फैला हुआ है, उन पक्षियों के समान जो दाने के लोभ से व्याध के जाल में गिर पड़ते हैं, नहीं देख सकते। परिणाम यह होता है कि वे मृत्युरूप व्याध के खाद्य (शिकार) बनते हैं। परन्तु विवेकी पुरुष जो ज्ञानदृष्टि से इन के परिणाम को देखते हैं, वह संसार के इन अनित्य पदार्थों में (जिन में सुख का आभास मात्र है, वास्तविक सुख नहीं) जी नहीं लगाते। किन्तु उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये जहाँ न शोक है न मोह, न भय है न दुःख, सर्वदा यत्न करते हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ३ ॥ (७४)

पदार्थः (येन) जिस (एतेन, एव) इस ही आत्मा की सत्ता से, प्राणी (रूपम्) रूप (रसम्) रस (गन्धम्) गन्ध (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) रतिजन्य सुखों को भी (विजानाति) जानता है, तब (अत्र) यहाँ (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रहजाता है ? (एतत्, वै तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

भावार्थः-इन्द्रियाँ ज्ञानोपलब्धि में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु जिस की सत्ता या शक्ति से यह अपने नियत अर्थों को ग्रहण करती हैं वही ब्रह्म है। जब सारे प्रत्ययों का निमित्त वही है तब उस के जान लेने पर क्या शेष रह जाता है ? कुछ भी नहीं। यदि कहो कि उक्त प्रत्ययों का निमित्त देहाभिमानी आत्मा है, न कि परमात्मा ? तो इस का उत्तर यह है कि देहाभिमानी आत्मा भी उस आत्मशक्ति के आधीन होने से (जो चराचर पदार्थों में व्याप्त हुई सब को नियमपूर्वक चला रही है) उक्त प्रत्ययों का स्वतन्त्र कारण नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र या अनपेक्ष कारण तो वही हो सकता है, जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता। सो ऐसा केवल ब्रह्म है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥ (७५)

पदार्थः-(येन जिस से (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जाग्रत अवस्था के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) अनुकूल देखता है. उस (महान्तम्) सब से बड़े (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर [धीरः] विवेकशील (न, शोचति) शोक से व्याकुल नहीं होता ॥ ४ ॥

भावार्थः-उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं। संसार के समस्त व्यवहार स्वप्न और जाग्रत् अवस्था के भीतर ही होते हैं। मनुष्य जाग्रत के व्यवहारों की स्वप्न में मानसिक रचना करता है और स्वाप्न अर्थों की जाग्रत में समालोचना करता है। बस इन्हीं के चक्र में पड़ा हुआ ठोकरें खाता है और कहीं शान्ति नहीं पाता। यह दोनों अवस्थायें जो मनुष्य को रात दिन भय और संशय के आवर्त्त में घुमा रही हैं केवल परमात्मा

की दया से ही शान्त और अनुकूल होसक्ती हैं अर्थात् आत्म-रत पुरुष प्रतिदिन इन अवस्थाओं में प्रवेश करता हुआ भी संसार के व्यवहारों में लिप्त नहीं होता, किन्तु वह सदा इन को ब्रह्म के साथ और ब्रह्म को इन के साथ देखता हुआ शोक से मुक्त होता है ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥ (७६)

पदार्थः-(यः) जो पुरुष (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्म-फल भोगने वाले (जीवम्) जीवात्मा के (अन्तिकात्) समी-पवर्ती (भूतभव्यस्य) हुवे और होने वाले जगत् के (ईशा-नम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को [वेद] जानता है [ततः] उस से [न, विजुगुप्सते] भय प्राप्त नहीं होता (एतत, वै, तत्) यही उस ब्रह्मज्ञान का फल है ॥ ५ ॥

भावार्थः-जो जन इस कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा के समीप ही विद्यमान अर्थात् इस में अनुप्रविष्ट हुवे उस चरा-चर और भूत भव्य जगत् के अधिष्ठाता परमात्मा को जानते हैं, उन को फिर किस का और क्या भय हो सकता है ? कुछ भी नहीं ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसोजातमद्भ्यः पूर्वमजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ।७७।

पदार्थः-(यः) जो जीवात्मा (अद्भ्यः) पञ्चभूतों से [पूर्वम्] पहले [अजायत] प्रकट हुवा [तपसः] ज्ञान व प्रकाश से भी [पूर्वम्] पहले [जातम्] वर्त्तमान [गुहाम्]

बुद्धि में [प्रविश्य] प्रवेश कर [भूतेभिः] कार्य्य कारण के साथ [तिष्ठन्तम्] स्थित परमात्मा को [व्यपश्यत] देखता है [एतत्, वै, तत्] यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

भावार्थः—'अप्' शब्द यहां पञ्चभूतों का उपलक्षण है । पञ्चभूतों की उत्पत्ति से पहले ज्ञान वा प्रकाश था, वह ज्ञान और प्रकाश भी जिससे प्रकट होता है, जो कार्य्य और कारण दोनों में व्याप्त होकर बुद्धि में स्थित है अर्थात् बुद्धि ही जिस को जान सकती है, वही ब्रह्म है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ।७८।

पदार्थः—(या) जो [देवतामयी] प्रकाशयुक्त [अदितिः] अखण्डित अर्थात् भ्रम और सन्देह से रहित बुद्धि [प्राणेन] प्राण के संयम से [सम्भवति] उत्पन्न होती है और [या] जो [तिष्ठन्तीम्] ठहरे हुये [गुहाम्] अन्तःकरण में [प्रविश्य] प्रवेश कर [भूतेभिः] शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है । (एतत्, वै, तत्) यही ब्रह्म ज्ञान का साधन है ॥७॥

भावार्थः—जो बुद्धि यम नियमादि के सेवन से शुद्ध और भ्रमरहित एवं प्राण के संयम से विकाशित होती है और जो अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई शरीरादि के साथ प्रकट होती है, उस के द्वारा ही योगी लोग उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥(७९)

पदार्थः-(जागृवद्भिः) ज्ञानियों से (हविष्मद्भिःमनुष्येभिः) कर्मकाण्डी मनुष्यों से भी-(अग्निः) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार धारण किये हुवे (गर्भ इव) गर्भ के समान तथा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदाः इव) भौतिक अग्नि के समान (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) उपासना करने के योग्य है (एतत्, वै, तत्) वही ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः-जैसे अग्नि दोनों काष्ठों में व्यापक है परन्तु बिना संघर्षण के उत्पन्न नहीं होता एवं गर्भिणी की कुक्षि में गर्भ विद्यमान है, परन्तु बिना यथोचित आहाराचार के वह सुरक्षित नहीं रह सकता, इसी प्रकार परमात्मा भी यद्यपि सर्वत्र व्यापक है तथापि जो अपने हृदय मन्दिर में प्रतिदिन और प्रतिक्षण उस की उपासना नहीं करते, उन को वह अप्राप्य है। तात्पर्य यह है कि जैसे गर्भिणी का ध्यान प्रतिक्षण गर्भ में ही लगा रहता है, इसी प्रकार मुमुक्षुजनों को ब्रह्मपरायण होना चाहिये ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥ (८०)

पदार्थः-(यतः) जहाँ से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र, च) जिस में ही (अस्तम्) लीन (गच्छति) होजाता है । (तम्) उस परमात्मा को [सर्वे, देवाः] सारे देवता (अर्पिताः) प्राप्त हैं (तत्, उ) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता (एतत् वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ९ ॥

भावार्थः-सब देवताओं में बड़ा और प्रधान होने से सूर्य यहाँ पर उपलक्ष माना गया है अर्थात् जिन के सामर्थ्य से सूर्य उत्पन्न होता है और उस में ही विलीन होजाता है। अन्य भी वायु आदि सारे देवता रथनाभि में अराओं की भाँति जिस में अर्पित हैं अर्थात् उसी की दी हुई शक्ति से अपनी २ परिधि में काम करते हैं, वही ब्रह्म है और उस का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥ (८१)

पदार्थः-(यत्)जो ब्रह्म (इह) इस जन्म में हमारे कर्मों का व्यवस्थापक है (तत् एव) वह ही (अमुत्र) परजन्म में भी हमारा नियन्ता है और (यत्) जो (अमुत्र) परजन्म में हमारा ईशिता है (तत्) वह (अनु, इह) यहाँ पर भी अध्यक्ष है। (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म में [नाना, इव] भिन्न भाव की सी (पश्यति दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से [मृत्युम्] मृत्यु को (आप्नोति) पाता है ॥ १० ॥

भावार्थः-जैसे योनिभेद अथवा अवस्थाभेद से जीव के गुण, कर्म, स्वभाव बदल जाते हैं, ऐसे ब्रह्म के नहीं। वह तो सदा एक रस होने से जैसा अब है वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा। जो उस एक और अद्वैत ब्रह्म में नानात्व की कल्पना करते हैं अर्थात् अनेक भाव और बुद्धि उस में रखते हैं वे बारंबार मृत्यु का ग्रास बनते हैं ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥(८२)

पदार्थः-(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) ज्ञानपूता बुद्धि से ही (आप्तव्यम्) जानने योग्य है [इह] इस ब्रह्म में [नाना] भेदभाव [किञ्चन] कुछ भी [न, अस्ति] नहीं है [यः] जो भेदवादी (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) अनेकत्व की सी [पश्यति] कल्पना करता है [सः] वह [मृत्युः] मृत्यु से [मृत्युम्] मृत्यु को (गच्छति) जाता है॥११॥

भावार्थः—उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं। जो ब्रह्म केवल ज्ञान से पवित्र की हुई बुद्धि से जाना जाता है उस में नानात्व बुद्धि होने से मनुष्य उस सेवक की भाँति जिस के कई स्वामी हों, भ्रान्ति में पड़ जाता है। इस लिये उस में नानात्व की कल्पना करने वाला अर्थात् उस में भिन्न २ बुद्धि रखने वाला कभी शान्ति को नहीं पाता॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।
एतद्वै तत्॥ १२॥ (८३)

पदार्थः-(भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदय पुण्डरीक में रहने वाला (आत्मनि) शरीर के (मध्ये) बीच में (तिष्ठति) रहता है (ततः) उसके ज्ञान से (न विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है॥ १२॥

भावार्थः—हृत्पुण्डरीक जो जीवात्मा का निवास स्थान है, उस का परिमाण अङ्गुष्ठ के बराबर है। यद्यपि पुरुष होने से ब्रह्म उस में बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह एकरस होने से सर्वत्र परिपूर्ण है तथापि जीवात्मा के तादात्म्य सम्बन्ध से

और उस ही देश में ध्यानयोग द्वारा उस की प्राप्ति होने से शरीर के मध्य में उस की स्थिति कही गई है। इस से कोई उसे एक देशीय न समझ बैठे क्योंकि सामान्य प्रकार से तो उस की सत्ता सभी पदार्थों में है। किन्तु हृत्पुण्डरीक में इसलिये कहा है कि वहां उस की प्राप्ति जीवात्मा को सहज है। बस जिस का जहां पर दर्शन होता है वहीं उस की स्थिति कही जाती है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।
एतद्वै तत्॥ १३॥ (८४)

पदार्थः-(अङ्गुष्ठमात्रः) वही अङ्गुष्ठमात्रस्थानीय (पुरुषः) परिपूर्ण आत्मा (अधूमकः) धूमरहित (ज्योतिः, इव) ज्योति के समान (भूतभव्यस्य) अतीत और अनागत का (ईशानः) स्वामी है (सः एव) वही (अद्य) आज और (सः उ) वही (श्वः) कल है (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है॥ १३॥

भावार्थः-जो केवल प्रकाशमय है, जिस में अन्धकार का लेश नहीं, वही हृदयेश्वर पुरुष भूत और भविष्यत् का स्वामी है। जो होकर न रहे, उसे भूत कहते हैं और जो न होकर होवे भविष्य है। आत्मा जो कि सर्वदा एक रस है, इस लिये भूत या भविष्य के बन्धन में नहीं आ सकता और जो जिस के बन्धन में नहीं है, वही उस का ईशान (स्वामी) है॥ १३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥ १४॥ (८५)

पदार्थः-(यथा) जैसे (दुर्गे) विषम देश में (वृष्टम्) वर्षा हुवा (उदकम्) जल (पर्वतेषु) निम्नस्थलों में [विधावति] बहता है (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को गुणी से (पृथक्) अलग (पश्यन्] देखता हुवा (तान्, एव) उन्हीं गुणों का (अनुविधावति) अनुधावन करता है ॥ १४ ॥ (८५)

भावार्थः-जैसे जल का स्वभाव नीचे बहने का है। ऐसे ही गुण-अपने गुणी का अनुधावन करते हैं अर्थात् समवाय सम्बन्ध से गुण सदा अपने गुणी में रहते हैं। जो मनुष्य गुणों को गुणीसे पृथक् जानताहै अर्थात् गुण में ही द्रव्य बुद्धि रखता है वह आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता, किन्तु उन गुणों में ही रमण करता है ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥(८६)

पदार्थः-हे (गौतम) नचिकेतः ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ और समदेश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुवा (तादृग, एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) जानने वाले (मुनेः) मननशील का (आत्मा) ज्ञाता (भवति) होता है ॥ १५ ॥ (८६)

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गौतम के पुत्र ! जैसे स्वच्छ और समधरातल भूमि में सींचा हुवा जल वहत् हो जाताहै, ऐसे ही विज्ञानी पुरुष का आत्मा सरलऔर समदर्शी हो जाता है अर्थात् जल में मलिनता और कुटिलता तभी तक है जब तक वह शुद्ध और समभूमि में प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा में भी मालिन्य और कौटिल्य

तभी तक रहता है, जब तक यह उस शुद्ध और शान्त ब्रह्म का आश्रय नहीं लेता ॥ १५ ॥

इति चतुर्थी वल्ली समाप्ता

अथ पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥ १ ॥ (८७)

पदार्थः-[अवक्रचेतसः] सरल चित्त वाले [अजस्य] अनुत्पन्न जीवात्मा के [एकादशद्वारम्] ग्यारह दरवाज़े वाले [पुरम्] शरीर को [अनुष्ठाय] अनुष्ठान करके [न, शोचति] नहीं सोचता [च] और [विमुक्तः] मुक्त हुवा [विमुच्यते] छूटता है [एतत्, वै, तत्] यही उस विज्ञान का फल है ॥ १ ॥

भावार्थः-जो राजा पुर के दरवाज़ों को (जिन में होकर नगर में प्रवेश किया जाता है) दृढ़ और सुरक्षित रखता है, उस को शत्रु का भय नहीं होता । इसी प्रकार जो मनुष्य इस ग्यारह दरवाज़े * वाले शरीर को वर्णाश्रमसम्बन्धी धर्म के पालन और अनुष्ठान से दृढ़ और पवित्र बना लेते हैं, वे तीनों ऋणों से + मुक्त होकर मोक्ष के अधिकारी बनते हैं ॥१॥

* शरीर के ग्यारह दरवाज़े ये हैं:-दो आंख के, दो कान के दो नाक के, एक मुंह का, एक पायु का, एक उपस्थ का, एक नाभि का और एक कपाल का ॥

+ ये तीन ऋण हैं:-देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत्॥ २॥ (८८)

पदार्थः—[हंसः] एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीवात्मा [शुचिषद्] शुद्धदेश में स्थित [वसुः] अनेक योनियों में वास करने वाला [अन्तरिक्षसत्] हृदयाकाश में स्थित [होता] यज्ञादि का सेवन करने वाला [वेदिषत्] स्थलचारी [अतिथिः] अभ्यागत के समान एकत्र स्थित न रहने वाला [दुरोणसत्] कुटीचर [नृषत्] मनुष्य शरीर धारी [वरसत्] देव और ऋषि शरीरधारी [ऋतसत्] ब्रह्म अथवा सत्यमें प्रतिष्ठित [व्योमसत्] नभश्चारी [अब्जाः] जलचर [गोजाः] पृथिवी में उत्पन्न होने वाले वनस्पत्यादि [ऋतजाः] यज्ञिय ओषध्यादि [अद्रिजाः] पर्वतों में उत्पन्न होने वाला भी [ऋतम्, बृहत्] अपने स्वरूप से अविचल है॥ २॥

भावार्थः—जीवात्मा अपने कर्मानुसार अनेक गतियों को प्राप्त होता है, वही इस श्लोक में दिखलाई गई हैं। कहीं यह स्थलचर होकर पृथिवी में विचरता है और कहीं जलचर होकर जल में निवास करता है।

एवं कहीं नभश्चर होकर आकाश में गमन करता है। कहीं वनस्पति और ओषध्यादि में जाकर प्रकट होता है और कहीं मनुष्य, देव, ऋषि आदि के शरीर में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। यद्यपि कर्मानुसार जीवात्मा अनेक योनियों को प्राप्त होता और भिन्न २ दशाओं का अनुभव करता है, तथापि अपने स्वरूप से नित्य और अपरिणामी है॥ २॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥३॥८९

पदार्थः—जो साधक (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) हृदय से ऊपर मस्तक में (उन्नयति) ले जाता है (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) हृदय से नीचे उदर में अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) सेवनीय जीवात्मा को (विश्वे, देवाः) समस्त प्राण और इन्द्रियां (उपासते) सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—कण्ठ और नाभि के बीच में हृत्पुण्डरीकदेश है, यहां जीवात्मा अपने परिपवर्ग सहित विराजमान है। वहां उसकी सेवा में समस्त प्राण और इन्द्रिय (जैसे भृत्यजन अपने स्वामी की सेवा में तत्पर होते हैं) तत्पर हैं। प्राण वायु को हृदय से ऊपर और अपान वायु को नीचे लेजाने से आत्मा को अवकाश मिलता है, जिसमें वह उस प्रकाश को देखता है, जिससे यह सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥३॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥
एतद्वै तत् ॥ ४ ॥ ९० ॥

पदार्थः—(अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीरस्थ (देहिनः) आत्मा के (विस्रंस्यमानस्य) विध्वंस होते हुये अर्थात् (देहात्) देह से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुये (अत्र) यहां (किम्) क्या परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतत्, वै, तत्) यही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो जिसके होने से होता और न होने से नहीं होता वह उसी का समझाजाता है। यह अस्मदादि का शरीर

प्राण एवं इन्द्रियकलाप सहित आत्मा की विद्यमानता से ही प्रविचेष्टित होता है। जब आत्मा इस विशरण होने वाले शरीर से पृथक् होजाता है, तब इसमें कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् न प्राण चेष्टा करसकते हैं और न इन्द्रियां अपने अर्थों को ग्रहण कर सकती हैं अर्थात् सारी शक्तियां और उनके काम इसके शरीर से अलग होते ही बन्द होजाते हैं। अतः सात्मक शरीर ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का भी साधन होसकता है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥६

पदार्थः—(कश्चन) कोई भी (मर्त्यः) मनुष्य (न,प्राणेन) न प्राण से (न, अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (यस्मिन्) जिसमें (एतौ) यह दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं (इतरेण) उस प्राण अपान से भिन्न आत्मा से (जीवन्ति) जीते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—प्राण और अपान से कोई प्राणी नहीं जीता क्योंकि वे अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु ये सब जिसके आश्रित हैं अर्थात् जिसके होने से अपनी २ क्रिया करते हैं और न होने से नहीं, वही इन सबका अधिष्ठाता आत्मा है और उसीसे सब प्राणी जीवन धारण करते हैं।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥६२

पदार्थः—हे (गौतम) गौतमवंशोत्पन्न ! (हन्त) कृपापूर्वक (ते) तेरे लिये (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातनम्) अनादि (ब्रह्म) आत्मा को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा (च)

और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः–मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गौतम ! मैं तेरे लिये इस सनातन ब्रह्म का उपदेश करूंगा, जिसके जानने से मनुष्य मुझको जीत लेता है और उसको न जानने की दशा में जिस प्रकार यह जीवात्मा वारंवार मेरे वश में होकर जन्म धारण करता है, वह भी तेरे प्रति कहता हूं ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥६६

पदार्थः–(अन्ये) कोई (देहिनः) प्राणी (यथाकर्म, यथाश्रुतम्) अपने २ कर्म और तज्जनित वासनाओं के अनुसार (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (योनिम्) जङ्गम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) कोई घोर पापाचारी (स्थाणुम्) स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) मरणानन्तर प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः–जो जन ब्रह्मज्ञान से विमुख हैं वे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय की रज्जु में बंधे हुये नाना प्रकार के जाति आयु और भोगरूप फलों को प्राप्त होते हैं। जिन के शुभकर्म अधिक हैं वे देवत्व वा ऋषित्व को, जिन के शुभाऽशुभ दोनों बराबर हैं वे मनुष्यत्व को और जिन के अशुभकर्म अधिक हैं वे तिर्यक् योनियों को प्राप्त होते हैं। जब तक वे उस शुद्ध और निर्विकल्प पद के अधिकारी नहीं बनते तब तक इसी प्रकार जन्म मरण के चक्र में घूमते हैं ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥८॥६४

पदार्थः-(यः, एषः) जो यह अन्तर्यामी (पुरुषः) सब में व्याप्त (कामं, कामम्) यथेच्छ (निर्मिमाणः) सब जगत् को रचता हुआ (सुप्तेषु) सोते हुवे जीवों में (जागर्ति ; जागता है (तत, एव) वही (शुक्रम्) शुद्ध (तद्ब्रह्म) वही सब से बड़ा (तद्, एव) वही (अमृतम्) अपरिणामी (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे, लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुवे हैं (तद्, उ) उस को (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं करसकता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः-अब इस श्लोक में पुनः परमात्मा का वर्णन है। जो पुरुष त्रिगुणात्मक प्रकृति से सारे जगत् को निर्माण करता हुआ सत्, रज, तम इन तीन गुणों का यथायोग्य विभाग करता है और आप इन गुणों में लिप्त नहीं होता तथा उक्त गुणों की शय्या में सोते हुवे जीवात्माओं को भी कर्मानुसार फल देकर जो जागता रहता है, वही शुद्ध और सनातन ब्रह्म है। उसी में ये पृथिव्यादि लोक आश्रित हैं। उस का कोई भी पदार्थ अतिक्रमण नहीं कर सक्ता ॥ ८ ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ (६५)

पदार्थः-(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक ही भौतिक अग्नि (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुआ (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक वस्तु के

(प्रतिरूपः) तुल्य रूपवाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) उन के रूपादि धर्मों से वह पृथक् है ॥ ६ ॥

भावार्थः—अब अग्नि के दृष्टान्त से परमात्मा की व्यापकता का निरूपण करते हैं। जैसे एकही अग्नि भिन्न२ पदार्थों में प्रविष्ट हुआ तत्तदाकार में प्रतिभासित होता है, वस्तुतः अग्नि उनसे पृथक् है। इसी प्रकार वह अन्तर्यामी आत्मा भी सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक हुआ अज्ञानी पुरुषों को तत्तदाकारवान् सा प्रतीत होता है। वास्तव में वह उन से अत्यन्त भिन्न व विलक्षण है ॥ ६ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति-
रूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥ (६६)

पदार्थः (यथा) जैसे (एकः, वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुवा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का आत्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) वह उनसे पृथक् है ॥ १० ॥

भावार्थः—अब उसी आत्मसत्ता को वायु के दृष्टान्त से निरूपण करते हैं। इसका आशय भी पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षु-
षैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न
लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११ ॥ (६७)

पदार्थः-(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आंख है। पर (चाक्षुषैः, बाह्यदोषैः) चक्षुः-सम्बन्धी बाह्यदोषों से (न,लिप्यते) लिप्त नहीं होता (तथा) ऐसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी आत्मा (बाह्यः) उनसे अलग लोकदुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भावार्थः-अब उसी विषय को सूर्य के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। जैसे सूर्य दर्शन हेतु होने से सारे जगत् की आँख है। अर्थात् सूर्य के ही प्रकाश से अस्मदादि की आँखें भी प्रकाशित होती हैं। आँखों में व्याप्त हुआ भी सूर्य का प्रकाश आँखों के दोषोंसे दूषित नहीं होता। इसीप्रकार समग्र संसार में व्याप्त हुवा आत्मा भी सांसारिक दोषों में लिप्त नहीं होता, किन्तु सदा उनसे पृथक् रहता है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥ (६८)

पदार्थः-(एकः) एक (वशी) सब जगत् को वश में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी है (यः) जो (एकं रूपम्) समष्टि रूप से एक प्रधान कारण को (बहुधा) व्यष्टिरूप से नाना प्रकार का [करोति] करता है [ये] जो [धीराः] ध्यानशील [तम्] उस [आत्मस्थम्] जीवात्मा में स्थित परमात्मा को [अनुपश्यन्ति] देखते हैं [तेषाम्] उनको [शाश्वतम्] सनातन [सुखम्] मुक्ति का सुख प्राप्त होता है [इतरेषाम्, न] अन्य संसारी पुरुषों को नहीं॥१२

भावार्थः-जो एक इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने अटल नियमों से चला रहा है, जिसकी आज्ञा वा नियम के विरुद्ध

कोई काम जगत् में नहीं हो सकता और न कोई पदार्थ जिस का अतिक्रमण कर सकता है, जो सृष्टि की आदि में एक प्रकृति को नाना नाम रूपों में परिणत करके इस कार्यरूप जगत् को विस्तार देता है। उस अन्तर्यामी रूप से सब में अवस्थित परमात्मा को ध्यानयोग से जो धीर पुरुष देखते हैं वे मुक्तिको प्राप्त होकर उस परमानन्द का अनुभव करते हैं, जिसको संसारी पुरुष कदापि उपलब्ध नहीं करसकते॥१२

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥ ९९

पदार्थः—[अनित्यानाम्] अनित्य पदार्थों में [नित्यः] नित्य [चेतनानाम्] चेतनों में [चेतनः] चेतन [बहूनाम्] बहुतसों में [एकः] एक है [यः] जो जीवों के प्रति [कामान्] कर्मफलों को [विदधाति] विधान करता है [तम्] उस [आत्मस्थम्] अन्तर्यामी को (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वती शान्तिः) परम शान्ति है (इतरेषाम्, न) औरों को नहीं ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो परमात्मा अनित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और बहुतसों में एक है और जो जीवों के लिये यथायोग्य कर्मफलों का विधान करता है। उसको जो ध्यानयोग से देखते हैं वे परम शान्ति के भागी बनते हैं, अन्य नहीं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परं सुखम्। कथन्नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥१४॥१००

पदार्थः—जिस (परमं सुखम्) परमानन्द को (तत्, एतत्, इति) "यह यह है" इस प्रकार (अनिर्देश्यम्) अङ्गुली निर्देश

से कहने अयोग्य (मन्यन्ते) मानते हैं (तत्) उसको (कथं न) कैसे (विजानीयाम्) जानूं (किम्, उ) क्या वह (भाति) प्रकाशित होता है (वा) या [विभाति] स्वयं प्रकाश करता है॥१४

भावार्थ—जो सुख अनिर्देश्य है अर्थात् "वह यह है" इस प्रकार अँगुली से निर्देश नहीं किया जा सकता, उसको हम किस प्रकार जान सकते हैं? क्या वह ब्रह्म जो उस आनन्द का कारण माना जाता है, प्रकाश के तुल्य भासित होता है अथवा सूर्यादि के सदृश स्वयं भासमान है? यह प्रश्न है॥१४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥ (१०१)

पदार्थः—[तत्र] उस ब्रह्म में [सूर्यः] सूर्य [न, भाति] नहीं प्रकाश कर सकता [न, चन्द्रतारकम्] चन्द्र और तारागण का प्रकाश भी वहां मन्द पड़ जाता है [इमाः विद्युतः] यह बिजलियां भी [न, भान्ति] वहां नहीं चमक सकतीं [अयम्] यह [अग्निः] भौतिक अग्नि [कुतः] कहां से प्रकाश करे, किन्तु [तम्, एव, भान्तम्] उसही स्वयं प्रकाशमान से [सर्वम्] सब सूर्यादि [अनुभाति] प्रकाशित होते हैं [तस्य] उसके [भासा] प्रकाश से [इदं, सर्वम्] यह सब [विभाति] स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है॥ १५॥

भावार्थः—इससे पहले श्लोक में पूछा गया था कि वह ब्रह्म सूर्यादि के समान प्रकाशित होता है अथवा स्वयं प्रकाश है। इस श्लोक में इसका उत्तर दिया जाता है कि उस ब्रह्म में यह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजुली आदि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते फिर अग्नि की तो कथा ही क्या है किन्तु ये सब

सूर्यादि उसीसे प्रकाशित होकर प्रकाशक बनते हैं। वह स्वयं प्रकाश होने से किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता क्यों-कि प्रलय में भी जब सूर्यादि का प्रकाश नहीं रहता, वह हिरण्यगर्भ रूप से [जिससे सारे प्रकाश उत्पन्न होते हैं] अवस्थित रहता है ॥ १५ ॥

॥ इति पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥

अथ षष्ठी वल्ली प्रारभ्यते ।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥१॥ (१०२)

पदार्थः-[ऊर्ध्वमूलः] ऊपर को मूल है जिस का [अधाक्शाखः] नीचे को शाखा हैं जिस की, ऐसा [एषः] यह [अश्वत्थः] अनित्य संसाररूप वृक्ष [सनातनः] प्रवाह से अनादि है। उक्त अनित्य परन्तु अनादि वृक्ष जिस के आधार में स्थित है वह ब्रह्म [तदु, एव, शुक्रम्] इत्यादि, पूर्ववत्॥१॥

भावार्थः-कार्य के देखने से कारण का ज्ञान होता है इस लिये इस कार्यरूप जगत् को अधिष्ठान मानकर इस के अधिष्ठाता ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। इस समस्त सृष्टि में मनुष्य के प्रधान होने से उस के ही शरीर का वृक्षालङ्कार से वर्णन करते हैं। जैसे वृक्ष का मूल नीचे को और शाखा ऊपर को होती हैं इस के विपरीत इस मनुष्य शरीररूप वृक्ष का मूल अर्थात् शिर ऊपर और हस्त पादादि शाखायें नीचे की ओर होती हैं। अश्वत्थ इसको इसलिये कहागयाहै कि यह कल को ठहरेगा या नहीं इस का कुछ भी भरोसा नहीं। सना-

तन इस लिये है कि प्रवाह से अनादि है अर्थात् जगत् के साथ साथ यह भी चला जाता है। बस यह मनुष्य शरीर जिस में प्रधान है ऐसे इस विचित्र जगत् को रचकर जिसने अपनी अमित महिमा का प्रकाश किया है वह ब्रह्म है, उसी में यह सारा संसार ठहरा हुआ है। उस के नियमों का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता॥ १॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२॥

पदार्थः-[यत्, किञ्च] जो कुछ [जगत्] संसार है [इदम्, सर्वम्] यह सब [प्राणे] परमात्मा की विद्यमानता में [एजति] चेष्टा करता है और उसी से [निःसृतम्] उत्पन्न हुवा है। वह ब्रह्म [उद्यतम् वज्रम्, इव] हाथ में लिये हुवे शस्त्र के समान [महद्भयम्] भय का हेतु है [ये] जो मनुष्य [एतत्] इस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं [ते] वे [अमृताः] मृत्यु से रहित [भवन्ति] होते हैं॥ २॥

भावार्थः-यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से चेष्टा करता है और उसीके भय से संसार के समस्त पदार्थ नियमानुसार अपना २ काम कर रहे हैं कोई उसकी मर्यादा को जो सर्गारम्भ में उसने स्थापित की है, उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इस प्रकार जो उसकी सत्ता और महिमा को जानते हैं वे मृत्यु को जीत कर अमर हो जाते हैं॥२॥

भावार्थः-यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से चेष्टा करता है और उसी के भय से संसार के समस्त पदार्थ नियमानुसार अपना २ काम कर रहे हैं कोई उस की मर्यादा को जो सर्गारम्भ में उसने स्थापित की है, उल्ल-

कथन नहीं कर सकता। इस प्रकार जो उसकी सत्ता और महिमा को जानते हैं वे मृत्यु को जीत कर अमर होजाते हैं॥२॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादि-न्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से(अग्निः) अग्नि (तपति) जलता है (भयात्) भयसे (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है (भयात्, च) भय से ही (इन्द्रः) विद्युत् (च) और (वायुः) पवन चमकते और चलते हैं तथा (पञ्चमः) पाँचवाँ (मृत्युः) काल [धावति] दौड़ता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-अब ब्रह्म की भयहेतुता दिखलाते हैं। अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु ये पाँचों उसी के भय से निरन्तर अपना २ काम कर रहे हैं। हमारे पाठक यहाँ भय शब्द को देख कर चौंकेंगे और अपने मन में कहेंगे कि क्या अग्नि आदि जड़ पदार्थ भी किसी से डरा करते हैं ? इस का उत्तर यह है कि यहाँ पर भय शब्द केवल इन की नियमानुकूलता जत-लाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, न कि अस्मदादि के समान भय से शङ्कित वा व्यथित होने में ॥ ३ ॥

इह चेदशकद्बोद्धुम्प्राक्शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥ (१०५

पदार्थः-(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहिले बोद्धुम्) जानने को (अशकत्) समर्थ होवे तो संसार के बन्धन से छूट जाता है, नहीं तो (ततः) आत्मा के न जानने से [सर्गेषु लोकेषु] विरचित लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने से पूर्व ही उस भय के कारण ब्रह्म के जानने में समर्थ होते हैं, वे भय से मुक्त हो जाते हैं। इतर अज्ञानी पुरुष बारम्बार सृष्टि में जन्म धारण कर मृत्यु आदि के भय से काँपते रहते हैं॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥ (१०६)

पदार्थः-(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में प्रतिबिम्ब दीखता है (तथा) तैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा प्रतिभासित होता है (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में जाग्रत् वासनोद्भूत संस्कार अविस्पष्ट होते हैं (तथा) तैसे (पितृलोके) सकाम कर्म करने वालों में आत्मा का दर्शन अविविक्त है (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) चारों ओर से स्पष्ट अवयव (ददृशे) दीखते हैं [तथा] तैसे (गन्धर्वलोके) विज्ञानी पुरुषों में आत्मा का दर्शन स्पष्टरूप से होता है। (छायातपयोः, इव) छाया और आतप के समान विस्पष्ट (ब्रह्मलोके) मुक्ति दशा में ब्रह्म का दर्शन होता है ॥ ५ ॥

भावार्थः-जैसी और जितनी स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखने के लिये स्वच्छ आदर्श की आवश्यकता है, वैसी और उतनी ही पवित्र आत्मा का दर्शन करने के लिये निर्मल एवं शुद्धभाव से भावित अन्तःकरण की अपेक्षा है। जैसे स्वप्नावस्था में जाग्रत् के व्यवहार स्पष्टरूप से नहीं दीखते। इसी प्रकार सकाम कर्म करने वालों को यथार्थरूप से आत्मा का दर्शन नहीं होता। जैसे जल में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखता है, ऐसे ही ज्ञानी

पुरुषों को स्पष्टरूप से आत्मा का दर्शन होता है और जैसे छाया और आतप भिन्न २ और स्पष्ट अवगत होते हैं। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्म और प्रकृति (जिसे माया भी कहते हैं) का भेद और स्वरूप स्पष्टतया अवगत होता है ॥५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति। ६। १०७

पदार्थः-[पृथगुत्पद्यमानानाम्] अपने २ रूपादि अर्थों को ग्रहण करने के लिये अपने २ अग्न्यादि कारण से पृथक् २ उत्पन्न हुवे [इन्द्रियाणाम्] चक्षुरादि इन्द्रियों का उस चेतन स्वरूप आत्मा से [पृथक्, भावम्] अत्यन्त पार्थक्य है [यत्] जो [उदयास्तमयौ] उत्पत्ति और विनाश एवं प्रादुर्भाव, तिरोभाव आदि धर्म भी शरीर और इन्द्रियों के ही हैं, आत्मा के नहीं। इस प्रकार [मत्वा] जान कर [धीराः] विवेकी [न, शोचति] शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

भावार्थः-जो लोग देहेन्द्रिय के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं मानते, वे देहादि के नाश में अपना विनाश समझते हुए रात दिन शोकसागरमें डूबे रहतेहैं और यह समझतेहैं कि मरते ही सारे सुखों का विलोप हो जायगा। इसके विपरीत जो आत्मा को शरीर और इन्द्रिय तथा इन के उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से पृथक् समझते हैं, वे शोक से मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।७। (१०८)
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥ (१०९)

पदार्थः-[इन्द्रियेभ्यः] शब्दादि अर्थ और उन के ग्राहक श्रोत्रादि इन्द्रियों से [मनः] उन का प्रेरक मन [परम्] सूक्ष्म है [मनसः] मन से [सत्त्वम्] सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि [उत्तमम्] उत्तम है [महतः] महत्तत्त्व से [अव्यक्तम्] प्रकृतिनाशक-प्रधान कारण [उत्तमम्] सूक्ष्म है ॥ ७ ॥ [अव्यक्तात्] सब के उपादान कारण प्रकृति से [तु] निश्चय [व्यापकः] सब में व्यापक [च] और [अलिङ्गः, एव] जिस का कोई चिह्न नहीं, ऐसा [पुरुषः] परमात्मा (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है [यत्] जिस को [ज्ञात्वा] जानकर (जन्तुः) प्राणी [मुच्यते] छूट जाता है (च) और [अमृतत्वम्] मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः-इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से प्रकृति और प्रकृति से भी अत्यन्त सूक्ष्म वह ब्रह्म है, जो सब में व्यापक और लिङ्ग वर्जित है, उस ही को जान-कर प्राणी देहादि बन्धन से छूट कर मुक्त होता है ॥ ८ ॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥ (११०)

पदार्थः-(अस्य) इस अचिन्त्य और अव्यक्त ब्रह्म का [सन्दृशे] समक्ष में [रूपम्] कोई रूप [न, तिष्ठति] नहीं ठहरता [एनम्] इस को [कश्चन] कोई भी [चक्षुषा] आंख आदि इन्द्रियों से [न, पश्यति] नहीं देख सकता [हृदा] हृदयस्थ [मनीषा] मनन करने वाली [मनसा] बुद्धि से [अभिक्लृप्तः] प्रकाशित हुआ जाना जा सकता है।

(ये) जो (एतत्) इस को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—जब वह ब्रह्म अलिङ्ग और अव्यक्त है, तब उस का दर्शन कैसे हो सकता है ? अत्यन्त में उस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सके । इसलिये स्थूलदृष्टि से कोई पुरुष उसको नहीं देख सकता । हां अन्तःस्थ बुद्धि की मननात्मिका वृत्ति से (जो समस्त सङ्कल्प विकल्पों के शान्त होने से उत्पन्न होती है) इस आत्मज्योति का दर्शन होता है । इस प्रकार जो योगी लोग उस ब्रह्म का दर्शन करते हैं, वे अमृत होकर सदा आनन्द पद में रमण करते हैं ॥ ६ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥
॥ १० ॥ (३११)

पदार्थः—(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पांच ज्ञानेन्द्रियां (मनसा, सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) विरुद्ध वा विविध चेष्टा नहीं करती (ताम्) उसको विद्वान लोग (परमां, गतिम्) सब से उत्कृष्ट मुक्ति की दशा (आहुः) कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—वह मनीषा बुद्धि क्योंकर प्राप्त हो सकती है ? यह कहते हैं । जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मनसहित ठहर जाती हैं अर्थात् अपने २ विषयों से उपरत होकर निराश्रय हो जाती हैं और बुद्धि भी आत्मविरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है, उस को योगीजन परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥ (११२)

पदार्थः-(ताम्) उस (स्थिराम्) अचल (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों के रोकने को (योगम्, इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब (अप्रमत्तः) प्रमादरहित (भवति) होता है (हि) जिस कारण (योगः) यह योग (प्रभवाप्ययौ) शुद्ध और शुभ संस्कारों का प्रवर्तक तथा अशुभ और मलिन संस्कारों का निवर्तक है ॥ ११ ॥

भावार्थः-उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं। पातंजलशास्त्र में भी योग का यही लक्षण किया गया है-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्त की वृत्तियों को जो इन्द्रियों के द्वारा बहिर्गत होती हैं, रोकने का नाम योग है। इस योग दशा को प्राप्त होकर मनुष्य विषयों से उदासीन हो जाता है और उसका हृदय शुद्धभाव और पवित्र संस्कारों से भावित होकर मलिन और नीच संस्कारों से शून्य हो जाता है ॥ ११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥(११३)

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥१४॥(११४)

पदार्थः-(न, चक्षुषा) न आंख से (न, मनसा) न मन से (नैव, वाचा) न वाणी से ही (प्राप्तुं, शक्यः) पाने योग्य है (अस्ति, इति) है, ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुवे पुरुष से (अन्यत्र) अतिरिक्त (तत) वह (कथम्) क्योंकर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥ (उभयोः) अस्ति, नास्ति इन दोनों में

(तत्त्वभावेन) तत्त्व की भावना से (अस्ति, इति, एव) है, ऐसा ही (उपलब्धव्य) जानना चाहिये (अस्ति, इति, एव) है, ऐसा ही (उपलब्धस्य) जानने वाले को (तत्त्वभावः) तत्त्वभाव (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ॥ १३ ॥

भावार्थः–वह ब्रह्म न तो वाणी से और न चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है। इसी लिये वह आगम पर श्रद्धा न रखने वाले केवल प्रत्यक्षवादियों को उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जिन का "है" ऐसा उस पर विश्वास है, वही उस को जान सकते हैं। है और नहीं है। इन दोनों में से "नहीं है" ऐसा जो विश्वास रखते हैं, वह इस जगत् को निर्मूल और निराधार मानते हैं, जो कभी हो नहीं सकता। इस लिये "है" ऐसा विश्वास रखकर ही उसको पाना चाहिये क्योंकि उस के बिना कभी तत्त्वों की सफलता अर्थात् जड़ परमाणुओं में कार्य बनने की योग्यता स्वयमेव हो ही नही सकती ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥(११४)

पदार्थः–(यदा) जब (सर्वे, कामाः) सम्पूर्ण काम और उन की वासनायें (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) बसी हुई हैं (प्रमुच्यन्ते) छूटती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) इस दशा में (ब्रह्म) परम पुरुष को (समश्नुते) सम्यक् प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः–जब सारी कामनायें और उनकी वासनायें जो चिरकालीन संस्कारों से जीवात्माओं के हृदय में बसी हुई हैं

आत्मोपलब्धि से विशीर्ण हो जाती हैं, तब यह मनुष्य मुक्त होता है क्योंकि वासना रज्जु के कट जाने से फिर कोई बन्धन का हेतु नहीं रहता। इस दशा में आत्मदर्शन की पूरी २ योग्यता इसको प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥ (११६)

पदार्थः—(यदा) जब (इह) इस संसार में (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे ग्रन्थयः) सारी गांठें (प्रभिद्यन्ते) टूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) शास्त्र का उपदेश है ॥ १५ ॥

भावार्थः—कामनाओं की जड़ कब उखड़ती है ? यह कहते हैं जब इस मनुष्य के हृदय की—यह शरीर मेरा है, धन मेरा है, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादि प्रकार के असत् प्रत्ययों को उत्पन्न कराने वाली सारी गांठें (जो अविद्या से पड़ जाती हैं) विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान के शस्त्र से छिन्न भिन्न हो जाती हैं, तब वह मनुष्य कामनाओं के जटिल एवं गहनचक्र से निकल कर मुक्त होजाता है। बस यही शास्त्रों का साररूप उपदेश है ॥ १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥ (११७)

पदार्थः—(हृदयस्य) हृदय की (शतम् एका च) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ी हैं (तासाम्) उन में से (एका)

एक (मूर्द्धानम्) मस्तक में (अभिनिस्सृता) जा निकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) मस्तक के छिद्र से (आयन्) निकलता हुआ जीवात्मा (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) अन्य शत नाड़ियें (उत्क्रमणे) प्राण के निकलने में (विष्वङ्) नानाविध गतियों की हेतु (भवन्ति) होती हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—योगियों के प्राण कैसे निकलते हैं ? यह कहते हैं । मनुष्य के हृदय में सब एक सौ नाड़ियाँ हैं, उन्हीं की शाखा प्रशाखायें सारे शरीर में फैली हैं । उनमें से एक नाड़ी (जो सुषुम्णा के नाम से प्रख्यात है) हृदय से सीधी मस्तक को चली गई है । योगियों के प्राण इसी नाड़ी के द्वारा मस्तक के छिद्र में होकर निकलते हैं, जिससे वे पुनः संसार में लौटकर नहीं आते । इसके विपरीत जो आत्म-तत्व से बहिर्मुख हैं, ऐसे संसारी जन अन्य नाड़ियों के द्वारा अन्य शरीर के छिद्रों से प्राण छोड़ कर नानाविध योनियों में घूमते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जा दिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्या- च्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥ (१८)

पदार्थः—(अन्तरात्मा) जो अन्तस्थ आत्मा (पुरुषः) शरीर में व्यापक (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठमात्र स्थान में रहने वाला है, वह (सदा) निरन्तर (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) अवस्थित है (तम्)

उस को (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्, इषीकाम्, इव) मूंज से जैसे सींक को निकालते हैं, ऐसे (स्वात, शरीरात्) अपने शरीर से (प्रवृहेत्) पृथक् करे (तम्) उसको (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने ॥ १७ ॥

भावार्थः-अब ग्रन्थ का उपसंहार करता हुवा कहता है। मनुष्य को सब से अधिक अपना शरीर प्रिय है, इसी से उस में राग भी अधिक है अर्थात् वह उपात्त शरीर को किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता किन्तु छोड़ने के नाम से उसको दुःख और उद्वेग उत्पन्न होता है। बस यही बड़ा भारी बन्धन है, जिस में फंसा हुवा मनुष्य अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। इसलिये मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपने आत्मा को शनै २ शरीर के बन्धन से पृथक करे। इस का यह आशय नहीं है कि आत्मघात करडाले। नहीं २ किन्तु शरीर के होते हुवे उस के सुख दुखादि धर्मों से आत्मा को पृथक् समझे अर्थात् शरीर मलायतन होने से अपवित्र और अनित्य होने से अपायी है, परन्तु आत्मा असंग होने से शुद्ध और नित्य होने से अविनाशी है। इसलिये वह शरीर और उसके धर्मों में लिप्त नहीं होता। ऐसा समझने ही से मनुष्य बन्धनों को काट सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्। ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥ (११९)

पदार्थः—(अथ) अब इस का फल दिखाते हैं (मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां, विद्याम्) इस विद्या को (च) और (कृत्स्नम्, योगविधिम्) सम्पूर्ण योग विधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेताः) नचिकेता (ब्रह्म, प्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुआ और (विरजः) विरक्त (विमृत्युः) मृत्यु भय से रहित (अभूत्) हुवा (अन्यः, अपि) अन्य भी (यः) जो (अध्यात्मम्, एव) अध्यात्मविद्या को ही (एवं, विद्) इस प्रकार जानता है, वह भी संसार से विरक्त होकर मृत्युरहित होजाता है ॥ १८ ॥

भावार्थः—अब इस विद्या का फल वर्णन करते हैं इस विद्या को सम्पूर्ण योगविधीसहित प्राप्त होकर नचिकेता संसार से विरक्त और जीवनमुक्त हुवा। अन्य भी जो इस अध्यात्म विद्या को इस प्रकार प्राप्त होगा वह संसार के सब बंधनों से छूटकर ब्रह्म के अनामयं पद को प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वी नावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥१६॥ १२०

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पदार्थः—परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों की (सह) एक साथ (अवतु) रक्षा करे (नौ) हम दोनों का (सह) साथ २ (भुनक्तु) पालन करे। हम दोनों (वीर्यम्) आत्मिकबल को (सह) साथ २ (करवावहै) प्राप्त करें (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) प्रभावोत्पादक वा फलदायक (अस्तु) हो। हम दोनों (मा,-विद्विषावहै) कभी आपस में द्वेष न करें और ईश्वर की कृपा

में हमारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार के ताप शान्त हों ॥ ६ ॥

भावार्थ—अब अन्त में प्रमादकृत दोषों की शान्ति के लिये गुरु शिष्य दोनों ईश्वर की प्रार्थना करते हैं हे परमात्मन्! हम दोनों की एक साथ रक्षा और पालन कीजिये। आप की कृपा से हम दोनों अपने अपने आत्मिकबल को साथ २ बढ़ावें तथा हमारा पढ़ा पढ़ाया और सुना सुनाया सब फलदायक हो और कभी हम आपस में द्वेष न करें। एवं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापों से सदा हमारी रक्षा कीजिये। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति षष्ठी वल्ली समाप्ता

इति श्री बद्रीदत्तशर्मकृता कठोपनिषद्भाषावृत्तिः समाप्ता

ओ३म्

—※(अथ)※—

प्रश्नोपनिषत् प्रारभ्यते

तत्र प्रथमः प्रश्नः

—:※:—

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥ १॥

पदार्थः—(सुकेशा, च, भारद्वाजः) भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, (शैब्यः, च, सत्यकामः) शिवि का पुत्र सत्यकाम, (सौर्य्यायणी, च, गार्ग्यः) सौर्य्य ऋषि का पुत्र गर्गकुलोत्पन्न गार्ग्य, (कौशल्यः, च, आश्वलायनः) अश्वल का पुत्र कौशल्य, (भार्गवः, वैदर्भिः) भृगुकुलोत्पन्न विदर्भि का पुत्र वैदर्भि, (कबन्धी, कात्यायनः,) औरकत्य का युवापुत्र कात्यायन कबन्धी (ते, ह, एते, ब्रह्मपराः, ब्रह्मनिष्ठाः,) वे ये ब्रह्म में तत्पर और ब्रह्मनिष्ठ (परं, ब्रह्म, अन्वेषमाणाः) परब्रह्म का अन्वेषण करते हुवे (ह, वै, निश्चय (एषः) यह (तत्, सर्वम् वक्ष्यति, इति) जो हमारा अभीष्ट है, उस सबको कहेगा, इस आशा से (ते, ह, समित्पाणयः) वे प्रसिद्ध समिध् हाथ में लिये हुवे (भगवन्तं, पिप्पलादम्) भगवान् पिप्पलाद ऋषि के (उपसन्नाः) समीप गये ॥ १ ॥

भावार्थः—सुकेशा, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य, वैदर्भि और कबन्धी; ये ६ ऋषिपुत्र, जो अपराविद्या में निष्णात होने से ब्रह्मपर और ब्रह्मनिष्ठ थे अर्थात् वेद वेदाङ्गों को पढ़ने से उत्कट ब्रह्म की जिज्ञासा इनको उत्पन्न हुई थी (इससे इनका ब्रह्मज्ञान के प्रति अनुराग दिखलाया गया है) परब्रह्म का अन्वेषण (खोज) करते हुवे जिज्ञासुमात्र से समित्पाणि होकर (यह भाव इनकी जिज्ञासा को सूचित करता है) भगवन् पिप्पलाद ऋषि के (इस आशा से कि यह हमारी प्यास बुझावेगा) पास पहुंचे ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा
ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ,
यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः
सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

पदार्थः—(तान्) उनको (सः ऋषिः) वह ऋषि (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (भूयः, एव) फिर भी (तपसा) द्वन्द्वसहिष्णुतादि तप से ब्रह्मचर्य्येण) इन्द्रियसंयम से (श्रद्धया) आस्तिकबुद्धि से युक्त होकर (संवत्सरम्) एक वर्ष तक (संवत्स्यथ) मेरे पास रहो. तदनन्तर (यथाकामम्) यथेष्ट (प्रश्नान्) प्रश्नों को (पृच्छथ) पूछो। (यदि) जो (विज्ञास्यामः) हम जानते होंगे वा तुम को अधिकारी जानेंगे तो (सर्वम्) सब (ह) स्पष्टरूप से (वः) तुम्हारे प्रति (वक्ष्यामः इति) वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

भावार्थः—पिप्पलाद ऋषि ने उन छहों ऋषि पुत्रों से कहा कि यदि तुम फिर भी (चाहे पहिले इनका सेवन कर चुके

हो) तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा को धारण करके एक वर्ष तक मेरे पास रहो, इसके अनन्तर अपनी इच्छानुसार प्रश्नों को पूछो। यदि मैं जानता हूंगा (इस से आचार्य अपनी न्यूनता नहीं, किन्तु निरभिमानता जतलाते हैं) अथवा तुमको अधिकारी समझूंगा, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूंगा। (आज कल के नवयुवकों को, जो बिना किसी साधन के केवल बातों-ही जमाखर्च से ब्रह्मज्ञानी बनना चाहते हैं तनिक इस पर ध्यान देना चाहिये) ॥ २ ॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ ।
भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥३॥

पदार्थः—(अथ) एक वर्ष के पश्चात् (कबन्धी, कात्यायनः) कत्य के युवा पुत्र कबन्धी ने (उपेत्य) पास आकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन्! (ह, वै) (निश्चयार्थक अव्यय) (कुतः) किस से (इमाः, प्रजाः) ये प्रजायें (प्रजायन्ते, इति) उत्पन्न होती हैं? ॥ ३ ॥

भावार्थः—ऋषि की आज्ञानुसार एक वर्ष तक यथोद्दिष्ट नियमों का पालन करते हुये इन्होंने अपने को अधिकारी सिद्ध कर दिखाया। तब कबन्धी ने ऋषि के पास जाकर यह प्रश्न किया कि भगवन्! ये प्रजायें अर्थात् चराचर सृष्टि किस से किस प्रकार उत्पन्न हुई है ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच—प्रजाकामो वै प्रजापतिः
स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनं-
मुत्पादयते । रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे
बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

पदार्थ:-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह ऋषि पिप्पलाद (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (वै) निश्चय (प्रजाकामः) सृष्टि के बनाने की इच्छा करता हुवा (सः प्रजापतिः) वह प्रजा का स्वामी (तपः, अतप्यत) तप तपता है (तपः, तप्त्वा) तप को तप कर (सः) वह (रयिं, च, प्राणं च) रयि और प्राणरूप (मिथुनम्) जोड़े को (उत्पादयते) उत्पन्न करता है कि (एतौ) ये दोनों (मे) मेरी (बहुधा, प्रजाः) बहुविध सृष्टि को (करिष्यतः इति) उत्पन्न करेंगे॥४॥

भावार्थः- पिप्पलाद ऋषि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुवे कहते हैं कि जब परमात्मा सृष्टि के बनाने की इच्छा करता है (इच्छा से यहां ईक्षणशक्ति लेनी चाहिये, न कि वासना) तो सब से पहिले ज्ञानमय तप करता है "यस्य ज्ञानमयं तपः" उस का ज्ञान ही तप है। दूसरे शब्दों में ज्ञान और क्रिया के योग का नाम तप है, इस को प्रकृति और पुरुष का संयोग भी कहते हैं अर्थात् प्रजापति परमात्मा अपने गुण विज्ञान को प्रकृति की शक्ति क्रिया में मिलाकर उस से एक जोड़ा उत्पन्न करता है, जिन को रयि और प्राण कहते हैं, जिन से यह सब सृष्टि उत्पन्न होती है। इन दोनों का विशेष व्याख्यान आगे मिलेगा ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः ।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च तस्मा-
न्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

पदार्थः-(ह, वै) प्रसिद्ध (आदित्यः) सूर्य, वा अग्नि ही (प्राणः) प्राण शब्दवाच्य है (चन्द्रमाः, एव) सोम वा अन्न

हो (रयिः) रयि शब्दवाच्य है (यत्, मूर्त्तं, च, अमूर्त्तं, च) जो स्थूल सूक्ष्म रूप जगत् है (एतत्, सर्वम्) यह सब (रयिः) रयि शब्दवाच्य है (तस्मात्) इस लिये (रयिः) रयि शब्द का विशेष वाच्यार्थ (मूर्त्तिः, एव) स्थूल ही है ॥ ५ ॥

भावार्थः—संसार में दो प्रकार के पदार्थ देखने में आते हैं, एक भोग्य और दूसरे भोक्ता, इन्हीं को आद्य और अत्ता भी कहते हैं। इन में भोग्य स्थूल और भोक्ता, सूक्ष्म होते हैं और जो भोग्य सूक्ष्म हैं वे भी भोक्ता की अपेक्षा स्थूल ही हैं। ऊपर की श्रुति में प्राण को आदित्य अर्थात् अग्नि रूप से भोक्ता कहा गया है और रयि को अन्न रूप से भोग्य, सो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि ही संसार के सब पदार्थों को भक्षण करता है। यथा सूर्य रूप से संसार के समस्त रसों को, भौतिक रूप से समीपस्थ अनेक पदार्थों को और जाठराग्नि रूप से अन्नादि विविध पदार्थों को अग्नि भक्षण करता है। इसी प्रकार रयि जिस को सोम कहा गया है, नानारूप से उस अग्नि का भक्ष्य बनता है, ऐसे—रस रूप से सूर्य का द्रवरूप से भौतिक अग्नि का और अन्नरूप से जाठराग्नि का आद्य बनता है। इसप्रकार प्राण अग्निमय होने से भोक्ता और रयि अन्नमय होने से भोग्य है। बस यही दो शक्तियां हैं, जिन के योग से यह जगत् बना है ॥

अब रही यह बात कि श्रुति में प्राण को आदित्य और रयि को चन्द्रमा क्यों कहा गया? इस का उत्तर यही है कि अग्नि का सूर्य से और अन्नादि औषधियों का चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध होने के कारण तथा सूर्य के भोक्तृशक्ति उत्तेजक होने से एवं चन्द्रमा के भोग्यशक्ति—उद्दीपक होने से प्राण को

आदित्य और रयि को चन्द्रमा कहा गया है। अगली श्रुतियों में भी इसी का व्याख्यान है ॥ ५ ॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति,
तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।
यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो
यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति,
तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अथ) अब (आदित्यः) सूर्य (उदयन्) उदय होता हुवा (यत्) जो (प्राचीं, दिशम्) पूर्व दिशा को (प्रविशति) प्रवेश करता है (तेन) उस से (प्राच्यान्, प्राणान्) पूर्वदिशास्थ वायुवों को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है (यत्, दक्षिणाम्) जो दक्षिण दिशा (यत्, प्रतीचीम्) जो पश्चिम (यत्, उदीचीम्) जो उत्तर (यत्, अधः) जो नीचे (यत्, ऊर्ध्वम्) जो ऊपर (यत्, अन्तराः, दिशः) जो बीच की विदिशाओं का (यत्, सर्वम्) जो सब को (प्रकाशयति (प्रकाशित करता है (तेन) उस प्रकाश से (सर्वान्, प्राणान्) सम्पूर्ण वायुमण्डल को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-पूर्व श्लोक में प्राण को आदित्य कहा गया था, इस श्रुति में उस का आदित्य से सम्बन्ध दिखलाते हैं:-सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण दिशाओं के सब पदार्थों को व्याप्त करता हुवा वायुमण्डल में प्रवेश करता है। शुद्ध हुवा वायु प्राणाश्रित भोक्तृशक्ति को (जो अग्निमय है) उद्दीप्त करता है। जो भोक्तृशक्ति रात्रि में सुषुप्ति के कारण दबी रहती है, वही

दिन में सूर्य की किरणों से जाग्रत् अवस्था के कारण उद्दीप्त हो जाती है, इस लिये सूर्य ही उस का उद्दीपक है। अब यह देखना चाहिये कि वह भोक्तृशक्ति प्राणों से क्या सम्बन्ध रखती है? इस के उत्तर में हम कह सकते हैं कि प्राण ही भोक्तृशक्ति का आधार है, बिना प्राण के भोक्तृशक्ति ठहर ही नहीं सकती, अप्राणियों में भोक्तृशक्ति का अभाव इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। बस इसीलिये श्रुति में कहा गया है कि सूर्य किरणों द्वारा वायु के साथ प्राणों में प्रविष्ट हो कर उन की शक्ति को उत्तेजित करता है ॥ ६ ॥

सएष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(सः, एषः) वह यह (वैश्वानरः) सब जीवों में प्रविष्ट (विश्वरूपः) अनेक प्रकार का (प्राणः) प्राणरूप वायु है, वही (अग्निः) आदित्य रूप से (उदयते) उदय होता है। (तद्, एतत्) यही बात (ऋचा) मन्त्र के द्वारा (अभि, उक्तम्) कही गई है ॥ ७ ॥

भावार्थः—वह यही प्राण, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है और जो अनेक रूप से प्राणियों में विचर रहा है, आदित्य रूप से उदय होता है अर्थात् सूर्य के प्रकाश से उत्तेजित होता है। यही बात अगले मन्त्र में भी कही गई है कि ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(विश्वरूपम्) सब पदार्थों में व्याप्त (हरिणम्)

किरणों वाले (जातवेदसम्) सब को जगाकर सुषुप्ति से चेतना में लाने वाले (परायणम्) सब के परम आश्रय (एकं, ज्योतिः) जगत् के एकमात्र चक्षु (तपन्तम्) प्रकाशमान सूर्य्य को विद्वान् लोग जानते हैं। कैसा जानते हैं ? कि (सहस्ररश्मिः) हज़ारों किरण वाला (शतधा, वर्त्तमानः) अनेक प्रकार से वर्त्तमान् (प्रजानां, प्राणः) प्रजाओं का प्राण अर्थात् जीवनाधार (एषः सूर्य्यः) वह सूर्य्य (उदयति) प्रकाशित होता है ॥ १८ ॥

भावार्थः—उक्तार्थ की पुष्टि में ही यह मन्त्र दिया गया है। इस से सूर्य्य का प्राणोत्तेजक होना दिखलाया गया है। जब सूर्य उदित होकर अपनी किरणों से प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करता है, तब सब प्राणीसमूह उद्बोधित होकर अपना कार्य्य करने में समर्थ होता है, सूर्य के अभाव में प्राणी प्राणों के होते हुवे भी जीव के सुषुप्तिगत होने से जड़वत् बने रहते हैं, सूर्य ही अपने प्रकाश से उनको जाग्रत् में लाकर चेतनावान् बनाता है। जैसे व्यष्टिगत प्राणों को विकाश देना सूर्य का काम है, ऐसे ही समष्टिगत प्राण अर्थात् वायुमण्डल का भी फैलाना और बढ़ाना सूर्य का ही काम है इस बात को पदार्थविद्या [सायन्स] के जानने वाले भले प्रकार जानते हैं कि गर्मी का हवा पर क्या प्रभाव पड़ता है ? बस इससे सिद्ध है कि प्राण [वायु] का पोषक या उत्तेजक एकमात्र अग्नि [आदित्य] ही है। इसीलिये इस प्रसङ्ग में उसको प्राण कहा गया है ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चो
त्तरञ्च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते

ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते तएव पुनरावर्त्तन्ते, तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ६ ॥

पदार्थः-(संवत्सरः वै) कालरूप संवत्सर ही (प्रजापतिः) प्रजा को धारण करने से प्रजापति है (तस्य) उसके (दक्षिणं, च, उत्तरं, च) दक्षिणायन और उत्तरायण (अयने) दो अयन भाग हैं। (तद्, ये, ह, वै,) सो निश्चय करके जो लोग (तद्, इष्टापूर्ते, कृतम् इति, उपासते) तपोयज्ञादि-इष्ट और वापीकूप तड़ागादि-पूर्त्त: इन कर्त्तव्य कर्मों को ही कर्त्तव्य की पराकाष्ठा जानकर अनुष्ठान करते हैं, अकर्त्तव्यों का नहीं (ते) वे (चान्द्रमसम् , एव, लोकम्) चन्द्रलोक को अथवा रयि सम्बन्धी अन्नादि ऐश्वर्य को ही (अभि जयन्ते) सब ओर से जीत लेते हैं [ते एव] वे ही (पुनः) फिर [आवर्त्तन्ते] संसार में लौटते हैं [तस्मात्] इसलिये [प्रजाकामाः] सन्तानादि ऐश्वर्य की कामना वाले [एते, ऋषयः] इष्टापूर्त के उपासक ये ऋषि लोग (दक्षिणम्) दक्षिणायन-सम्बन्धी चन्द्रलोक को (प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (यः, पितृयाणः) जो पितरों अर्थात् उक्त इष्टापूर्त की उपासना से पुनः आवृत्त होने वालों का मार्ग है (एषः, ह, वै, रयिः) यही निश्चय करके रयि कहाता है ॥ ६ ॥

भावार्थः- चौथे श्लोक में कहा गया था कि प्रजापति ने सृष्टि बनाने के लिये सबसे पहिले प्राण और रयिरूप जोड़े को उत्पन्न किया, जिनका कि संक्षेप से वर्णन भी हो चुका है। अब इस श्लोक में इन दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति दिखलाते हैं:—

आदित्य रूप से प्राण और चन्द्ररूप से रयि, दोनों मिलकर संवत्सररूप सन्तान को (जिसके दक्षिणायन उत्तरायण दो विभाग हैं) उत्पन्न करते हैं, जिस में से दक्षिणायन में सूर्य्य की किरणें तिरछी पड़जाने से मन्द हो जाती हैं, इसी लिये उसका चन्द्रलोक से विशेष सम्बन्ध माना गया है। इसी में वर्षाऋतु के होने से फल, फूल, अन्न, ओषधि और वनस्पति आदि प्राणियों के भक्ष्य पदार्थ बहुतायत से उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा इष्टापूर्त का अनुष्ठान किया जा सकता है। यज्ञ और प्रपादानादि कर्मों को इष्टापूर्त कहते हैं, इनका कर्त्तव्य बुद्धि से आचरण करने वाले अपने पुण्यप्रताप से चन्द्रलोक को (जो रयि का अधिष्ठान है) जीतते हैं अर्थात् चन्द्रलोक में जाकर जन्म लेते हैं अथवा यहीं पर नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्यादि के स्वामी बनते हैं। यही पितृयाण है; जिसका दक्षिणायन से विशेष सम्बन्ध है। इष्टापूर्त के उपासक इसी के द्वारा भोगैश्वर्य को प्राप्त होते हैं जो कि संवत्सर ही ऋतुपरिवर्त्तन द्वारा सम्पूर्ण प्रजा की पुष्टि और स्थितिका अधिकरण है, इसीलिये श्रुति में उसको प्रजापति कहा गया है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेषः श्लोकः ॥ १० ॥

पदार्थः—(अथ) और (उत्तरेण) उत्तरायण के द्वारा (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियदमन से (श्रद्धया) श्रद्धा से (विद्यया) परा विद्या से (आत्मानम्) प्राण के भी आधार आत्मा को (अन्विष्य) खोज कर (आदित्यम्) सूर्य्य

लोक को (अभिजयन्ते) सब ओर से जीतते हैं (एतत्, वे) यही (प्राणानाम्) प्राणों का (आयतनम्) स्थान है (एतत्) यह (अमृतम्) अविनाशि (अभयम्) भयरहित है (एतत्) यह (परायणम्) परम पद है (एतस्मात्) इससे (न, पुनरावर्त्तन्ते) फिर लौट कर नहीं आते (इति) इस प्रकार (एषः) यह (निरोधः) पाप और तज्जन्य संस्कारों की रुकावट है (तत्) सो (एषः) यह (श्लोकः) अथर्व ९।५।९ का मन्त्र भी है कि:—॥ १० ॥ (देखो अगला मन्त्र)

भावार्थ:—इससे पहिली श्रुति में दक्षिणायन और उस से विशेष सम्बन्ध रखने वाले इष्टापूर्त्त आदि शुभ कर्मों का फल बतलाया गया था, अब इस श्रुति में उत्तरायण और उसमें होने वाले ज्ञानयज्ञ का फल दिखलाते हैं:—तप आदि साधनों से जो विज्ञान के अधिकारी बनकर अविनाशी आत्मा को जानते हैं, वे अपने परमपुरुषार्थ से आदित्य लोक को जीतकर उस परमपद के भागी बनते हैं, जो प्राणों का आश्रय, अमृत, अभय और सारे सुखों की पराकाष्ठा है, उसको पाकर फिर वे नीचे नहीं गिरते। अब यहाँ पर एक प्रश्न यह होता है कि कर्म के लिये दक्षिणायन और ज्ञान के लिये उत्तरायण क्यों विशिष्ट किया गया? क्या उत्तरायण में कोई कर्मयज्ञ और दक्षिणायन में ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकता? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उत्तरायण किसी को इष्टापूर्त्तादि कर्म करने से और दक्षिणायन किसी को अध्यात्मयोगादि ज्ञान के साधनों की उपलब्धि से सर्वथा नहीं रोकते, तथापि दक्षिणायन में भोग्यशक्ति के प्रबल होने से अन्नादि भोग्य पदार्थों से होने वाले यज्ञादि कर्मों के करने में सुगमता होती है, इसीलिये चातुर्मास्यादि योग दक्षिणा-

यन में किये जाते हैं। इसी प्रकार उत्तरायण में भोक्तृशक्ति के उद्दीप्त होने से आत्मज्ञान के उपयोगी स्वाध्यायादि ज्ञानोपलब्धि के साधनों में अनुकूलता प्राप्त होती है। अथवा यहां पर अवरपर्याय दक्षिण शब्द है और परपर्याय उत्तर शब्द। अवर कर्म है, इसलिये उसका सम्बन्ध दक्षिणायन से बतलाया गया है और पर ज्ञान है इसलिये उस का निर्देश उत्तरायण के साथ किया गया है। दूसरा प्रश्न यह है कि कर्म से चन्द्रलोक और ज्ञान से सूर्यलोक का जीतना क्या बात है? इस का उत्तर यह है कि पांचवीं श्रुति में रयि नाम चन्द्रमा का और आदित्य नाम प्राण का बतलाया गया था, उस के अनुसार इस का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कर्मनिष्ठ(पुरुषार्थी) जन अपने पुरुषार्थसे रयि (ऐश्वर्य) को प्राप्त होतेहैं और ज्ञाननिष्ठ(योगी) लोग अपने विज्ञानबल से आदित्य (प्राण) को जीतकर मोक्ष के भागी बनते हैं। अथवा "चदि, आह्लादे" धातु से चन्द्र शब्द बनता है। जिस स्थान में सुख विशेष हो उसे चन्द्रलोक कहते हैं। तथा "नञ्" पूर्वक "दो, अवखण्डने" धातु से आदित्य शब्द सिद्ध होता है, जिसका खण्डन (नाश) न हो सके उसे आदित्य कहते हैं, सो यज्ञादि कर्मों से स्वर्गप्राप्ति और ज्ञान से अखण्डनीय मोक्ष की प्राप्ति सर्वतन्त्र सिद्धान्त है ॥ १० ॥ मन्त्रः—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिवआहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडरआहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

पदार्थः—(परे) कोई आचार्य संवत्सर को (पञ्चपादम्) पांच ऋतुरूप पैरों से स्थित (यहां हेमन्त और शिशिर को एक मान कर पांच ऋतु कही गई हैं) (पितरम्) सब

पदार्थों की उत्पत्ति का अधिकरण होने से पितृतुल्य (द्वादशाकृतिम्) बारह मासरूप आकृति (लिङ्ग) वाला (दिवः) द्युलोक के (अर्धे) बीच में (पुरीषिणम्) जल वाला (आहुः) कहते हैं (अथ) और (उ) वितर्क में (परे, इमे, अन्ये) ये कोई अन्य लोग (सप्तचक्रे) सात लोकरूप चक्रों और (षडरे) वसन्तादि छः ऋतुरूप अरों में (विचक्षणम्) त्रिविध प्रकार से लक्षित (अर्पितम्, इति) जुड़ा हुआ (आहुः) कहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ–पूर्वश्लोक में संवत्सर को प्रजापति कहा गया था; अब इस मन्त्र में उस का प्रजापति होना दिखलाते हैं:– इस मन्त्र में संवत्सर काल के विभाग में दो पक्ष हैं । कोई लोग इस काल रूप संवत्सर को ऐसा मानते हैं कि यह अपने पांच ऋतुरूप पैरों से और बारह मासरूप लिङ्गों से द्युलोक के बीच में स्थित है और कोई ऐसा विभक्त मानते हैं कि यह संवत्सर सात लोकरूप चक्र और छः ऋतुरूप अरों में ठहरा हुआ है । जैसे कि अरों में रथनाभि ठहरी हुई होती है । दोनों पक्षों में काल की व्यापकता और प्रजापति होना सिद्ध है ॥११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

पदार्थः–(मासः वै) मास ही(प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उसका (कृष्ण पक्षः, एव) कृष्णपक्ष ही (रयीः) रयी है (शुक्लः) शुक्लपक्ष (प्राणः) प्राण है (तस्मात्) इस लिये (एते, ऋषयः) ये आत्मदर्शी ऋषि लोग (शुक्ले) शुक्ल पक्ष में (इष्टिम्) ज्ञान यज्ञ को (कुर्वन्ति) करते हैं (इतरे) कर्मदर्शी ऋषि (इतरस्मिन्) कृष्णपक्ष में योगादि इष्टि को करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ.—अब वही संवत्सर व्यष्टि रूप से मास में जो उस का बारहवाँ भाग है, परिणाम को प्राप्त होता है। जैसे संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण दो भाग थे, उसी प्रकार उसके परिणाम मासके भी दो खण्ड हैं जिनको कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष कहते हैं। कृष्णपक्ष ही रयि और शुक्लपक्ष ही प्राण है ऋषि लोग कृष्णपक्ष में विशेष कर योगादि इष्टि और शुक्लपक्ष में अधिकतर स्वाध्यायादि का उपयोग करते थे। इस का यह अभिप्राय कदापि न समझ लेना कि वे कृष्णपक्ष में ज्ञानयज्ञ और शुक्लपक्ष में कर्मयज्ञ का अनुष्ठान ही नहीं करते थे, किन्तु दक्षिणायन के तुल्य कर्म के लिये विशेष उपयोगी कृष्णपक्ष को और उत्तरायण के समान ज्ञान के लिये विशेष उपयोगी शुक्लपक्ष को मानते थे ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्य्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः—(अहोरात्रः, वै) दिन रात ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उसका (अहः, एव) दिन ही (प्राणः) प्राण है (रात्रिः एव) रात ही (रयिः) रयि है। (एते) वे लोग (प्राणम्) प्राणरूप अग्नि को वा भोक्तृशक्ति को (प्रस्कन्दन्ति) क्षीण करते हैं। (ये) जो (दिवा) दिन में (रत्या) रतिकारणभूत स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं और (यत्, रात्रौ) जो रात में (रत्या) स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं (तत्) वह (ब्रह्मचर्यम्, एव) ब्रह्मचर्य्य ही है ॥१३॥

भावार्थ.—अब वही मासात्मक काल अपने अवयव अहोरात्र में परिणत होता है। उस अहोरात्र के भी दो भाग हैं; जिनको

दिन और रात कहते हैं। दिन में भोक्तृशक्ति प्रबल होती है इस लिये उसको प्राण कहा गया है। रात्री में भोग्यशक्ति प्रधान होती है, इसलिये उस को रयि (अन्न) कहा गया है। अतएव जो लोग दिन में (जब भोक्तृशक्ति के प्रबल होने से प्राण वेगपूर्वक अपनी क्रिया करते हैं) स्त्री के साथ मैथुन किया करते हैं, उन के प्राण क्षीण हो जाते हैं अर्थात् वे मन्दाग्नि होकर निर्बल होजाते हैं। इसके विपरीत जो रात्रि में (जब कि भोग्यशक्ति के प्रबल होने से प्राण ठहरे हुवे होते हैं) स्त्री के साथ संयोग करते हैं, वे ब्रह्मचारी के समान अपने बल की रक्षा करते हैं। इस प्रासङ्गिक विधिनिषेध के उपरान्त अब प्रकृत विषय का प्रतिपादन किया जाता है कि ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

पदार्थः-(अन्नम्, वै) अन्न ही (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक है (ततः) उससे (ह, वै) निश्चय (तद्, रेतः) वह जगत् का कारण वीर्य उत्पन्न होता है (तस्मात्) उस वीर्य से [इमाः, प्रजाः] ये मनुष्यादि लक्षण वाली विविध प्रजायें [प्रजायन्ते, इति] उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः-इस श्रुति में अपने कथन का उपसंहार करते हुवे पिप्पलाद ऋषि प्रश्न के उत्तर को समाप्त करते हैं:- अब यह संवत्सर ऋतुरूप से अन्न में परिणाम को प्राप्त होता है, अन्न से जगत् का कारण वीर्य [बीज] बनता है और उस से फिर क्रमशः यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है। कबन्धी के प्रश्न का अब तक जो कुछ उत्तर दिया गया, यहाँ पर उस का निगमन किया गया है अर्थात् प्राणरूप आदित्य और रयिरूप चन्द्र के जोड़े से संवत्सर की उत्पत्ति, संवत्सर से क्रमशः

अन्न का विपरिणाम, अन्न से वीर्य और उस से सारी प्रजा की उत्पत्ति कहकर आचार्य प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हैं॥ १४॥

तद्ये ह तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

पदार्थः–[तत्] सो [ह] प्रसिद्ध [ये] जो गृहस्थ [प्रजापतिव्रतम्] ऋतुकालमें स्वदारगमनरूप व्रत को [चरन्ति] पालन करते हैं [ते] वे [मिथुन] पुत्र पुत्री को [उत्पादयन्ते] उत्पन्न करते हैं और [येषाम्] जिनके [तपः] द्वन्द्वसहन और [ब्रह्मचर्यम्] इन्द्रियदमन ये दो साधन हैं [येषु] जिनमें [सत्यम्] मन, वाणी और कर्म की एकता [प्रतिष्ठितम्] वर्त्तमान है [तेषाम् एव] उन्हीं का [एषः] यह [ब्रह्मलोकः] ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

भावार्थः–इस श्रुति में इष्टापूर्तादिस्मार्त कर्मों और ज्ञान का फल दिखलाया गया है। जो गृहस्थ इन्द्रियनिग्रहपूर्वक ऋतुकाल में ही केवल अपनी स्त्री से समागम करते हैं, वे अमोघवीर्य होकर यथेष्ट और उत्तम सन्तान को उत्पन्न करते हैं और जो लोग अपने जीवन में तप, ब्रह्मचर्य और सत्य का आचरण करते हैं उन्हीं के लिये ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

पदार्थः–(तेषाम्) उनका (असौ) यह (विरजः) निर्मल (ब्रह्मलोकः) मोक्षस्थ परमपद है (येषु) जिन में (जिह्मम्) कुटिलता और (अनृतम्) असत्य (न) नहीं तथा (माया, च) कपट भी (न, इति) नहीं है ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस श्रुति में भी तत्त्व ज्ञान का फल प्रतिपादन किया गया है बिना तत्त्वज्ञान के मनुष्य कुटिलता, असत्य और माया (मिथ्याचार) से सर्वथा नहीं बच सकता और जब तक इन का कुछ भी अंश रहता है तब तक उस विशुद्ध और सर्वोच्चपद का (जिसको ब्रह्मलोक तथा परमपद कहते हैं और जो सारे ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा है) अधिकारी नहीं बन सकता अतएव तत्त्वज्ञान के प्रसाद से जिन का हृदय सरल, शुद्ध, सम निष्कपट होगया है, वे ही महात्मा उस परमपद के भागी होते हैं, इतर नहीं ॥ १६ ॥

इति प्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ ।
भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते ।
कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ
इति ॥ १ ॥ (१७)

पदार्थः—(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (भार्गव, वैदर्भि) भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि ने (पप्रच्छ) पूछा कि—(भगवन्) हे महाभाग (कति, एव, देवाः) कितने देव (प्रजाम्) शरीर को (विधारयन्ते) धारण करते हैं । (कतरे) कितने (एतत्) इस को (प्रकाशयन्ते) प्रकाशित करते हैं (पुनः) फिर (एषाम्) इनमें (कः) कौन (वरिष्ठः, इति) श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

भावार्थः—पहिले प्रश्न के उत्तर में प्राण को कर्त्ता और भोक्ता कहा गया था, अब इस प्रश्न में उस का भोक्तृत्व और कर्तृत्व सिद्ध किया जाता है । अब पहिले प्रश्न का उत्तर हो

जाने पर भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि नामक दूसरा शिष्य उक्त आचार्य से पूछता है कि भगवन्! इस शरीर को (जो आत्मा का अधिष्ठान है) कौन २ से देव धारण करते हैं? और कौन इसको प्रकाशित करते हैं? और उन शरीर के धारक और प्रकाशक देवों में सब से बड़ा कौन है? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥ (१८)

पदार्थः—(तस्मै) उस पूछने वाले के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला:—(ह, वै) प्रसिद्ध (एषः) यह (आकाशः) आकाश (वायुः) पवन (अग्निः) पावक (आपः) जल और (पृथिवी) पृथिवी में पञ्चम महाभूत और (वाङ् मनः) वाणी और मन (चक्षुः, श्रोत्रं, च) नेत्र और कर्णेन्द्रिय (ये उपलक्षण मात्र हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के) (देवः) देव हैं (ते) वे (प्रकाश्य) शरीर को प्रकाशित करके (अभिवदन्ति) परस्पर स्पर्द्धा करते हुवे कहते हैं कि (वयम्) हम (एतत्, बाणम्) इस शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामः) धारण करते हैं अर्थात् पृथक् २ बिना दूसरे की सहायता के हम इसको धारण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—अब आचार्य दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि आकाशादि पञ्चमहाभूत जो इस शरीर को बनाते हैं तथा वागादि पांच कर्मेन्द्रिय और चक्षुः आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय; यही सब इस शरीर का धारण और प्रकाशन करते हैं। इसी लिये इनकी देवसंज्ञा है। ये सब आपस में एक दूसरे की स्पर्द्धा

करते हुये विवाद करते हैं * कि हम ही स्वतन्त्रता से इस शरीर को धारण करते हैं, यदि हम न हों तो एक क्षण भर में शारीरिक सब प्रबन्ध नष्ट भ्रष्ट हो जावें ॥ २ ॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमा-
पद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यै-
तद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥ (१९)

पदार्थः-[तान्] उन सब से [वरिष्ठः] श्रेष्ठ [प्राणः] प्राण [उवाच] बोला कि [मा] मत [मोहम्] मोह को [आपद्यथ] प्राप्त होओ [अहम् , एव] मैं ही [पञ्चधा] प्राणादि पांच भेदों से [आत्मानम्] अपने को [प्रविभज्य] विभक्त करके [एतत् , बाणम्] इस शरीर को [अवष्टभ्य] स्तम्भवत् होकर [विधारयामि, इति] धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः-जब इस प्रकार पञ्चभूत और इन्द्रियगण आपस में विवाद कर रहे थे, तब उन सब में मुख्य और उनका नेता प्राण उनसे कहता है कि तुम क्यों मोह (अज्ञान) को प्राप्त होते हो ? तुम में से कोई भी स्वतन्त्ररूप से इस शरीर को धारण करने में समर्थ नहीं है । केवल मैं ही हूं, जो अपने पांच विभाग करके अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानरूपसे शरीरमें प्रविष्ट होकर शरीरमें को धारण करता और तुम को भी चलाता हूं । यदि मैं न हूं तो तुम सब मिल कर भी कुछ नही कर सकते ॥ ३ ॥

---

* यहां भी पञ्चभूतों और इन्द्रियों का विवाद करना वैसा ही औपचारिक है जैसा कि केनोपनिषद् में यक्ष और अग्न्यादि का संवाद था। पाठकों को इस आख्यान के उद्देश्य पर दृष्टि रखनी चाहिये, न कि शब्दार्थ पर ॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं, वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ।४।

पदार्थ—(ते) वे पञ्चभूत और इन्द्रियें (अश्रद्दधानाः) श्रद्धा रहित (बभूवुः) हुवे. तब (सः) वह प्राण (अभिमानात्) क्रोध से (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (उत्क्रमते, इव) निकलता हुआ सा दीख पड़ा (तस्मिन्, उत्क्रामति) उस के निकलते हुवे (इतरे, सर्वे, एव) अन्य सबही (उत्क्रामन्ते) निकलने लगते हैं (च) और (तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने) उस के प्रतिष्ठित होने पर (सर्वे, एव) सब ही (प्रातिष्ठन्ते) स्थित होने लगते हैं। (तत्, यथा) सो जैसे (सर्वाः, एव, मक्षिकाः) सारी ही मक्खियें (उत्क्रामन्तम्, मधुकरराजानम्) निकलते हुवे अपने राजा (राजा मक्खी) के पीछे (उत्क्रामन्ते) निकल जाती हैं (च) और (तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने) उस के स्थित होने पर (सर्वाः, एव) सब ही (प्रातिष्ठन्ते) स्थित हो जाती हैं (एवम्) इसी प्रकार प्राण के अधीन वागादि को जानो। (अथ) तब (ते) वे (वाङ् मनः, चक्षुः, श्रोत्रं, च) वाणी, मन, आँख और कान आदि इन्द्रिय (प्रीताः) प्रसन्न हुये (प्राणम्) प्राण की (स्तुन्वन्ति) स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः—प्राण के उक्त कथन को चक्षुरादि इन्द्रियों ने उपेक्षा से टाल दिया अर्थात् उस पर विश्वास नहीं किया, तब प्राण क्रोध में आकर शरीर से निकलने लगा; उसके

निकलते ही सब इन्द्रिय * भी शरीर से पृथक् होगये, फिर प्राण का सञ्चार होने पर सब इन्द्रिय भी अपना २ काम करने लगे। जैसे मधुमक्खियाँ अपने राजा का अनुसरण करती हैं अर्थात् वह मक्खी जो उनकी राजा होती है, जब किसी स्थान को छोड़देतीहै तो उसी समय सारी मक्खियां वहाँसे उड़जातीहैं और जहां जाकर वह सर्दार मक्खी बैठती है, वहीं पर सब जाकर बैठ जाती हैं। इसी प्रकार प्राण सब इन्द्रियों का राजा है, वह जब इस शरीर को छोड़ देता है तो फिर उसके अनुचर वाणी मन आदि शरीर में कैसे और किसके आधार पर रह सकते हैं? जब सब इन्द्रियों ने प्राण का यह माहात्म्य देखा, तब सब प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चाऽमृतञ्च यत् ॥ ५ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(एषः) यह प्राण (अग्निः) अत्ता होकर अग्नि रूप से (तपति) प्रकाशमान है (एषः) यह शरीररूप जगत् का (सूर्यः) सूर्य है (एषः) यह (मघवान्) ऐश्वर्य का हेतु (पर्जन्य) मेघ है (एषः) यह (वायुः) वेगवान् होने से वायु है (एषः) यह (पृथिवी) शरीर का धारण करने अथवा शरीर में फैला हुआ होने से पृथिवी है (रयिः) शरीर का पोषक होने से चन्द्रमा है (देवः) शरीर और इन्द्रियों का प्रकाशक होने से देव है (यत्, सत्) जो सूक्ष्म कारण है (च) और (असत्) जो स्थूल कार्य है (च) और (अमृतम्) विनाश-धर्म रहित है ॥ ५ ॥

* इन्द्रिय शब्द से उनकी सूक्ष्म शक्ति का ग्रहण करना चाहिए नकि भौतिक गोलकों का ॥

भावार्थः—अब यहां से द्वितीय प्रश्न के अन्त तक प्राण की स्तुति की गई है। यथार्थ गुणकीर्त्तन का नाम स्तुति है, सो प्राण में जो यथार्थ गुण हैं, उनका इन श्लोकों में वर्णन किया गया है:—

अत्ता होने से प्राण को अग्नि कहा गया है। जैसे संसार में अग्नि के विना पदार्थों का भक्षण और परिपाक नहीं हो सकता। ऐसे ही शरीर में प्राण के विना अन्न का अदन और पाचन नहीं हो सकता। प्राण के शिथिल हो जाने से ही मन्दाग्नि होजाती है, इसलिये प्राण को उपचार से अग्नि कहा गया है। एवमेव जैसे सूर्य संसार को प्रकाशित करता है, ऐसे ही प्राण इस शरीर को प्रकाशित करते हैं। सूर्य के विना जैसे संसार अंधकारमय हो जाता है, ऐसे ही प्राण के विना शरीर सूना होजाता है। इसी कारण प्राण का सूर्य कहागया है। तथा जिस प्रकार मेघ वर्षा से संसार को जीवनदान देता है, इसी प्रकार प्राण के सञ्चार से शरीर जीवित कहलाते हैं, विना वर्षा के जो संसार की गति होती है, वही विना प्राण के शरीर की भी दशा समझनी चाहिये। इसीलिये प्राण को मेघ बतलाया गया है। इसी प्रकार वेगवान् और जीवनाधार होने से वायु, शरीर को धारण करने वाला और उस में फैला हुवा होने से पृथिवी, शरीर का पोषक होने से चंद्र और इन्द्रियादि का प्रकाशक होने से प्राण को देव कहा गया है, तथा कारणरूप सूक्ष्म तन्मात्राओं और कार्य्यरूप स्थूल इन्द्रियों का चलाने वाला होने से सत् और असत् एवम् देह से निकलने पर न मरने वाला होने से प्राण को अमृत कहा गया है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥२२ ॥

पदार्थः—(रथनाभौ) रथनाभि में (अरा इव) अराओं के समान (प्राणे) प्राण में (सर्वम्) सब कुछ (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है। (ऋचः) ऋग्वेद (यजूंषि) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद, ये तीनों प्रकार के मन्त्र (यज्ञः) इनसे होनेवाला यज्ञ (क्षत्रम्) शारीरिकबल (च) और (ब्रह्म) आत्मिक बल ये सब प्राण के आश्रित हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—समस्त कर्मकाण्ड (मनुष्यकर्त्तव्य) के विधायक ऋग्यजुः साम ये तीन प्रकार के मन्त्र हैं। इन्हीं तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्व का समावेश भी इन्हीं में हो जाता है, इसलिये उस का पृथक निर्देश नहीं किया। उक्त तीनों प्रकार के मन्त्रों से विधेय जो यज्ञादि कर्म हैं, उनका यथाविधि अनुष्ठान प्राण के ही आश्रित है। प्रथम प्रश्न में लिख कर चुके हैं कि भोक्तृशक्ति या कर्तृशक्ति प्राण के ही आधीन है, बिना प्राण के जब कर्तृत्व ही नहीं तो फिर कर्म कैसे सिद्ध हो सकता है? हां, प्राण रहित जड़ पदार्थ मन्त्र या यज्ञादि के उपयोग्य हो सकते हैं, न कि उपयोक्ता। उपयोग्य से उपयोग लेना उपयोक्तृशक्ति के आधीन है, जो कि प्राण के आश्रित है। यज्ञ शब्द से यहां सामाजिक बल का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सामाजिक अभ्युदय के लिये यज्ञ किया जाता है, इसमें शतपथब्राह्मण का प्रमाण भी है:—"यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै भवतीत्यादि" यज्ञ जनता (जनसमुदाय) के लिये होता है, न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिये। अतएव प्राण ही सामाजिकबल के (जो यज्ञादि कर्मों के द्वारा बढ़ाया जाता है) आधार है। इसी प्रकार क्षत्रशब्द से शारीरिक और ब्रह्मशब्द से आत्मिकबल का ग्रहण होता है, शारीरिक और आत्मिक बल भी प्राण के ही आश्रित हैं। प्राण ही अनुकूल होकर शरीर को पुष्टि पहुं-

चाते हैं और प्राण ही वश में होकर आत्मा को बलिष्ठ बनाते हैं। यद्वा अग्न्यादि ५ वीं श्रुति के और ऋक् आदि ६ ठी के कहे सब पदार्थ प्राण में प्रतिष्ठित हैं। यह दोनों का एक अन्वय भी हो सकता है ॥ ६ ॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे
तुभ्यं प्राण! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः
प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(प्राण) हे प्राण ! (यः,) जो तू (प्राणैः) प्राणादि पांच भेदों से (प्रतितिष्ठसि) शरीर में रहता है (प्रजापतिः) प्राणियों का अध्यक्ष होकर (गर्भे) शरीर में (चरसि) विचरता है (त्वम् . एव) तू ही (प्रतिजायसे) उस में प्रकट होता है उस (तुभ्यम्) तेरे लिये (इमाः, प्रजाः) ये सब प्राणी (बलिम्) भाग को (हरन्ति) आहरण करते हैं अर्थात् देते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में प्राण को सम्बोधित करके इन्द्रियादि उस की स्तुति करते हैं:—

हे प्राण ! तू ही प्रजा का जीवनमूल होने से सब प्राणियों के शरीरों में विचरता है और नाना रूप से शरीर के भिन्न २ अङ्गों में प्रकट होता है अर्थात् प्राणरूप से हृदय में, अपानरूप से गुदा में, समानरूप से नाभि में, उदानरूप से कण्ठ में और व्यान रूप से समस्त शरीर में व्यापक है। तेरी ही रक्षा और स्थिति के लिये सब प्राणी अन्नादि विविध भोग्य पदार्थों की भेंट करते हैं अर्थात् तुझको शरीर में सुरक्षित रखने के लिये नाना प्रकार के उपायों को काम में लाते हैं, क्योंकि तू ही केवल अत्ता है और सब आद्य हैं। निस्सन्देह संसार में तुझसे प्रिय और कोई वस्तु नहीं है ॥ ७ ॥

देवानामसि वन्हितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥ २४॥

पदार्थ–तू (देवानाम्) सूर्यादि देवों का (वह्नितमः) अग्नि-रूप से हव्य का वाहक (असि) है, (पितॄणाम्) अग्निष्वात्तादि पितृगणों का (प्रथमा) पहिला अर्थात् मुख्य (स्वधा) कव्य है। (ऋषीणाम्) चक्षुरादि इन्द्रियों का (सत्यम्) असन्दिग्ध (चरितम्) चरित्र है (आङ्गिरसाम्) शरीर के अङ्गों का (अथर्वा) न सुखाने वाला (असि) है ॥८॥

भावार्थ—इस श्लोक में चार बातें कही गई हैं। उन में से पहिली बात यह है कि प्राण-सूर्यादि देवों को उनका भाग (हव्य) पहुंचाता है, सो यह काम तो अग्नि का है और इस लिये उसको हव्यवाट् कहते हैं, प्राण से इसका क्या सम्बन्ध? इसका उत्तर यह है कि अग्नि में केवल दाहक शक्ति है, जिस से वह पदार्थों को जलाकर सूक्ष्म और हलका कर देता है, अब उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाना, यह काम वायु का है, जो कि प्राण का दूसरा नाम है। अच्छा तो फिर वेदादि शास्त्रों में अग्नि को हव्यवाट् क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि वायु से उत्पन्न होने के कारण अथवा वायु के सहचार से अग्नि में हव्यवाहकता मानी गई है, वास्तव में वहन-क्रिया का कर्ता वायु ही है। अस्तु यदि हम स्वतन्त्ररूप से अग्नि को ही हव्यवाहक मान लेवें, तब भी उक्त कथन में कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्राण की अग्निरूपता प्रथम प्रश्न में भले प्रकार सिद्ध कर दी चुके हैं। दूसरी बात यह है कि प्राण ही पितृगणों की पहिली स्वधा है। इसका तात्पर्य यह है कि श्राद्ध में जब पितृगण भोजन करते हैं, तब प्राण ही के द्वारा

अन्नप्रवेशन और अन्नपाचनादि क्रिया सिद्ध होती हैं, इसलिये प्राण ही पितरों की स्वधा है। तीसरी बात यह है कि इन्द्रियों का सत्यचरित भी प्राण है (ऋषि गतौ) इस धातु के ज्ञानार्थक होने से ऋषि नाम इन्द्रियों का है। प्राण के स्वस्थ होने पर ही इन्द्रियां अपने अर्थों को निर्भ्रान्त रीति पर ग्रहण कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों की सत्यता (सार्थकता) प्राण के ही कारण है। इसीलिये प्राण को उनका सत्यचरित कहा गया है। चौथी बात यह है कि प्राण को शरीर के अङ्गों का न सुखाने वाला कहा गया है, सो प्रत्यक्ष है कि प्राण ही की गति से सब अंग हरे भरे रहते हैं, प्राण के अभाव में शरीर के सब अङ्ग सूख जाते हैं, इसी लिये उनका नाम अङ्गिरस् है, उन अङ्गों का न सुखाने वाला होने से प्राण का नाम अथर्वा है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥९।२५

पदार्थ—(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (तेजसा) अपने तेज से (रुद्र) भयङ्कर है (परिरक्षिता) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्य का देने वाला (असि) है (त्वम्) तू (अन्तरिक्षे) आकाश में (चरसि) विचरता है (त्वम्) तू (ज्योतिषाम्) नक्षत्रों का (पतिः) स्वामी होने से (सूर्यः) आदित्य है ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्राण ही इन्द्ररूप से सब जगत् की रक्षा करता है अर्थात् प्राण के ही आश्रय से सब प्राणी सांसारिक और पारमार्थिक सुख का अनुभव करते हैं। प्राण का इन्द्रत्व यही है कि यह ऐश्वर्य का भोग कराने में मुख्य हेतु है। इसी प्रकार

अपने तेज से प्राण ही रुद्र भी है, "रोदयति जनानिति रुद्रः" रुलाने वाले को रुद्र कहते हैं, सो प्राण ही शरीर से निकलता हुआ लोगों को रुलाता है, यही उसमें रुद्रत्व है। प्राण ही आकाश में अव्याहतगति होकर विचरता है, इसलिये वायु है और वही अग्निरूप होने से सब का प्रकाशक है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण नक्षत्रों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही प्राण अपने तेज से शरीर के सब अङ्गों को प्रकाशित कर रहा है॥ ९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्य-
तीति॥ १०॥ २६॥

पदार्थः-(प्राण) हे प्राण! (यदा) जब (त्वम्) तू (अभिवर्षसि) मेघ होकर वर्षता है (अथ) तब (ते) तेरी (इमाः, प्रजाः) ये प्रजायें (कामाय) यथेष्ट (अन्नम्) अन्न (भविष्यति, इति) होगा, इस आशा से (आनन्दरूपाः) आनन्दरूप होकर (तिष्ठन्ति) ठहरती हैं॥ १॥

भावार्थः-प्राण की मेघरूपता कह चुके हैं। भौतिक विज्ञान से भी यह बात सिद्ध है कि वर्षा के कारण वायु और अग्नि ये दो ही पदार्थ हैं। सो इन में वायु तो प्राण का ही दूसरा नाम है, रहा अग्नि सो वह भी (वायोरग्निः) इस प्रमाण के अनुसार वायु से ही उत्पन्न होता है और इसीलिये प्रथम प्रश्न में अग्नि वा सूर्य की प्राणरूपता कही गई है तो प्राण ही वर्षा का भी मुख्य कारण ठहरा। जब भोक्ता प्राण मेघरूप होकर पृथिवी पर वर्षता है तब अनेक प्रकार के भोग्य अन्नादि पदार्थ यथेष्ट उत्पन्न होते हैं, जिन से सारी प्रजा (जो प्राण की अध्य-

क्षता में रहती है अर्थात् भोक्तृशक्ति सम्पन्न है) तुष्टि और पुष्टि को प्राप्त होती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ ॥ २७ ॥

पदार्थः—(प्राण)हे प्राण ! (त्वम्) तू (व्रात्यः) सब से पहिला होने से संस्कार नहीं किया गया है अर्थात् स्वभाव से ही शुद्ध है (एकऋषिः) एकऋषिनाम अग्नि होकर (अत्ता) सब का भक्षण करने वाला है (विश्वस्य, सत्पतिः) विद्यमान जगत् का पति है (वयम्) हम सब (आद्यस्य) तेरे भक्षणीय अन्नादि के (दातारः) देने वाले हैं (मातरिश्व) हे मातरिश्वन् ! (त्वम्) तू (नः) हमारा (पिता) रक्षक है अथवा त्वम्=तू, मातरिश्वनः=वायु का पिता=उत्पादक है ॥ ११ ॥

भावार्थः—जिसका संस्कार न हुवा हो, उसे व्रात्य कहते हैं। यहां प्राण को व्रात्य इसलिये कहा गया है कि वह सृष्टि में सब से पहिले उत्पन्न हुवा, फिर उस का संस्कार कौन कर सकता था ? इसलिये वह स्वभावशुद्ध होने से संस्कार की अपेक्षा नहीं रखता। प्राण का ऋषि और अत्ता होना सिद्ध हो चुका है। विद्यमान सम्पूर्ण जगत् का पति अर्थात् पालक होना भी सिद्ध ही है। इन्द्रिय प्राण से कहते हैं कि जैसे होताओं से हव्य पाया हुवा अग्नि उन की रक्षा का हेतु होता है, वैसे ही हम से अन्नादि भोग्य पदार्थों को प्राप्त हुवा तू हमारा रक्षक होता है। अतएव हम होता (देने वाले) और तू पिता (रक्षा करने वाला) है। या तू अन्तरिक्ष में श्वास लेने वाले वायु का पिता अर्थात् उत्पादक है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ २८ ॥

पदार्थः-(या) जो (ते) तेरी (तनूः) फैली हुई शक्ति (वाचि) वाणी में (या) जो (श्रोत्रे) कान में, (च) और (या) जो (चक्षुषि) आंख में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (या, च) और जो (मनसि) मन में (संतता) फैली हुई है (ताम्) उस को (शिवाम्) मङ्गलकारिणी (कुरु) कर (मा) मत (उत्क्रमीः) निकल ॥ १२ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में इन्द्रिय प्राण से प्रार्थना करते हैं-हे प्राण ! तेरी जो शक्ति वाणी में प्रतिष्ठित है, जिस से हम बोलते हैं, जो कान में अधिष्ठित है जिस से हम सुनते हैं, जो आंख में उपस्थित है, जिस से हम देखते हैं और जो मन में व्याप्त है जिस से हम सङ्कल्प विकल्प करते हैं, उस शक्ति को हमारे लिये मङ्गलकारिणी कर और तू हमारे शरीर से मत निकल अर्थात् हम तेरी उपस्थिति में तेरी शक्ति का प्रयोग ऐसे कामों में करें कि जिस से सर्वदा हमारा कल्याण हो और हम को तेरा वियोग न हो ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ २६ ॥

पदार्थः-(त्रिदिवे) तीनों लोक में (यत्, प्रतिष्ठितम्) जो कुछ वर्त्तमान है (इदम् सर्वम्) यह सब (प्राणस्य) प्राण के (वशे) वश में है (माता इव) माता के समान (पुत्रान्) पुत्रों की (रक्षस्व) रक्षा कर (च) तथा (श्रीः) विज्ञान और

ऐश्वर्यरूपिणी शोभा को (प्रज्ञाम्, च) और उस की निमित्त सदसद्विवेकिनी बुद्धि को (नः) हमारे लिये (विधेहि, इति) सम्पादन कर ॥ १३ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी प्राण से प्रार्थना की गई है। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो कुछ है, वह सब प्राण के ही आधार में स्थित है। जङ्गम ही नहीं, किन्तु स्थावर भी बिना वायु के न बढ़ सकते और न जीवित रह सकते हैं, अतएव यह सब चराचर जगत् प्राण के ही आधीन है। प्राण ही माता के समान प्राणियों की रक्षा करता है। जैसे माता आप कष्ट उठाकर भी पुत्रों को सुख पहुंचाती है। इसी प्रकार प्राण अपानादि रूप में परिणत होकर भी प्राणियों के लिये हितकर ही होता है। प्राण की ही स्थिरता और वश्यता से मनुष्य शारीरिक और आत्मिकबल तथा धारणावती बुद्धि को प्राप्त करता है। अतएव इस शरीर के धारक और प्रकाशक देवों में प्राण देव ही सब से श्रेष्ठ और प्रधान हैं। ऐसा जान कर जो इस को तप और योगादि साधनों के द्वारा वश में करते हैं, वे ही मनुष्य जीवन के उद्देश्य को पूर्ण करते हुए मोक्ष के भागी बनते हैं ॥ १३ ॥

इत्यथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

—:०※०:—

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौशल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ ।
भगवन् ! कुतएष प्राणो जायते कथमाया-
त्यस्मिन् शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं

प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते
कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद् ऋषि से (आश्वलायनः, कौशल्यः) अश्वल के पुत्र कौशल्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (एषः, प्राणः) यह प्राण (कुतः) किस कारण से (जायते) उत्पन्न होता है ? (कथम्) क्योंकर (अस्मिन्, शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है (आत्मानम्. वा) और अपने को (प्रविभज्य) विभाग करके (कथम्) किस प्रकार (प्रातिष्ठते) स्थित होता है ? (केन) किस हेतु से (उत्क्रमते) निकलता है ? और (कथम्) क्योंकर (बाह्यम्) बाह्य जगत् को (अभिधत्ते) धारण करता है ? और (कथम्) क्योंकर (अध्यात्मम् इति) अध्यात्म जगत् को ॥ १ ॥

भावार्थः—पहिले प्रश्न के उत्तर में प्राण का अग्निरूप से अत्ता होना और दूसरे प्रश्न के उत्तर में वायुरूप से सब से प्रथम और श्रेष्ठ होना सिद्ध किया गया । अब तीसरे प्रश्न के उत्तर में उस की उत्पत्ति और विभागका वर्णन किया जायगा । भार्गव वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर हो चुकने पर आश्वलायन कौशल्य पिप्पलाद ऋषि से पूछता है कि भगवन् ! उक्त प्राण जिस का अत्तृत्व और मुख्यत्व आप सिद्ध कर चुके हैं, कहां से उत्पन्न होता है ? अर्थात् उस का निमित्त कारण क्या है ? और उत्पन्न होकर कैसे इस शरीरमें आता है और कितने भागों में विभक्त होकर ठहरता है ? किस प्रकार शरीर से निकलता है ? कैसे बाह्यजगत् को (जिस में पञ्चज्ञानेन्द्रियरूप आधिदैविक और अग्न्यादि पञ्चभूतरूप आधिभौतिक सृष्टि सन्निविष्ट (शामिल) है, धारण करता है और क्योंकर आभ्यन्तर जगत्

को (जिस में आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली प्राणादि पांच सूक्ष्म वृत्तियां है) धारण करता है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (अतिप्रश्नान्) तू बहुत गम्भीर प्रश्नों को (पृच्छसि) पूछता है (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्म में निष्ठा वाला (असि, इति) है (तस्मात्) इस लिये (ते) तेरे अर्थ (अहम् मैं (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—कौशल्य का प्रश्न सुन कर ऋषि उस से कहते हैं कि हे कौशल्य ! तू बड़े विषम प्रश्नों को पूछता है। प्रथम तो प्राण का जानना ही बड़ा कठिन है, उस पर उस की उत्पत्ति और विभाग, संक्रमण और उत्क्रमण शरीर के बाहर और भीतर सञ्चरण, ये ऐसे गूढ़ और सूक्ष्म विषय हैं कि जिनको विद्वान् भी सुगमता से नहीं जान सकते। जो कि इन विषयों का जानना ब्रह्मज्ञान के लिये उपयोगी है, इस लिये इन की जिज्ञासा रखता हुवा तू ब्रह्मनिष्ठ प्रतीत होता है। अतएव मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूं ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥३॥२२॥

पदार्थः—(आत्मनः) आत्मा से (एषः, प्राणः) यह प्राण (जायते) उत्पन्न होता है। (यथा) जैसे (पुरुषे) हाथ पैर आदि आकृति वाले शरीर में [एषा, छाया] यह छाया संबद्ध है, तद्वत्(एतस्मिन्) इस आत्मा में (एतत्) यह प्राण (आततम्)फैला हुवाहै (मनोकृतेन) इच्छाजन्य कर्मरूप निमित्त से (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में आत्मा से प्राण की उत्पत्ति कही गई है, इस से कोई आत्मा को प्राण का उपादान कारण न समझ बैठें। क्योंकि उपादान की कल्पना तो शरीर और छाया के दृष्टान्त से कट जाती है जैसे शरीर छाया का उपादान नहीं किन्तु निमित्त है अर्थात् जैसे शरीररूप निमित्त के होने से छायारूप नैमित्तिक वस्तु होती है, ऐसे ही आत्मा भी प्राण का निमित्त है अर्थात् आत्म रूप निमित्त से प्राणरूप नैमित्तिक पदार्थ उत्पन्न होता है। इस दृष्टान्त से एक यह बात भी ध्वनित होती है कि जैसे छाया और शरीर का साथ है अर्थात् जहां शरीर जाता है वहां उस की छाया भी जाती है, इसी प्रकार प्राण और आत्मा का भी साथ है अर्थात् जहां आत्मा जाता है, वहीं उस का प्राण भी। यही कारण है कि साधारण पुरुष इन में भेद भी नहीं कर सके किन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्राण को ही आत्मा समझने लगते हैं। अस्तु, श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि जैसे साकार वस्तु से छाया उत्पन्न होती है, वैसे ही निराकार आत्मा से प्राण की उत्पत्ति होती है। जब कोई साकार वस्तु छाया का उपादान नहीं, तब आत्मा प्राण का उपादान क्योंकर हो सकता है? आत्मसत्ता से उस का प्रकट होना ही प्राण की उत्पत्ति है। अब रहा उस का शरीर में प्रवेश करना सो यह आत्मा के इच्छाजन्य कर्मरूप निमित्त के आधीन है अर्थात् आत्मा जिस २ इच्छा से जैसे २ कर्म करता है प्राण वैसे २ ही शरीरों में उस को ले जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मानुसार आत्मा का किसी शरीर में जन्म लेना ही प्राण का उस में प्रवेश करना है। प्राण किस से उत्पन्न होता है? और कैसे इस

शरीर में आता है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर इस श्रुति में हो गया ॥ ३ ॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते । एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान् पृथक् पृथगेव सं निधत्ते॥४॥२३॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (सम्राट्, एव) राजा ही (अधिकृतान्) अधिकारियों को विनियुङ्क्ते) नियुक्त करता है कि (एतान्, ग्रामान् एतान्, ग्रामान्) इन २ ग्रामों को (अधितिष्ठस्व) अधिकार में ले (एवम्, एव) इस ही प्रकार (एषः, प्राणः) यह प्राण (इतरान्, प्राणान्) चक्षुरादि इन्द्रियों को अथवा अपनादि अपने भेदों को (पृथक्, पृथक्, एव) अलग अलग (संनिधत्ते) नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस श्रुति में राजा के दृष्टान्त से प्राण का कर्त्तव्य बतलाया गया है । जैसे राजा अपने देश के प्रबन्धार्थ अधिकारियों को नियुक्त करता है और उन के अधिकार की सीमा भी निर्धारण कर देता है अर्थात् अमुक अमुक प्रान्त अमुक२ अधिकारों के साथ अमुक २ अधिकारी के शासनाधीन हैं । इसी प्रकार इस शरीररूप देश का राजा प्राण भी शारीरिक प्रबन्ध के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को एव अपानादि प्राण भेदों को उन २ का काम और उस की सीमा निर्धारण करके नियुक्त करता है । जैसे वे अधिकारी राजा के नियमानुसार अपने २ कर्त्तव्य का पालन करते हैं, ऐसे ही समस्त प्राणों के भेद, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि प्राण की योजना से अपना २ काम करते हैं ॥ ४ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुख नासि-
काभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु
समानः । एष ह्येतद्धुनमन्नं समं नयति
तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥३४॥

पदार्थः-(पायूपस्थे) गुदा और उपस्थ में (अपानम्) अपान को नियुक्त करता है (मुखनासिकाभ्याम्) मुखनासिका के सहित (चक्षुः श्रोत्रे) आँख और कान में (प्राणः) प्राण (स्वयम्) आप (प्रातिष्ठते) ठहरताहै (तु) और(मध्ये) प्राण और अपान के बीच में अर्थात् नाभि देश में (समानः) समान वायु रहता है (हि) निश्चय (एषः) यह समान वायु (एतत् , हुतम् , अन्नम्) इस खाये पीये अन्नादि के रस को (समम्) परिपाक को (नयति) पहुंचाता है (तस्मात्) उस जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले समान वायु से (एताः सप्ता-र्चिषः) दो आंख की, दो कान की, दो नाक की और एक मुख की ये सात ज्वालायें, जिनसे प्राण का प्रवेश और निर्गम होता है (भवन्ति) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—अब यहां से इस प्रश्न का कि अपने को विभक्त करके किस प्रकार प्राण शरीर में रहता है, उत्तर प्रारम्भ किया जाता है । गुदा और उपस्थ इन्द्रिय में अपान वायु रहता है, जिसका काम मलमूत्र का उत्सर्ग कराना है । आंख और कान उपलक्षण हैं शिर के । मुख- नासिका, आंख और कान के द्वारों से प्रवेश करता हुआ शिर में प्राण वायु रहता है । जिस का काम श्वास प्रश्वास के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखता है । प्राण और अपान के बीच अर्थात् नाभि देश में समान वायु रहता है, जिसका काम जाठराग्नि को प्रदीप्त करके भुक्त और पीत

अन्नादि के रस को परिपाक करना है, उस ही समान वायु मे आंख की दो, कान की दो. नाक की दो और मुंह की एकः ये सात ज्वालायें प्रज्वलित होती हैं अर्थात् जब वह जाठराग्नि के द्वारा रस का परिणाम कराता है, तब उससे परिपक्व और पुष्ट होकर चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय अपने २ अर्थों के ग्रहण करने में समर्थ होते हैं, उनकी समर्थता दिखलाने के लिये ही "अर्चिः शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ ५ ॥

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।६।२५

पदार्थः—(हृदि) हृदय में (हि) निश्चय (एषः) यह (आत्मा) सब इन्द्रियों का राजा आत्मा रहता है (अत्र) इस हृदय में (एतत्) यह (नाड़ीनाम्) नाड़ियों का (एकशतम्) एक सौ एक १०१ का संघात है (तासाम्) उन १०१ में (एकैकस्याम्) एक एक में (शतम् , शतम्) सौ सौ भेद हैं (द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि) फिर उनमें भी प्रत्येक शाखारूप नाड़ी के बहत्तर २ हज़ार भेद (भवन्ति) होते हैं (आसु) इनमें (व्यानः) व्यान वायु (चरति) विचरता है ॥ ६ ॥

भावार्थ–हृदय में जो पुण्डरीकाकार स्थान है. जिसमें कि शरीरका अधिष्ठाता और इन्द्रियोंका राजा आत्मा रहता है, उसके पास ही नाभिकमल से १०१ नाड़ियें निकल कर शरीर में फैलती हैं । फिर उन में से एक २ की सौ २ शाखायें फूटती हैं जिनकी संख्या मिलकर १०१०० होती है । अब इन १०१०० में से प्रत्येक की ७२००० शाखायें होती हैं, जिन को गुणा करके

७२७२०००००० हुईं और पिछली मुल १०१ तथा १०१०० नाड़ी मिलाकर सब नाड़ियों की संख्या जो इस शरीर में फैली हुई हैं, ७२ करोड़ ७२ लाख १० हज़ार २०१ होती हैं। इन सब नाड़ियों में रुधिर का संचार करता हुवा व्यान वायु विचरता है। शरीर में व्यापक होने से ही इसका नाम व्यान है, यद्यपि सामान्यरूप से शरीर के सब अङ्ग और प्रत्यङ्गों में व्यान रहता है तथापि सन्धि और मर्मस्थानोंमें इसकी विशेषरूपसे स्थिति मानी गई है क्योंकि वहीं से रुधिरादि का विभाग होकर शरीर के सब अङ्गों में पहुंचता है ॥ ६ ॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥ २६॥

पदार्थः-(अथ) अब (एकया) उन १०१ नाड़ियों में से एक के द्वारा (ऊर्ध्वः) ऊपर का जाने वाला (उदानः) उदान वायु है, जो (पुण्येन) पुण्यकर्म से (पुण्यलोकम्) स्वर्गलोक को (पापेन) पापकर्म से (पापम्) नरकलोक को और (उभाभ्याम्, एव) पाप, पुण्य दोनों से ही (मनुष्यलोकम्) मनुष्यलोक को (नयति) लेजाता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-अब उन १०१ नाड़ियों में से एक सुषुम्णा नाम नाड़ी है, जो पांओं से लेकर मस्तक तक चली गई है। उस में विचरता हुवा उदान वायु विशेष कर कण्ठदेश में रहता है, जो भुक्त और पीत अन्न पानादि को कण्ठ से नीचे उतार कर आमाशय में पहुंचाता है। इसी के द्वारा शरीर की पुष्टि होने से मनुष्य कर्म करने में समर्थ होता है, अतएव यही शुभ कर्म के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग में पहुंचाता है अर्थात् देवत्व को प्राप्त कराता है और यही अशुभकर्म के द्वारा नरक में ले जाता

है अर्थात् असुरत्व को प्राप्त कराता है और यही शुभाऽशुभ मिश्रित कर्मों के द्वारा मनुष्यत्व की प्राप्ति कराता है। तात्पर्य यह कि इसी के द्वारा मनुष्य को पाप, पुण्य और मिश्रित कर्मों के करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। अतएव यही उनके उत्तम, अधम और मध्यम फल की प्राप्ति का निमित्त भी है। इस का दूसरा अर्थ यह भी है कि उक्त सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ही (जिस में उदान वायु रहता है) मनुष्य का प्राण निकलता है। यदि वह अच्छे कर्मों के साथ निकले तो अच्छी गति को बुरे कर्मों के साथ निकले तो बुरी गति को अच्छे बुरे मिले हुवे कर्मों के साथ निकले तो बीच की गति को प्राप्त कराता है। इस पक्ष में यह उस प्रश्नांश का उत्तर है, जिस में शिष्य ने आचार्य से यह पूछा था कि प्राण किस प्रकार शरीर से निकलता है ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणउदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरायदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥ २७ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (आदित्यः, वै) सूर्य ही (बाह्यः, प्राणः सन्) बाह्य प्राणरूप हुवा (उदयति) प्रकाशित होता है (हि) निश्चय [एषः] यह सूर्यरूप बाह्यप्राण [एनम्] इस (चाक्षुसम्, प्राणम्) चक्षु में रहनेवाले प्राणको [अनुगृह्णानः अनुग्रह करता हुआ स्थित है। (पृथिव्याम्] पृथिवी में]यः] जो [देवता] आकर्षणशक्ति है [सा, एषा] वह यह शक्ति पुरुषस्य] पुरुष के [अपानम्] अपान वायु को [अवष्टभ्य]

खींचकर उस को धारण किये हुए है [अन्तरा] सूर्य और पृथ्वी के बीच में [यद्] जो [आकाशः] आकाशस्थ वायु है [सः] वह [समानः] समान वायु है (वायुः) समान्यरूपसे जो बाह्यवायु है (सः) वह [व्यानः] व्यान है ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस श्रुति के द्वारा प्रश्न के अन्तिम भाग का, जिस में यह पूछा गया है कि बाह्य और आध्यात्मिक जगत्को प्राण क्योंकर धारण करता है ? उत्तर दिया गया है। सूर्य [जो कि यहां उपलक्षण है पञ्चभूतों का] बाह्यप्राण है और चक्षु [जो कि यहां उपलक्षण है पञ्चज्ञानेन्द्रियों का] आध्यात्मिक * प्राण। जैसे तैजस प्राण चाक्षुष प्राण को रूप ग्रहण करने की शक्ति देता है, ऐसे ही आकाशस्थ प्राण श्रोत्रस्थ प्राण को, वायव्य प्राण स्पर्शगत प्राण को, आप्य प्राण रसनास्थ प्राण को और पार्थिव प्राण घ्राणस्थ प्राण को प्रकाशित करते हुवे उन्हें यथाक्रम शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करते हैं अर्थात् बिना सूर्य के रूप बिना आकाश के शब्द बिना वायु के स्पर्श बिना जल के रस और बिना पृथिवी के गन्ध का ग्रहण हो नहीं सकता। इस से सिद्ध है कि आध्यात्मिक प्राण [जो पञ्चज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्त्तक है] आधिभौतिक प्राण के [जो पञ्चमहाभूतों में प्रविष्ट है] आश्रित है. अतएव यह प्राण अपने समष्टिरूप से व्यष्टिरूप को धारण कर रहा है। अब रहा अपान वायु जो प्राण की अधोगामिनी वृत्ति का नाम है, उसको पृथिवी अपनी आकर्षणशक्ति से रोके हुयेहै। अन्यथा शरीर भारी होने

---

* बाह्य और आध्यात्मिक शब्द यहां शरीर की अपेक्षा से अर्थात् जो प्राण शरीर के बाहर हो, वह बाह्य और जो उसके भीतर हो वह आध्यात्मिक है ॥

से गिर पड़ना चाहिये या अवकाश होनेसे ऊपर को उठ जाना चाहिये क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक भारी वस्तु नीचे को गिरती है या अवकाश मिलने पर ऊपर को उठती है, परन्तु यह शरीर स्तम्भवत् न तो नीचे ही को गिरता है और न वृक्ष-शाखावत् ऊपर ही को उठता है किंतु जैसे का तैसा [जैसा किसी स्तम्भ को चारों ओर तनाव बांधकर खड़ा कर देते हैं] खड़ा है। इसका कारण पृथिवी की आकर्षणशक्ति है, जो बाह्य प्राण से [जो उस में रहता है]शरीरस्थ अपान को खींचे हुवे है, अतएव बाह्य प्राण ही शरीरस्थ अपान को भी धारण करता है, अब रहा बाह्य समान वायु [जो सूर्य रूप प्राण और पृथिवीरूप अपान के बीच में है] वह शरीरस्थ समान वायु पर [जो आध्यात्मिक प्राण और अपान के बीच में है] अनुग्रह करता हुवा वर्तता है अर्थात् समष्टिरूप समान वायु के प्रसाद से ही व्यष्टिरूप समान वायु अनुकूल होता है। इसी प्रकार बाह्य व्यान से (जो समस्त ब्रह्माण्ड में फैल रहा है) शरीरस्थ व्यान [जो नख से लेकर शिखापर्यन्त शरीर में व्यापक है] अनुगृहीत होता हुआ सम्पूर्ण प्राणियों के लिये उपयोगी होता है। निदान संक्षेप से इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि समष्टिगत प्राण ही व्यष्टिगत प्राण को आश्रय और अवकाश देते हुवा अधिभूत,और अध्यात्म (बाह्य और अन्तरंग) इन दोनों प्रकार के जगत् को धारण कर रहा है ॥ ८ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥९॥३८॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (तेजः, वै) तेज ही (उदानः) उदान वायु है (तस्मात्) इसलिये (उपशान्ततेजाः) शान्त हुवा है स्वाभाविक तेज जिस का अर्थात् मरणासन्न पुरुष (मनसि, संपद्यमानैः) मन में लीन हुए (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के साथ (पुनर्भवम्) पुनर्जन्म को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ-इसी प्रकार बाह्य उदान भी जो तेज में व्यापक है अन्तःस्थ उदान का (जो सुषुम्णा नाड़ी में रहता है) प्रवर्तक है। इस श्लोक में तेज ही को उदान कहा गया है। इसका कारण यह है कि शरीर में जो एक प्रकार की उष्णता है (जिस के कारण शरीर चलता फिरता और काम करता है) वह उदान वायु के ही आश्रित है। उदान वायु का निरोध होने पर वह उष्णता शांत हो जाती है और उस के शान्त होने पर जीवात्मा उस शरीर को त्याग कर मन में लीन हुए इन्द्रियों के साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट होजाता है, इसी को पुनर्भव या पुनर्जन्म कहते हैं। तात्पर्य यह कि जब तक शरीर में उदान वायु अपना काम करता है तब तक उस में उष्णता बनी रहती है जो कि जीवन का कारण है, उदान की गति का निरोध होते ही शरीर ठण्डा पड़ जाता है और अन्य प्राण भी उस को छोड़ देते हैं और यही मरण है ॥ ९ ॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः ।
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥२९॥

पदार्थः-(यच्चित्तः) मरण समयमें जिसमें चित्त वाला होता है अर्थात् जिन २ संस्कारोंसे युक्त होता है (तेन) उसी संकल्प से अर्थात् उन्हीं संस्कारों से (एषः) यह जीवात्मा (प्राणम्) इन्द्रियों के साथ प्राणवृत्ति को (आयाति) प्राप्त होता है। (प्राणः) प्राणवायु (तेजसा) उदानवायु से (युक्तः) मिला

हुआ (आत्मना, सह) भोक्ता आत्मा के साथ (तम्) उस आत्मा को (यथासंकल्पितं, लोकम्) पाप पुण्यकी वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को (नयति) पहुंचाता है ॥ १० ॥

भावार्थः-इस श्लोक में जीवात्मा की उत्क्रांति का क्रम दिखलाया गया है। मरण समय में अपने अनुष्ठित शुभाशुभ कर्मों की वासना के अनुसार जीवात्मा के जैसे संस्कार होते हैं, उन संस्कारों से युक्त हुआ जीवात्मा मुख्य करके प्राणवृत्ति का आश्रय करता है अर्थात् उस समय सब इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जानेपर केवल प्राणके आधार जीवात्मा रहता है क्योंकि जब तक श्वास लेता है, तब तक लोग कहते हैं कि अभी यह जीवित है। उस समय प्राण उदान से युक्त हुआ अर्थात् उदान को भी अपने साथ लेकर उस जीवात्मा को (जो अपने किये हुवे का फल भोगने वाला है) उस की पाप पुण्यरूप वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को पहुंचाता है। इस से सिद्ध है कि जीवात्मा के कर्म ही उसकी शुभाशुभ गतिके निमित्त हैं ॥१०॥

य एवं विद्वान् प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥ ४० ॥

पदार्थः-(यः, विद्वान्) जो बुद्धिमान् (एवम्) इसप्रकार (प्राणम्) प्राण को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस प्राणवित् की (प्रजा) इससे उत्पन्न होने वाली सन्तानादि (न, हीयते) क्षीण नहीं होती (अमृतः) जन्ममरण रहित (भवति) होजाता है (तद्) इस प्रसङ्ग में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ ११ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में आचार्य प्राणविद्या के फल को वर्णन करते हैं। उक्त प्रकार से जैसा कि वर्णन हुआ है, जो विद्वान् प्राण की विद्या को जानते हैं, उनको ऐहिक और आमु-

ष्मिक दोनों फलोंकी प्राप्ति होती है अर्थात् प्राण की अनुकूलता से उनका शरीर नीरोग और मन स्वस्थ होता है, शरीर के आरोग्य और मन की स्वस्थता से शुद्ध एवं पुष्ट वीर्य उत्पन्न होता है, उससे उत्तम और बलिष्ठ सन्तान उत्पन्न होकर दीर्घायु होती है। यह तो ऐहिक फल हुवा। अब रहा आमुष्मिक फल, सो प्राण को ही वश में करके मनुष्य समाधि का लाभ कर सकता है। जिस को पाकर जीवात्मा यह मरणशील शरीर रखता हुवा भी उस में ममत्व बुद्धि नहीं रखता और यही अमृतत्व है। अगला श्लोक भी इसी के फल का प्रतिपादन करता है:—॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते विज्ञायाऽमृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥ ४१ ॥

पदार्थ-(प्राणस्य) प्राण की (उत्पत्तिम्) आत्मा से उत्पत्ति को (आयतिम्) कर्मानुसार शरीराभिगमन को (पञ्चधा) पांच प्रकार से अपना विभाग करके [स्थानम्] अपानादि रूपसे पायूपस्थादि स्थानोंमे स्थितिको [विभुत्वम्] स्वाधित्वको वा व्यापकत्वको [अध्यात्मम्] चक्षुरादि इन्द्रियोंमे प्राणादि रूप से आध्यात्मिक स्थिति को [च] सूर्यादि रूपसे अग्न्यादि अधिभूतों में आधिभौतिक स्थिति को [विज्ञाय] जानकर [अमृतम्] मोक्ष को [अश्नुते] प्राप्त होता है। द्विर्वचन तृतीय प्रश्न की समाप्ति का सूचक है॥ १२ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी प्राणविद्या का माहात्म्य वर्णन किया गया है। इस प्रकार जो मनुष्य प्राण की उत्पत्ति को कि, यह आत्मरूप निमित्त से उत्पन्न होता है [आयति] शरीरा॰

भिगमन को कि स्वकृत कर्मानुसार शरीर में प्रवेश करता है [स्थान] स्थितिको कि अपने पांच विभाग करके पांच स्थानों में निवास करता है अर्थात् प्राणरूप से चक्षु और श्रोत्र में, अपान रूप से गुदा और उपस्थ में, समानरूप से नाभि में, व्यानरूप से समस्त शरीर में, और उदानरूप से सुषुम्णा नाड़ी में रहता, एवं उत्क्रान्ति को कि उदान के द्वारा यह शरीर से निकलता है तथा प्राण के समष्टि और व्यष्टि रूप भेद और इन के परस्पर सम्बन्ध को यथार्थरूप से जानता है, वह प्राणाग्नि में अपने सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक दोषों को भस्म करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बनता है । द्विर्वचन यहां तीसरे प्रश्न की समाप्ति अथवा अपरा विद्यासम्बन्धी प्रश्नकी समाप्ति के लिये समझना चाहिये १२

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

अथ चतुर्थः प्रश्नः

—:o:—

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥ ४३ ॥

पदार्थः-(अथ) इस के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस आचार्य से (सौर्यायणी गार्ग्यः) सौर्य के पुत्र गार्ग्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (एतस्मिन्, पुरुषे) इस शिरो हस्तपादादि आकृति वाले पुरुष में (कानि) कौन

करण (स्वपन्ति) सोते हैं (कानि) कौन (अस्मिन्) इस में (जाग्रति) जागते हैं। (एषः, देवः) जो यह देव (स्वप्नान्) स्वप्नों को (पश्यति) देखता है (कतरः) कौन है ((कस्य) किस को (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है (नु) प्रश्नार्थक (कस्मिन्) किस में (सर्वे) सब (सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति, इति) स्थित होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—पूर्व तीन प्रश्नों के द्वारा अपराविद्या विषयक कार्य मय जगत् की उत्पत्ति और समष्टि एवं व्यष्टिरूप से प्राणकी स्थिति आदि, आधिभौतिक विषयों का वर्णन किया गया, अब अगले तीन प्रश्नोंके द्वारा पराविद्यागम्य, अतीन्द्रिय, सत्य और शांत आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन किया जाता है। जब मनुष्य कार्यरूप जगत् की अनित्यता को जान कर वैराग्यवान् होता है और फिर प्राण की उपासना से चित्त की एकाग्रता और पवित्रता को प्राप्त कर लेता है, तब वह पराविद्या का अधिकारी होता है, इसलिये अब वक्ष्यमाण तीन प्रश्नों के द्वारा पराविद्यागम्य अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। अब तृतीय प्रश्न के समाधान होने उपरान्त सूर्य का पुत्र गार्ग्य पिप्पलाद ऋषि से पूछता है। हे भगवन्! इस हस्तपादादि आकृति वाले शरीरमें मन आदि अन्तःकरणों में से और चक्षुरादि बाह्यकरणों में से कौन २ से करण सोते हैं अर्थात् अपने अपने व्यापार से उपराम करते हैं ? तथा कौन २ इस में जागते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं ? और कौनसा देव स्वप्नों को देखता है ? जाग्रदवस्था के बाह्य अनुभव से निवृत्त होकर जाग्रत् के ही समान जो शरीर के भीतर अनुभव होता है, उस को स्वप्न कहते हैं, सो उस स्वप्न को कार्यरूप प्राणादि देखते हैं अथवा करणरूप मन आदि ? और यह सुख किस

को होता है अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न अवस्था के निवृत्त होने पर जो अनायास और निर्बाध सुख होता है वह किस को और क्योंकर होता है ? और किस में यह सब कार्य करण एक होकर स्थित होजाते हैं ?

इस श्लोक में शिष्य ने पांच प्रश्न किये हैं। १-इस शरीरों में कौन सोते हैं" इस प्रथम प्रश्न द्वारा जागरण का धर्मी पूछा गया है क्योंकि जागने वाला ही सोता है। २-"कौन जागते हैं," इस द्वितीय प्रश्न द्वारा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में शरीर की रक्षा करना किस का धर्म है ? यह पूछा गया है, क्योंकि जागने वाला ही रक्षा कर सकता है न कि सोने वाला। ३-"कौन स्वप्न को देखता है" इस तृतीय प्रश्न द्वारा स्वप्न का धर्मी पूछा गया है। ४-किस को यह सुख होता है ?" इस चतुर्थ प्रश्न द्वारा सुषुप्ति का धर्मी पूछा गया है, क्योंकि सुषुप्ति के विना संसार में और कोई सुख का लक्षण नहीं है, दुःखी मनुष्य कभी सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता और ५-"किस में ये सब स्थित होते हैं ?" इस पञ्चम प्रश्न द्वारा तीनों अवस्थाओं से रहित जहां सब कार्य और करणों का अवसान होजाता है, उस तुरीयावस्थागम्य आत्मा को पूछा गया है। अब इनका क्रम से आचार्य उत्तर देते हैं ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य ! मरीच्योऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष

पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥ ४४ ॥

पदार्थः–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला (गार्ग्य) हे गर्गकुलोत्पन्न ! (यथा) जैसे (अस्तं, गच्छतः) अस्त होते हुवे (अर्कस्य) सूर्य की (सर्वाः) सब (मरीचयः) किरणें (एतस्मिन्, तेजोमण्डले) इस तेजःपुञ्ज में (एकीभवन्ति) अविशेष रूप से एक होजाती हैं। (पुनः पुनः उदयतः) फिर फिर उदय होते हुवे उस सूर्य की (ताः) वे किरणें (प्रचरन्ति) फैलती हैं (एवम्) इसी प्रकार [ह, वै] निःसन्देह [तत्, सर्वम्] वह सब इन्द्रियादिजन्य ज्ञान [परे, देवे, मनसि] प्रकृष्टता से प्रकाशमान मन में [एकीभवति] लीन होजाता है । [तेन] इस कारण से [तर्हि] उस निद्रा की अवस्था में [एषः, पुरुषः] यह पुरुष [न, शृणोति] नहीं सुनता [न, पश्यति] नहीं देखता (न, जिघ्रति) नहीं सूंघता [न रसयते] नहीं चखता [न, स्पृशते] नहीं छूता [न, अभिवदते] नहीं बोलता (न, आदत्ते) नहीं पकड़ता [न, आनन्दयति] नहीं सुख का अनुभव करता (न, विसृजते) नहीं छोड़ता और [न, इयायते] नहीं चलता [स्वपिति, इति] किन्तु तब सोता है ऐसा [आचक्षते] कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में पहिले प्रश्न का उत्तर दिया गया है जिसमें यह पूछा गया था कि इस शरीर में कौन २ से करण सोते हैं अर्थात् निद्रा कब और क्यों होती है ? इसके उत्तर में

आचार्य शिष्य के प्रति कहते हैं कि हे गार्ग्य ! जैसे सायंकाल को अस्त होते हुवे सूर्य की सब किरणें सिमट कर उसकी तेजोराशि में (जो उन किरणों का केन्द्र है) लीन होजाती हैं जिस से वह अर्ध भूभाग जिसमें सूर्य अस्त होता है अन्धकार मय होजाता है और वेही किरणें फिर प्रातःकाल को (जब सूर्य का उदय होता है) तो उसमें से निकल कर सर्वत्र फैल जाती हैं। जिनसे प्रकाश होकर दर्शनादि व्यवहार प्रवृत होते हैं। बस इसी प्रकार जब निद्रासमय में इन्द्रिय रूप किरणों का ज्ञानरूप प्रकाश उत्कृष्टता से प्रकाशमान मन रूप सूर्य में (जो उनका केन्द्र है) लीन होजाता है (इन्द्रियों का नेता होने से मन को परम देव कहा गया है) तब निद्रारूप रात्रि प्रवृत्त होती है जिस में यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है न पकड़ता है न छोड़ता है, न सुख को अनुभव करता है और न चलता फिरता है किन्तु "सोता है" ऐसा कहा जाता है। पुनः निद्रा के उपरत होने पर जब जागरण का समय आता है तब जैसे सूर्य मंडल में से किरणें निकल कर संसार को प्रकाशित कर देती हैं. ऐसे ही मन में से एकीभूत इन्द्रियों की शक्ति निकल कर उन सबको पृथक् २ प्रकाशित कर देती है. जिससे श्रवण दर्शनादि सम्पूर्ण व्यवहार प्रवृत होने लगते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे किरणों का सूर्य में लीन होजाना रात्रि कहलाती है, इसी प्रकार इन्द्रियों का अपनी शक्ति रूप से मनमें लीन होजाना ही निद्रा या स्वप्नावस्था है ॥ २ ॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यंह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३। ४५॥

पदार्थः—(एतस्मिन् पुरे) इस नवद्वार वाले पुर अर्थात् शरीर में (प्राणाग्नयः, एव) प्राणादिरूप पांच अग्नि ही [जाग्रति] जागते हैं। [एषः अपानः] यह अपान वायु [ह, वै] निश्चय [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि है। [व्यानः] व्यान [अन्वाहार्यपचनः] दक्षिणाग्नि है। [यत्] जो [गार्ह-पत्यात्] गार्हपत्य अग्नि से [प्रणीयते] बनाया जाता है [प्रणयनात्] गार्हपत्य अग्नि से निष्पन्न होने से [प्राणः] प्राण वायु [आहवनीयः] आहवनीय अग्नि है ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में "कौन जागते हैं" इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुवे आचार्य कहते हैं कि इस नवद्वार वाले शरीर में निद्रा के समय जब श्रोत्रादि इन्द्रिय सोते हैं अर्थात् मन में लीन हुवे अपने २ व्यापार से उपरत होते हैं तब पञ्च प्राण रूप अग्नि ही जागते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं। जागरण शील होने से ही प्राणों को अग्नि कहा गया है, क्योंकि निद्रा एक प्रकार का अन्धकार है, जैसे अन्धकार अपना प्रभाव और सब पदार्थों पर डाल सकता है अर्थात् उनको तिरोहित कर सकता है, परन्तु अग्नि को नहीं छिपा सकता ऐसे ही निद्रा अन्य सब करणों को सुला सकती है, परन्तु प्राणों पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती। वे निद्रारूप अन्धकार के होने पर भी अग्निवत् सदा जागते ही रहते हैं। अब प्राणों को अग्नि से समानाधिकरणता दिखलाते हैं। अपान वायु ही गार्हपत्य अग्नि है, जैसे गार्हपत्य अग्नि से नैमित्तिक यज्ञों में आहवनीय अग्नि संवृत्त होता है, इसी प्रकार सुषुप्ति में अपान वायु से प्राण वायु का संवरण होता है अर्थात् सोते हुवे पुरुष का अपान वायु ही मुख, नासिका के छिद्रों से प्राणरूप होकर निकलता है अतएव आहवनीय

अग्नि प्राणवायु है, क्योंकि यह अपान रूप गार्हपत्य अग्नि से उत्पन्न होता है। अब रहा दक्षिणाग्नि, सो उसकी समानाधिकरणता व्यान के साथ है। व्यान यद्यपि समस्त शरीर में व्यापक है तथापि हृदय के दक्षिणदेशस्थ छिद्रों के द्वारा उस का निर्गम होने से तथा आहार के परिपाक में उसका उपयोग होने से उसको दक्षिणाग्नि वा अन्वाहार्यपचन कहा गया है ॥ ३ ॥

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥ ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(यत्) जो (एतौ) इन (उच्छ्वासनिश्वासौ) श्वास और प्रश्वासरूप (आहुती) दो आहुतियों को (समं, नयति, इति) समता को प्राप्त कराता है इस से (सः) वह (समानः) समान वायु है (ह) प्रसिद्ध (मनः, वाव) मन ही (यजमानः) यज्ञ का कर्त्ता है (इष्टफलम्, एव) यज्ञ का फल ही (उदानः) उदान वायु है। (सः) वह उदान (एनं, यजमानम्) इस मनरूप यजमान को (अहरहः) प्रतिदिन (ब्रह्म) परम सुख को (गमयति) पहुंचाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें प्राण अपान और व्यान की समानाधिकरणता क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के साथ दिखला चुके हैं, अब इस श्लोक में समान और उदान की समानाधिकरणता कहते हैं। श्वास और प्रश्वासरूप दो आहुतियों को समान रूप से जो प्राण में हवन करता है, वह होतृस्थानीय समान वायु है। जैसे होता आहवनीय अग्नि में अग्नि

और सोम के लिये दो आज्यभागाहुतियों को समान रूप से पहुंचाता है, इसी प्रकार समान वायु श्वास और प्रश्वास रूप दो आहुतियों को सम भाग से प्राणाग्नि में हवन करता है; अत एव यह होतृस्थानीय है। सङ्कल्प विकल्पात्मक मन ही यजमान अर्थात् इस आध्यात्मिक यज्ञ का कर्त्ता है और उस यज्ञ का फल ही उदान वायु है जो कि मनरूप यजमान को प्रतिदिन सुषुप्ति में लेजाकर परम सुख का अनुभव कराता है। तात्पर्य यह है कि होता रूप समान वायु अपनी श्वास और प्रश्वासरूप दो आहुतियों के द्वारा मन रूप यजमान को उदान रूप जो इस आध्यात्मिकयज्ञ का फल है, उसे प्राप्त कराता है। जो कि अग्नि तीन ही प्रकार का है और प्राण के पांच भेद हैं, इसलिये शेष समान और उदान की समानाधिकरणता होता और यज्ञ-फल के साथ की गई है। होता के द्वारा यज्ञफल की प्राप्ति यजमान को होती है, इसलिये मन को यजमान कहा गया है। जो कि ये सब पूर्वोक्त तीनों अग्नियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये एक प्रकार से अग्नि के ही साथ इन की समाना-धिकारणता समझनी चाहिये ॥ ४ ॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति ।
यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थ-
मनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं
पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च
श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चा-
सच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥४७॥

पदार्थः- (अत्र) श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरत होने पर एवं

शरीररक्षार्थ प्राणादि वायुओं के जागने पर अर्थात् जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच में (एषः, देवः) यह मनरूप देव (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (महिमानम्) अपनी विभूति को अर्थात् विषयरूप अनेक वस्तुओं को (अनुभवति) अनुभव करता है। (यत्) जिस को (दृष्टम्) पहिले देखा है उस को (दृष्टम्, अनुपश्यति) देखे हुवे के समान पुनः देखता है (श्रुतम् सुनी हुई बात को (श्रुतम्, एव, अनुशृणोति) सुने हुवे के समान फिर सुनता है (देशदिगन्तरैः, च, प्रति, अनुभूतम्) देशान्तर और दिगन्तर में अनुभव किये हुवे को (पुनः, पुनः, प्रति, अनुभवति) बार २ अनुभव करता है (च) और (दृष्टम्,) देखे हुवे को (च) और (अदृष्टम्) नहीं देखे हुवे को (च) और (श्रुतम्) सुने हुवे को (च) और (अश्रुतम्) नहीं सुने हुवे को (च) और (अनुभूतम्) अनुभव किये हुवे को (च) और (अननुभूतम्) अनुभव न किये गयेको (च) और (सत् विद्यमान को (च) और (असत्) अविद्यमान को (सर्वम्) उक्त अनुक्त सब को [पश्यति] देखता है [सर्वः] सब कारणों को अपने में लीन करके मन [पश्यति] देखता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में "कौन सा देव स्वप्नों को देखता है" इस तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जब श्रोत्रादि सब इन्द्रिय अपने २ काम से उपरत हो जाते हैं अर्थात् उन की वृत्ति मन में लीन हो जाती है, केवल प्राणादि पांच वायु इस शरीर में जागते हैं अर्थात् अपना अपना काम करते हैं, उस समय जाग्रत् और सुषुप्तिके बीच में यह मन रूप देव पूर्व दृष्ट या श्रुत अर्थों को तथा देशान्तर और कालान्तर में अनुभूत अर्थों को उन केवासनाजन्य संस्कारों से उद्बोधित हुआ

अपने में उन को देखता, सुनता और अनुभव करता है, इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। यही नहीं कि केवल इसी जन्म या इसी शरीर में देखे, सुने और अनुभव किये अर्थों को देखता, सुनता और अनुभव करता है, किन्तु इस जन्म या शरीर में कभी न देखे, न सुने और न अनुभव किये अर्थों को,भी पूर्वजन्म और पूर्वोपात्त शरीरों के वासनाजन्य संस्कारों के प्रभाव से देखता, सुनता और अनुभव करता है। कभी सत्–जो वस्तु जैसी है उस को वैसी ही देखता है, जैसे मनुष्यों का दौड़ना और पक्षियों का उड़ना इत्यादि। कभी असत्–जो जैसी नहीं है उस को भी वैसी देखता है, जैसे मनुष्यों का उड़ना और पशुओं का बोलना इत्यादि अनेक व्यवहारों को स्वप्न में मनरूप देव सम्पूर्ण बाह्य और अन्तः करणों का अपने में समावेश करके देखता है॥

यहां पर यह शंका होती है कि समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान की उपलब्धि में मन तो आत्मा का एक करण मात्र है, उस ज्ञान का स्वतन्त्रता से अनुभव करने वाला तो केवल आत्मा है फिर यहां श्रुति में स्वप्नज्ञान का अनुभव करने वाला मन को क्यों कहागया है? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रत्येक दशा में ज्ञान का अधिकरण केवल आत्मा ही हो सकता है तथापि मन के संयोग के विना केवल आत्मा में जाग्रदादि अवस्थायें बन नहीं सकतीं। आत्मा अपनेस्व रूप से न कभी सोता है और न जागता है, वह तो सदा एकरस है. मन की ही उपाधि से उस में सोना और जागना आदि व्यवहार होते हैं अतः मन को ही इन का निमित्त मानकर [इस. न्याय से कि "येन विना यदनुत्पन्नं तत्तेनादिश्यते" जिस के होने से

जो होता है वह उसका ही माना जाता है] स्वप्नज्ञान का अनुभविता मन को कहा गया है ॥ ५ ॥

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति । अत्रैव देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरएतत्सुखं-भवति ॥ ६ ॥ ४८ ॥

पदार्थः—[सः] वह मन [यदा] जब [तेजसा] वेगसे [अभीभूतः, भवति] हीन होजाता है [अत्र] इस दशा में [एषः देवः] यह मन [स्वप्नान्] स्वप्नों को [न पश्यति] नहीं देखता [अथ] इसके अनन्तर [तदा] तब [एतस्मिन् शरीरे] इस शरीर में [एतत् सुखम्] यह सुख [भवति] होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस श्रुति में आचार्य "किसको यह सुख होता है" इस चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं । जब वह मन तेज से अभिभूत [वेगरहित— एकाग्र] होकर निश्चेष्ट हो जाता है, तब सुषुप्ति या समाधि की अवस्था होती है । इनमें इतना भेद है कि जब सांसारिक सुख से तृप्त होकर मन शांत होता है उसको सुषुप्ति और जब पारमार्थिक अगाध सुखका अनुभव करके निश्चल और निश्चेष्ट होजाता है उसको समाधि वा तुरीयावस्था कहते हैं । इन दोनों अवस्थाओं में मनकी गति का निरोध होने से न कोई स्वप्न होजाता है और न किसी दुःख का अनुभव होता है । यद्यपि सुषुप्ति में दुःख का अभाव क्षणिक है, तथापि चाहे थोड़ी देर के लिये ही क्यों न हो संसार में दुःख से छुटकारा केवल सुषुप्ति में ही जाकर मिलता है । बस इन्हीं दोनों अवस्थाओं में जब मन अनात्म-वस्तुओं के संसर्ग से रहित होकर निश्चेष्ट होजाता है [और

वही उसका वेग से अभिभूत होता है] तब उसको इस शरीर में ही उस निराबाध सुख की [जो पूछा गया है] उपलब्धि होती है ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य ! वयांसि वासोवृक्षं संप्रति-
ष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं परआत्मनि संप्रति-
ष्ठते ॥ ७ । ४६ ॥

पदार्थः—(सः यथा) सो जैसे [सोम्य] हे प्रियदर्शन ! [वयांसि] पक्षिगण [वासोवृक्षम्] निवासार्थ वृक्ष में [संप्रतिष्ठन्ते] ठहरते हैं [ह, वै] निश्चय [एवम्] इसी प्रकार [तत्, सर्वम्] वह वक्ष्यमाण सब कुछ [परे, आत्मनि] इस सूक्ष्म आत्मा में [संप्रतिष्ठते] स्थिति पकड़ता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—अब इस श्रुति में पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जिसमें पूछा गया था कि किस वस्तु में यह सब पदार्थ स्थित होते हैं" पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे सोम्य ! जिस प्रकार रात्रि में पक्षिगण निवास के लिये वृक्ष का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार प्रलयरूप महारात्रि में यह सब कुछ जिस का विवरण अगली श्रुति में किया गया है, उस अक्षर परमात्मा में लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा
च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चा-
ऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं
च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयि-
तव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्त-
व्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्द-

यितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्चमन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्त्तव्यं च कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥ ५० ॥

पदार्थः-(पृथिवी, च, पृथिवीमात्रा, च) पृथिवी और उस की मात्रा गन्ध (आपः, च, आपोमात्रा, च) जल और उसकी मात्रा रस (तेजः, च, तेजोमात्रा, च) तेज और उस की मात्रा रूप (वायुः, च, वायुमात्रा, च) वायु और उस की मात्रा स्पर्श (आकाशः, च, आकाशमात्रा, च) आकाश और उसकी मात्रा शब्द [यहां तक स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् कार्य कारण रूपसे पञ्चमहाभूत हुवे (चक्षुः, च, द्रष्टव्यं, च) आंख और देखने योग्य वस्तु (श्रोत्रं,च श्रोतव्यं च) कान और सुनने योग्य वस्तु (घ्राणं, च, घ्रातव्यं, च) नाक और सूंघने योग्य वस्तु, (रसः, च, रसयितव्यं, च) रसना और रस लेने योग्य वस्तु (त्वक्, च, स्पर्शयितव्यं, च) त्वचा और छूने योग्य वस्तु (वाक्, च, वक्तव्यं, च) वाणी और कहने योग्य वस्तु (हस्तौ,च, आदातव्यं. च) दो हाथ और उन से ग्रहण करनेयोग्य वस्तु (उपस्थः) च, आनन्दयितव्यं, च] उपस्थ इन्द्रिय और उस के द्वारा प्राप्त होने वाला रतिजन्य सुख [पायुः, च, विसर्जयितव्यं, च] गुदेन्द्रिय और उसका काम विसर्जन [पादौ, च, गन्तव्यं, च] दो पैर और उनका कार्य गमन [यहां तक ५ ज्ञानेंद्रिय और ५ कर्मेंद्रिय जिन को बाह्यकरण कहते हैं, पूर्ण हुवे] [मनः, च, मंतव्यं, च] मन और मनन करने योग्य वस्तु [बुद्धिः च, बोद्धव्यं, च] बुद्धि और जानने योग्य वस्तु [अहङ्कारः च,

अहं कर्त्तव्यं, च] अहङ्कार और अहं करने योग्य वस्तु [चित्त च, चेतयितव्यं, च] चित्त और चिन्तन करने योग्य वस्तु [यहां तक चार अन्तःकरण पूरे हुवे] [तेजः च, विद्योतयितव्यं, च] तेज और प्रकाश करने योग्य वस्तु [प्राणः, च विधारयितव्यं च] प्राण और धारण करने योग्य वस्तु ॥८॥

भावार्थ—यह सब कुछ क्या है ? बस इसी का विवरण इस श्रुति में किया गया है । यों तो संसार में अनेक और असंख्य पदार्थ हैं जिन का कोई सैंकड़ों वर्ष पर्यन्त नाम निर्देशमात्र ही करता रहे तो भी पार नहीं पासकता । परन्तु महर्षि पिप्पलाद निम्नलिखित चार श्रेणियों में उन सब का समावेश करके सागर को गागर में भरे देते हैं । पहिली श्रेणी में पृथिवी, अप तेज, वायु और आकाश; ये पञ्चमहाभूत और गन्ध रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच उन की सूक्ष्मतन्मात्रायें निर्दिष्ट हैं, सारा प्राकृत जगत् समष्टिरूप से इन में आजाता है । दूसरी श्रेणी में पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच उस के विषय एवं पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ही उन के कर्म सन्निविष्ट हैं । सम्पूर्ण जगत के होने हुवे भी यदि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय न होते तो क्या ज्ञान और कर्म के बिना एक दिन भी यह सृष्टि का प्रवाह चल सकता था ? कदापि नहीं । तीसरी कक्षा में मन आदि चार अन्तः करण हैं आंख के होते हुवे भी यदि मन न होता तो क्या हम उस से कुछ देख सकते थे ? कान के होते हुवे भी यदि बुद्धि न होती तो क्या हम उस से कुछ सुन सकते थे ? वाणी के होते हुवे भी यदि चित्त न होता तो क्या हम उस से कुछ लाभ उठा सकते थे ? कुछ नहीं, कदापि नहीं ॥

चौथी कक्षा में वही तेजरूप प्राण रक्खे गये हैं कि जो इस शरीर के प्रकाशक और विधारक हैं । मन आदि अन्तःकरणों के

होते हुवे भी यदि प्राण न होते तो क्या हम उनसे मनन, चिन्तनादि करसक्ते थे. कदापि नहीं। बस यह चारों प्रकार का जगत् जो उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, सुषुप्ति या समाधि में (जैसे रात्रि में पक्षिगण वृक्ष का आश्रय लेते हैं आत्मा में जाकर (जो इस का एकमात्र आधार है) स्थिति पकड़ता है ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ।
स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥ ५१ ॥

पदार्थः— हि) निश्चय (एषः) यह (द्रष्टा) देखने वाला (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला (श्रोता) सुनने वाला (घ्राता) सूंघने वाला (रसयिता) चखने वाला (मन्ता) मनन करने वाला (बोद्धा) जानने वाला (कर्त्ता) अपनी स्वतन्त्रता से शुभाऽशुभ कर्मों को करने वाला (विज्ञानात्मा) ज्ञान का अधिकरण अर्थात् ज्ञानस्वरूप (पुरुषः) कार्यकरणसंघात का पूरक होने से जीवात्मा है। (सः) वह भी (परे, अक्षरे, आत्मनि) अपने से पर अक्षर परमात्मा में (संप्रतिष्ठते) ठहराता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—पहिली श्रुति में जो चार कोटि वर्णन की गई थीं, वे चारों प्राकृत जगत् से ही सम्बन्ध रखती हैं जीवात्मा इन सब के अतिरिक्त है, जिसको आचार्य इस श्रुति के द्वारा पांचवीं कोटि में वर्णन करते हैं । पञ्चमहाभूत, ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण इन सबके होते हुवे कल्पना करो कि यदि जीवात्मा न होता तो क्या ये सब के सब व्यर्थ न हो जाते ? अवश्यमेव व्यर्थ होजाते । बस जो आंखों से

देखता है, त्वक् से स्पर्श करता है, श्रोत्र से सुनता है, घ्राण से सूंघता है, रसना से चखता है, मन से मनन करता है, बुद्धि से जानता है और अपनी स्वतन्त्रता से समस्त शुभाऽशुभ कर्मों को करता है, वह ज्ञान का अधिकरण (जिस में तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञान रहता है) जीवात्मा है वह भी उसी अक्षर परब्रह्म में, जिस में यह सारा प्राकृत जगत् कारण रूप से लीन होता है, अपने वास्तविक रूप से अवस्थित होता है ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छाय मशरीर मलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १०५२॥

पदार्थः—(सोम्य) हे प्रियदर्शन । (यः, तु) और जो (ह, वै) निस्सन्देह (यः) जो (तद्) उस (अच्छायम्) तमस् अर्थात् अज्ञान से वर्जित (अशरीरम्) तीनों प्रकार के शरीर से रहित एवं तदनुयायिनी तीनों अवस्थाओं से वर्जित तथा तन्निमित्त तीनों गुणों से शून्य (अलोहितम्) रक्तादि सब गुणों से रहित (शुभ्रम्) निर्मल (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्म को (वेदयते) जानता है [सः] वह [परम्, एव, अक्षरम्] परम अविनाशी ब्रह्म को [प्रतिपद्यते] प्राप्त होता है [सः] वह [सर्वज्ञः] सब जानने वाला [सर्वः] सर्वेश [भवति] होता है [तद्] इसी विषय में [एषः] यह [श्लोकः] श्लोक है ॥ १० ॥

भावार्थः—अब इस श्रुति में आचार्य ब्रह्मज्ञान का फल प्रतिपादन करते हैं । सत्व, रजस, तमस इन तीनों गुणों से अतीत, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से वर्जित; कारण, सूक्ष्म स्थूल इन तीनों प्रकार के शरीरों से

रहित; रक्त पीतादि वर्ण और गुणों से शून्य अतएव अतीन्द्रिय शुद्ध अविनाशि ब्रह्म को [जिस में यह सारा ब्रह्माण्ड स्थूल पञ्चमहाभूतों से लेकर सूक्ष्म जीवात्मा पर्यन्त प्रलय में लीन होजाता है] जो पुरुष जानता है, उसको फिर क्या जानना शेष रह जाता है ? "तस्मिन्नेव विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" उस ही के जानने पर यह सब कुछ जाना जाता है। अतएव वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ [अप्रतिहतज्ञान] होकर जीवन्मुक्त हुआ सर्वत्र ब्रह्मानन्द में रमण करता है "सर्वो भवति" यहां "मञ्चाः क्रोशन्ति" के समान लाक्षणिक अर्थ की योग्यता है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥११॥४.२.

पदार्थः–[सोम्य] हे प्रियदर्शन! (प्राणाः) पांचों प्राण [भूतानी] पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत [सर्वैः, देवैः सह] चक्षुरादि इन्द्रियों तथा सूक्ष्म तन्मात्राओं के साथ [यत्र] जिस विराट् पुरुष में [संप्रतिष्ठन्ति] ठहरते हैं [तद्, अक्षरम्) उस अक्षर को [यः, विज्ञानात्मा] जो जीवात्मा [वेदयते] जानता है [सः] वह [सर्वज्ञः] त्रिकालज्ञ होकर [सर्वम्, एव, आविवेश, इति] सब को ही प्रवेश करता है।११।

भावार्थः—उक्तार्थ को ही यह मन्त्र भी पुष्ट करता है। जिस भूमा पुरुष में प्राण इन्द्रियों और और पृथिव्यादिभूत अपनी सूक्ष्म तन्मात्राओं के सहित संप्रतिष्ठित हो जाते हैं अर्थात् जो कार्य कारण दोनों दशाओं में सारे विश्व का अधिष्ठान है, उस अविनाशी ब्रह्म को जो पुरुष यथार्थरूप से जान

लेता है उस के लिये कौनसी वस्तु अप्राप्त और कौन सा देश अप्राप्य है ? कोई भी नहीं ॥ ११ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थःप्रश्नः ॥ ४ ॥

—:o:—

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन् ! मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १।५४

पदार्थः—(अथ) इसके उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (शैब्यः, सत्यकामः) शिवि के पुत्र सत्यकाम ने (पप्रच्छ) पूछा कि [भगवन्] हे ब्रह्मन् ! [ह, वै] प्रसिद्ध (मनुष्येषु) मनुष्यों में (सः, यः) जो कोई (प्रायणान्तम्) मरण पर्यन्त (तद्) उस ब्रह्म के वाचक (ओंकारम्) प्रणव का (अभिध्यायीत) समाहितचित्त होकर ध्यान करे (वाव) निश्चय (सः) वह ध्याता (तेन) उस प्रणव के ध्यान से (कतमं, लोकम्) कौनसे लोक को (जयति, इति) जीतता है ॥ १ ॥

भावार्थः—चतुर्थ प्रश्न द्वारा उत्तमाधिकारियों को द्रव्यशुद्धि और साधनपूर्ति पूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति कह कर अब मन्द वैराग्य वाले मध्यमाधिकारियों को प्रणव की उपासना के द्वारा क्रमशः ब्रह्मप्राप्ति करने के लिये इस पञ्चम प्रश्न का प्रारम्भ करते हैं । सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न का समाधान होने उपरान्त शैब्य सत्यकाम ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया कि

भगवन् ! मनुष्यों में जो कोई शुद्ध संस्कारवान् मरणपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन समाहितचित्त होकर वाच्य और वाचक की अभिन्नता से ब्रह्म के वाचक प्रणव का ध्यान करे तो इस ध्यानरूप कर्म के करने से वह ध्यान का कर्त्ता कौन से लोक को जीतता है अर्थात् किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ १ ॥

तस्मै सहोवाच । एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्माद्विद्वा-नेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥२ ।५४॥

पदार्थः—(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! (यत्) जो (परं, च, अपरं, च, ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है (एतद्, वै) यही (ओंकारः) ओंकार है (तस्मात्) इसलिये (विद्वान्) सदसद्विवेकी पुरुष (एतेन, एव, आयतनेन) इस ही अवलम्ब से (एकतरम्) पर और अपर इन दोनों पदों में से स्वाभीष्ट एक को (अन्वेति) प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थः—उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुवे पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे सत्यकाम ! पर और अपर रूपसे दो प्रकार का जो ब्रह्म है अर्थात् वाचक [शब्द] रूप से अपर ब्रह्म और वाच्य [अर्थ] रूप से परब्रह्म, सो यह दोनों प्रकार का ब्रह्म ओंकार ही है । वाच्य वाचक की अभिन्नता मानकर यह कहा गया है, लोक में भी ऐसा व्यवहार देखने में आता है । यथा "देवदत्त यहां जायगा, यज्ञदत्त यह काम करेगा" इत्यादि । देवदत्त और यज्ञदत्त संज्ञा हैं, तथा जाना और काम करना यह संज्ञी के धर्म हैं, नकि संज्ञा के । परन्तु संज्ञाके साथ संज्ञी

अभेदान्वय होने से वे केवल संज्ञा से निर्दिष्ट किये जाते हैं। इसी प्रकार संज्ञी ब्रह्म का संज्ञा प्रणव के साथ अभेद होने से तद्द्वारा उस का निर्देश किया गया है। अतएव ध्यानशील विद्वान् इस ही ओंकार का अवलम्बन करने से अभ्युदय और मोक्ष इन दोनों फलों में से जिस को चाहता है, ले सकता है। कठोपनिषद् में भी निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा इसी ओंकार का माहात्म्य वर्णन किया गया है। "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥" यह ही अक्षर (ओ३म्) ब्रह्म है, यह ही अक्षर (पर) सबसे उत्कृष्ट है, इस ही अक्षर (ओ३म्) को जानकर जो, जो चाहता है वह उसका है। यह आलम्बन श्रेष्ठ है, यह अवलम्बन सर्वोत्तम है, इस ही आलम्बन को जान कर ब्रह्मलोक में महत्त्व को पाता है ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदित-स्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलो-कमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ । ४३ ॥

पदार्थः—(सः) वह ध्यान करने वाला (यदि) जो (एक-मात्रम्) ओंकार की एक मात्रा [अकारमात्र] को (अभि-ध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह एक मात्रा का ध्यान करने वाला (तेन एव) उस ही एक मात्रा के ध्यान से (संवेदितः) सम्यक् बोधित हुआ (तूर्णम् एव) शीघ्र ही (जगत्याम्) पृथिवी में (अभिसंपद्यते) सब ओर से सम्पन्न होता है। (तम्) उसको (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (मनुष्य-

लोकम्) मनुष्य लोक सम्बन्धी सम्पूर्ण सुखों को (उपनयन्ते) समीपता से प्राप्त कराते हैं (सः) वह ऋग्वेद के मन्त्रों से मनुष्यलोक के समस्त सुखों को प्राप्त हुआ मनुष्य (तत्र) उस मनुष्यलोक में (तपसा) धर्म के आचरण से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियनिग्रह से और (श्रद्धया) आस्तिक्य बुद्धि से (संपन्न) युक्त हुआ [महिमानम्] ब्रह्म के महत्व को [अनुभवति] अनुभव करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—समष्टिरूप से सम्पूर्ण प्रणव के ध्यान का फल कह कर अब व्यष्टिरूप से उस की एक २ मात्रा के ध्यान का फल कहते हैं। ओंकार में तीन मात्रा (अक्षर) हैं-अ, उ, म,। इनका विस्तार पूर्वक व्याख्यान माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है, यहां पर केवल इन की उपासना का फल वर्णन किया गया है। पहिली मात्रा आकार है। जो मनुष्य यम नियमादि साधनों से संपन्न होकर एवं प्रणव के वाच्य पर श्रद्धा और विश्वास को धारण करके पहिली मात्रा का ध्यान करता है (आत्मप्रत्यय के दृढ़ होने से तद्भिन्न प्रत्ययों का विलीन होना ही यहां ध्यान शब्द का अभिप्राय है) वह तन्मय होकर एक मात्रा विशिष्ट ओंकार के ध्यान करने से ही विच्छिन्न तम आवरण होकर विज्ञान से प्रकाशित हुवा पृथिवी में सुशोभित होता है। उस को ऋग्वेद के मन्त्र मनुष्यलोक और उस के सम्पूर्ण अभ्युदय को प्राप्त कराते हैं। तब वह इस मनुष्यलोक में श्रेष्ठ गति को पाकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से संपन्न हुवा ब्रह्म के महत्व का अनुभव करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥ ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(अथ) और (यदि) जो (द्विमात्रेण) अकार उकार दो मात्राओं से (मनसि) मन में (संपद्यते) प्राप्त होता है अर्थात् ध्यान करता है (सः) वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थ (सोमलोकम्) चन्द्रलोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद के द्वारा (उन्नीयते) ले जाया जाता है (सः) वह (सोमलोके) चन्द्रलोक में (विभूतिम्) ऐश्वर्य को (अनुभूय) अनुभव करके (पुनः) फिर (आवर्त्तते) इस पृथिवी पर आता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार जो अकार उकार दो मात्राओं से से मनन पूर्वक ब्रह्म का ध्यान करता है वह यजुर्वेद के द्वारा चन्द्र लोक को पहुंचाया जाता है। वहां अनेक प्रकार के दिव्य भोगों को भोग कर फिर वह इस मर्त्यलोक में जन्म लेता है। यद्यपि मनुष्यलोक की अपेक्षा चन्द्रलोक विशेष माना गया है, तथापि ब्रह्मलोक की अपेक्षा (जो वक्ष्यमाण त्रिमात्र ओङ्कार की उपासना से प्राप्त होता है) कुछ भी नहीं ॥ ४ ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मा ज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥ ॥५८॥

पदार्थः—(पुनः) फिर (यः) जो (त्रिमात्रेण) अ, उ, म, तीन मात्रा वाले (ओम् इति, एतेन, एव, अक्षरेण) "ओ३म्"

इस ही अक्षर से (एतं, परं, पुरुषम्) इस परब्रह्म को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह (तेजसि,सूर्ये) तेजवाले सूर्य लोक में (संपन्नः) प्राप्त होता है (यथा) जैसे (पादोदरः) उदर ही पैर हैं, जिस के ऐसा सर्प (त्वचा) कैंचुली से (विनिर्मुच्यते) पृथक् हो जाता है (ह, वै) निस्सन्देह (एवम्) इस ही प्रकार (सः) वह त्रिमात्र " ओ३म् " का ध्याता (पाप्मना) पापरूप मल से (विनिर्मुक्तः) छूट जाता है (सः) वह (सामभिः) सामवेद के मन्त्रों से (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को (उन्नीयते) सब से ऊपर ले जाया जाता है (सः) वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ (एतस्मात्, परात्, जीवघनात्) इन समस्त जीवों के सूक्ष्म संघात से (परम्) सूक्ष्म (पुरीशयम्) समस्त विश्व में व्यापक (पुरुषम्) पूर्ण पुरुष को (ईक्षते) देखता है (तद्) इस विषय में (एतौ, श्लोकौ) वक्ष्यमाण ये दो श्लोक (भवतः) प्रस्तुत हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब जो शम दमादि साधनों से युक्त हुआ समग्र ओंकार से अर्थात् अ, उ, म इन तीनों मात्राओं से विधिपूर्वक उस परम पुरुष का ध्यान करता है, प्रथम वह तेज से सम्पन्न होकर सूर्यलोक में जाता है, पुनः कैंचुली छोड़े हुवे सर्प के समान पापरूप मल के आवरण से मुक्त हुआ सामवेद के द्वारा सर्वोपरि ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। जिस ब्रह्मलोक को पाकर फिर वह इस जीव संघात रूप कार्यकारणात्मक जगत् में सिवाय उस परमपुरुषके कि जो चराचर विश्वमें ओत प्रोत हो रहा है और किसी को नहीं देखता अर्थात् केवल ब्रह्ममय और ब्रह्मपर होजाता है, इसी की पुष्टि अगले दो श्लोक भी करते हैं ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तर मध्यमासु

सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥ ॥ ५६ ॥

पदार्थ—(अन्योन्यसक्ताः) परस्पर सम्बद्ध (अनविप्रयुक्ताः) ज्ञेय में प्रयोग न करके केवल शब्द में ही प्रयोग की गई [तिस्रः, मात्राः] अकार, उकार, मकार ये तीन मात्रायें [मृत्युमत्यः] मरणधर्मवाली [प्रयुक्ताः] कही गई हैं। [बाह्याभ्यन्तर मध्यमासु क्रियासु] जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप क्रियाओंमें अथवा यम प्राणायाम और मानसजपादि क्रियाओं में [सम्यक् प्रयुक्तासु] भली भांति प्रयोग करने पर [ज्ञः] बुद्धिमान् प्रयोक्ता [न कम्पते] नहीं चलायमान होता ॥ ६ ॥

भावार्थः—परस्पर संबद्ध अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली तीन मात्रायें यदि ज्ञेयवर्जित हों अर्थात् केवल उन का उच्चारण किया जाय किन्तु उन से ज्ञेय ब्रह्म का मनन एवं निदिध्यासन न किया जाय , तो वे मनुष्य को जन्म मरण के चक्र से नहीं बचा सकतीं प्रत्युत और इस में फंसा देती हैं। हां जो बुद्धिमान् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में क्रमशः यम, प्राणायाम और मानस जप इन तीन बाह्य मध्यम और आभ्यन्तर क्रियाओं के द्वारा इन तीनों मात्राओं का समावेश करता है अर्थात् अकार से यमादि का अनुष्ठान करता हुआ जाग्रत् अवस्था को जीतता है, उकार से प्राणायाम करता हुआ स्वप्न को वश में करता है और मकार से मानस जप करता हुआ सुषुप्ति को जीत लेता है, वह ध्येय में समावेशित चित्त इन मात्राओं के ठीक २ प्रयोग करने से चलायमान नहीं होता। तात्पर्य यह कि जहां इन का यथार्थ प्रयोग मनुष्य को अमृत पद का भागी बनाता है वहां इन का अन्यथा प्रयोग और भी मृत्यु की दलदल में फंसा देता है। इसलिये शास्त्र की विधि और विद्वान् आचार्य के उपदेशानु-

सार ही इस मार्ग में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिये, न कि स्वेच्छाचार से ॥ ६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृत मभयं परं चेति ॥७ । ६०॥

पदार्थः—[अग्निः] ऋग्वेद से [एतम्] इस मनुष्य लोक [को यजुर्भिः] यजुर्वेद से [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष सम्बन्धी सोमलोक को [सामभिः] सामवेद से [यत् तत्] जिस उस को [कवयः] विद्वान् लोग [वेदयन्ते] जानते हैं [तम्] उक्त तीनों लोक को [विद्वान्] सदसज्ज्ञाता [ओंकारेण, एव आयतनेन] ओंकार ही के अवलम्ब से [अन्वेति] प्राप्त होता है [यत्] जो कि [शान्तम्] रागादि दोषरहित [अजरम्] जरा रहित [अमृतम्] मरणवर्जित [अभयम्] अद्वैत होने से भयरहित [परम्] सर्वोत्कृष्ट है [तत्] उस ब्रह्म को [अन्वेति] प्राप्त होता है ॥ ७॥

भावार्थः—इस मंत्र के द्वारा उपसंहार करते हुवे आचार्य कहते हैं कि इस ओंकार के ही विधिपूर्वक अवलम्बन करने से ध्याता यथेष्ट फल को प्राप्त होता है, अर्थात् एक मात्रा के ध्यान से ऋग्वेद के द्वारा मनुष्यलोक के सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है दो मात्राओं के ध्यान से यजुर्वेद के द्वारा चंद्र लोक के समस्त सुखों को प्राप्त करता है, एवं तीन मात्राओंके विधिपूर्वक ध्यान से सामवेद के द्वारा उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिस को विद्वान् लोग ही जानते हैं और जो 'शान्त

अजर, अमृत, अभय और पर नामों से निर्देश किया जाता है ॥ ७ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥

—*—

अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन् ! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ ? तमहं कुमारमब्रुवं. नाहमिमं वेद, यद्य हमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यामिति, समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृत मभिवदति, तस्मान्नार्हा-म्यनृतं वक्तुं, स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुषइति ॥ १ ॥ ६१॥

पदार्थः—[अथ] इसके उपरान्त [ह] प्रसिद्ध [एनम् इस पिप्पलाद ऋषि से [सुकेशाः, भारद्वाजः] भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने [पप्रच्छ] पूछा कि [भगवन्] हे भगवन्! [हिरण्यनाभः कौसल्यः राजपुत्रः] कौशलदेशीय हिरण्य नाभ नामक राजपुत्र ने [माम् उपेत्य] मेरे पास आकर [एनं प्रश्नम्] इस प्रश्न को अपृच्छत पूछा था कि [भार-द्वाज] हे भारद्वाज के पुत्र ! [षोडशकलं पुरुषम्] सोलह कला वाले पुरुषों को [वेत्थ] जानता है ? (अहम्) मैंने [तं, कुमारम्] उस राजकुमार से (अब्रुवम्) कहा कि [अहम्] मैं (इमम्) इस पुरुष को (न, वेद) नहीं जानता, (यदि)

जो (अहम्) मैं (इमम्) इसको (अवेदिपम्) जानता होता तो (कथम्) क्योंकर (ते) तेरे लिये (न, अवक्ष्यम्, इति) नहीं कहता। (वै) निश्चय (एषः) यह (समूलः) मूलसहित (परिशुष्यति) सूख जाता है (यः) जो (अनृतम्) झूठ (अभिवदति) बोलता है, (तस्मात्) इस लिये (अनृतं, वक्तुम्) झूठ कहने को (न, अर्हामि) समर्थ नहीं हूं। (सः) वह राजकुमार (तूष्णीम्) चुपचाप (रथम्, आरुह्य) रथ में सवार होकर (प्रवव्राज) चला गया। (तम्) उस पुरुष को (त्वा) तुझ से (पृच्छामि) पूछता हूं कि (असौ, पुरुषः) वह पुरुष (क्व, इति) कहीं है ॥ १ ॥

भावार्थः—अब पञ्चम प्रश्न का उत्तर हो जाने के पश्चात् भारद्वाज का पुत्र सुकेशा भगवान् पिप्पलाद से पूछता है—हे भगवन्! पहिले कभी कोसल देशीय हिरण्यनाभ नामक राज पुत्र ने मेरे पास आकर यह प्रश्न किया था कि हे भारद्वाज! तू उस षोडश कल वाले पुरुष को जानता है? मैंने इस के उत्तर में कहा कि मैं नहीं जानता मेरे सच २ कह देने पर भी जब उसे विश्वास न हुआ तब मैंने कहा कि यदि मैं जानता होता तो भला तुझ से अधिकारी को पाकर क्यों न कहता। जब इस पर भी मैंने उसको सन्तुष्ट न पाया तब शपथ पूर्वक कहा कि जो झूठ बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है इस लिये मैं तुझ से कभी झूठ नहीं बोल सकता। यह सुनकर वह राजकुमार चुपचाप अपने रथ में सवार होकर जहां से आया था वहीं को चला गया। इसलिये हे आचार्यप्रवर! अब मैं आप से पूछता हूं कि वह षोडश कला वाला पुरुष क्या है और कहां है? कृपया मेरे प्रति उपदेश कीजिये ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य! स

पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभव-
न्तीति ॥ २ ॥ ॥ ६२ ॥

पदार्थः–[तस्मै] उसप्रश्नकर्त्ताके लिये [सः] वह पिप्पलाद ऋषि [ह] स्पष्ट [उवाच] बोला कि [सोम्य] हे प्रियदर्शन [इह, एव, अन्तःशरीरे] इस ही शरीर के भीतर हृत्पुण्डरीक देश में [सः पुरुषः] वह पुरुष है [यस्मिन्] जिस में [एताः षोडश कलाः] ये वक्ष्यमाण सोलह कलायें [प्रभवन्ति, इति] उत्पन्न होती हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—अब आचार्यप्रवर पिप्पलाद ऋषि सुकेशा के प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं–हे सोम्य ! वह पुरुष कि जिस में ये सोलह कलायें (जिसका वर्णन आगे आवेगा) उत्पन्न होती हैं, इसी शरीर के भीतर हृत्पुण्डरीक देश में निवास करता है । यद्यपि वह पुरुष पूर्ण होने से सर्वत्र ही व्यापक है, तथापि जीवात्मा को साक्षात् होने से हृत्पुण्डरीक देश में उस की स्थिति कही जाती है, इसी स्थान में योगीजनों को समाधि के द्वारा उसका साक्षात्कार होता है । जो लोग अपने भीतर उसको न खोजकर बाहर ढूंढते फिरते हैं और १६ कला का अवतार मानते हैं उनको इस श्रुतिके तात्पर्य पर ध्यान देना चाहिये यद्यपि स्वरूपसे वह पुरुष निष्कल है अर्थात् सर्वत्र पूर्ण और विभु होने से उस में कोई कला वा क्रिया ठहर ही नहीं सकती, तथापि अध्यारोप से ये वक्ष्यमाण सोलह कलायें उस में आरोपित कीजाती हैं, क्योंकि ऐसा किये विना हम ब्रह्म के महत्व का अनुभव नहीं कर सकते और न प्रतिपाद्य और प्रतिपादनादि व्यवहार प्रवृत्त होसकते हैं, अतः जगत् को सकर्तृक सिद्ध करने के लिये और प्रत्यक्ष दृष्टांत से परोक्ष दार्ष्टान्त की प्रतिपत्ति के लिये हमें इस अध्यारोप का आश्रय लेना पड़ता

है अर्थात् अचल और निष्कल ब्रह्म में क्रिया और कला माननी पड़ती हैं । इस की पुष्टि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का पांचवां मन्त्र भी करता है। वह यह है:—" तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥" इस मन्त्र में ब्रह्म को एजन क्रिया का कर्ता और अकर्ता दोनों माना गया है । तात्पर्य यह है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप से तो अचल है, परन्तु इस चलायमान जगत् में व्यापक होकर इस का चलाने वाला है, इसलिये उस में भी चलत्व धर्म आरोपित किया गया है। दृष्टान्त की रीति पर इसे यों समझना चाहिये—जैसे प्रायः यह कहा जाता है कि " आग जलती है " वास्तव में आग तो जलाती है, जलता है इन्धन, परन्तु आग इन्धन में व्यापक है, इस लिये इन्धन का धर्म आग में आरोपित कर लिया जाता है। बस इसी के अनुसार यहां भी अध्यारोप से वक्ष्यमाण सोलह कलाओं की उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्ममें माने गये हैं, वस्तुतः वह इनसे पृथक् है ॥ २ ॥

स ईक्षाञ्चक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ॥ ३ ॥ ६३ ॥

पदार्थः—[सः] उस पुरुष ने [ईक्षाञ्चक्रे] ईक्षण अर्थात् विचार किया। [अहम्] अहंतत्त्व से युक्त मैं [कस्मिन्] किस वस्तु के [उत्क्रान्ते] निकल जाने पर [उत्क्रान्तः, भविष्यामि] निकल सा जाऊंगा [वा] और [कस्मिन्] किस के [प्रतिष्ठते] प्रतिष्ठित होने पर [प्रतिष्ठास्यामि] प्रतिष्ठित सा होऊँगा ॥ ३ ॥

भावार्थः—परमात्मा जब सृष्टि बनाना चाहता है तब अव

से पहिले यह ईक्षा [विचार] करता है और इसी को उसका "तप" भी कहते हैं " यस्य ज्ञानमयं तपः " उस का विचार ही तप है अर्थात् सृष्टि बनाने से पूर्व वह यह सोचता है कि मैं जिस आधेयरूप जगत् को बनाना चाहता हूं ? अर्थात् वह कौनसी वस्तु है ? कि जिस के निकलने पर शरीर से अहं तत्व निकल जाता है और जिस के प्रतिष्ठित होने पर ही वह भी शरीर में प्रतिष्ठित रहता है । उत्क्रान्ति और स्थिति अहं तत्व के धर्म हैं । यहां प्रश्न में जो इनका आरोप किया गया है, वह केवल साहचार से है । जैसे देह के सहचार से जीवात्मा का जन्म मरण कहा जाता है, जोकि अजर और अमर है । इसी प्रकार यहां प्रकृति के कार्य अहंतत्व के साहचर्य से परमात्मा मे उत्क्रान्ति और स्थिति आदि धर्म आरोपित किये गये हैं॥३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः । अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च ॥ ४ ॥ ६४ ॥

पदार्थः-(सः उस परमात्मा ने (प्राणम्) प्राण को (असृजत) उत्पन्न किया [प्राणात्] प्राण से (श्रद्धाम्) शुभ कर्म में प्रवृत्त कराने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि को, उस से (खं, वायु, ज्योतिः, पृथ्वी, इन्द्रियं, मनः) आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पञ्चमहाभूत और इन्हीं के विकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और इन का नायक सङ्कल्पविकल्पात्मक मन, इन सब को उत्पन्न किया । इसके पश्चात् (अन्नम्) अन्न (अन्नात्) अन्न से (वीर्यम्) बल, फिर (तपः) द्वन्द्वसहिष्णुतादि तप (मन्त्राः) ऋग्यजुःसामाथर्व के मन्त्र (कर्म) यज्ञादि कर्म (लोकाः) कर्मफल के अधिष्ठान सोमादि लोक

(लोकेषु) उन लोकों में (नाम, च) संज्ञादि व्यवहार भी उत्पन्न किये ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब क्रमशः सोलह कलाओं की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। ईक्षा (विचार) करने के पश्चात् ईश्वर ने सब से पहिले जगत् के आधार जीवात्मा के उपयोगी प्राण को उत्पन्न किया। प्राण की उत्पत्ति के पश्चात् सत्य को धारण करने वाली, विश्वास की जननी तथा मनुष्यों को शुभ-कर्म में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा (निश्चयात्मिका बुद्धि) को उत्पन्न किया। इसके पश्चात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतों को जो कर्म और उनके फलभोग के अधिष्ठान हैं, बनाया। तदनन्तर इन्हीं भूतों की मात्राओं से इन्द्रिय (जो दो प्रकार के हैं, एक ज्ञानेन्द्रिय दूसरे कर्मेन्द्रिय) बनाए, तत्पश्चात् इनका नायक (चलाने वाला) सङ्कल्प विकल्पात्मक मन बनाया। कार्य और करण की उत्पत्ति के पश्चात् प्राणियों की स्थिति के लिये प्राण का आधार अन्न बनाया गया। अन्न से फिर बलकी उत्पत्ति हुई, बल से तप, तप से कर्म के साधनभूत ऋगादि के मन्त्र, उन से यज्ञादि कर्म, कर्म से लोक अर्थात् उनके भोगाधिष्ठान और फिर लोकों में नाम अर्थात् संज्ञादि व्यवहार प्रवृत्त हुवे। इस प्रकार प्राण से लेकर नामपर्यन्त सोलह कला कहलाती हैं, जोकि ये सर्गारम्भ में ईश्वर से उत्पन्न होकर प्रलय में अपने नाम रूपादि को छोड़ कर उसी में लीन हो जाती हैं, इस लिये उस को "षोडशी" कहते है ॥४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य

परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः
पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति. भिद्येते चाऽऽसां
नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषो
ऽकलोऽमृतो भवति. तदेष श्लोकः॥५॥६५॥

पदार्थः—(सः) दृष्टान्त-(यथा) जैसे (इमाः, नद्यः) यह नदियां (स्यन्दमानाः) चलती हुईं (समुद्रायणाः) समुद्र ही है अयन (स्थान) जिन का, ऐसी (समुद्रम्) समुद्र को (प्राप्य) पाकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं, (तासाम्) उनके (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) टूट जाते हैं (समुद्रः, इति. एवम्) समुद्र है इस प्रकार (प्रोच्यते) कहा जाता है। (एवमेव) इसी प्रकार (अस्य, परिद्रष्टुः) इस सर्व साक्षी पुरुष की (इमाः, षोडश, कलाः) ये सोलह कलायें (पुरुषायणाः) पुरुष ही है अयन (स्थान) जिन का ऐसी (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य) पाकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं (च) और (आसाम्) इनके (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) टूट जाते हैं (पुरुषः इति एवम्) पुरुष है इस प्रकार (प्रोच्यते) कहा जाता है (सः, एषः) वह यह सर्व-साक्षी पुरुष (अकलः) वास्तव में कलारहित (अमृतः) अविनाशी (भवति) है (तद्) उस के विषय में (एषः, श्लोकः) यह श्लोक है ॥ ५ ॥

भावार्थः—उक्त सोलह कलायें (जिन का वर्णन चौथे श्लोक में हो चुका है) किस प्रकार ईश्वर में अस्त होती हैं, इसको दृष्टान्तपूर्वक दिखलाते हैं। जैसे गङ्गा सिन्धु आदि नदियां समुद्र की ओर जाती हुई उसको पाकर अस्त होजाती हैं अर्थात् अपने नाम और रूप को त्याग कर समुद्र ही कह-

लाने लगती हैं, फिर गङ्गादि के नाम से उनको कोई नहीं पुकारता किन्तु समुद्र के नाम से ही व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार उस सर्वसाक्षी चेतन पुरुष की यह सोलह कलायें जो सर्गारम्भ में उसी से उत्पन्न होती हैं, प्रलय में उस को पाकर अस्त हो जाती हैं अर्थात् अपने नाम रूपादि को त्याग कर उस में लीन हो जाती हैं,तब सिवाय पुरुष के और कोई निर्देश्य वस्तु ही नहीं रहती, जो व्यवहार में आसकें, यद्यपि ये कलायें औपचारिक रीति पर पुरुष से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाती हैं, तथापि वह अपने वास्तविक स्वरूप से निष्कल और अपरिणामी है, इसी बात की पुष्टि निम्नलिखित श्लोक भी करता है:— ॥ ५ ॥

अराइव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(रथनाभौ) रथचक्र की नाभि में (अराइव) दण्डों के समान (यस्मिन्) जिस में (कलाः) सोलह कलायें (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तम्) उस (वेद्यम्) जानने योग्य (पुरुषम्) पुरुष को (वेद) जानो (यथा) जैसे (वः) तुम लोगों को [मृत्युः] मौत [मा, परिव्यथाः, इति न सतावे ॥६॥

भावार्थः—जैसे रथचक्र की नाभि में सब अरे ठहरे हुये होते हैं, इसी प्रकार जगदाधार ईश्वरमें ये सोलह कलायें ठहरी हुई हैं अर्थात् वह स्वयं निष्कल भी इन सोलह कलाओं के द्वारा इस समस्त ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और धारण कर रहा है। हे मनुष्यो ! यदि तुम मृत्यु के भयानक आक्रमण से बचना चाहते हो तो उस कलानाथ विज्ञेय पुरुष का शास्त्रोक्त श्रवणादि साधनों के द्वारा यथार्थज्ञान प्राप्त करो क्योंकि "तमेव

विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" केवल उस ही को जानकर तुम मृत्यु का उल्लङ्घन कर सकते हो और कोई मार्ग [उपाय] संसार के बन्धन से छूटने का नहीं है ॥६॥

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद ।
नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥ ६७॥

पदार्थः—[तान्] उन छहों शिष्यों से [ह] स्पष्ट [उवाच] पिप्पलाद ऋषि बोला कि [एतावत्, एव] इतना ही [अहम्] मैं [एतत्, परं ब्रह्म] इस परब्रह्म को [वेद] जानता हूं [अतः] इस से [परम्] सूक्ष्म [न, अस्ति, इति] कुछ नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थः—इन छठे प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हुवे पिप्पलाद ऋषि उन छहों शिष्यों को संबोधन करते हुवे कहते हैं कि मैं इतना ही जितना तुम्हारे प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है, उस परब्रह्म को जानता हूं [इस से ऋषि की निरभिमानिता और ब्रह्म की अगाधता स्पष्टतया अभिव्यक्त होती है तात्पर्य यह कि ब्रह्म तो अगाध और अनन्त है, मेरा ज्ञान उस के विषय में इतना ही है । "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहां से वाणियां मन के साथ उस की थाह को न पाकर लौट आती हैं, वह अनन्त और अतीन्द्रिय वस्तु ब्रह्म है, उस से सूक्ष्म या परे और कोई वस्तु नहीं है, वही सब ज्ञाताज्ञात वस्तुओं की पराकाष्ठा है ॥ ७ ॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥ ६८॥

पदार्थः-[ते] वे छहों शिष्य [तम्] उस आचार्य को [अर्चयन्तः]पूजते हुवे कहते हैं कि [त्वम्, हि] तू ही[नः]हमारा

(पिता) ब्रह्मदाता पिता है [यः] जो [अस्माकम्] हम लोगों को [अविद्यायाः] अविद्या के [परं पारम्] परली पार [तारयसि इति] तराता है [परमऋषिभ्यः] ब्रह्मविद्या के संप्रदायप्रवर्त्तक ऋषियों के लिये [नमः] नमस्कार है। द्विर्वचन वीप्सा और ग्रन्थसमाप्तिसूचक है॥ ८॥

भावार्थः–अब वे छओं शिष्य कृतज्ञतापूर्वक गुरु का पूजन करते हुये कहते हैं कि हे ऋषिप्रवर! आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं "उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता"। इस मनु के वचनानुसार ब्रह्मदाता पिता उत्पादक पिता से भी बढ़कर है, क्योंकि उत्पादक पिता से तो इस विनश्वर शरीर की उत्पत्ति होतीहै परन्तु ब्रह्मदाता पिता उस आत्माका साक्षात्कार करातीहै जो न कभी उत्पन्न होताहै और न मरता है। इसलिये उत्पादक, उपनेता, अन्नदाता, भयत्राता और विद्या (ब्रह्म) दाता इन पांचों प्रकार के पिताओं में ब्रह्मदाता पिता सब से बढ़कर है सो आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं अर्थात् आपने कृपा करके हम को उस अविद्या के समुद्र से (कि जिसकी मिथ्याज्ञान की तरङ्गों में हम बहे जारहे थे) निकाला है। हम आपके उपकारभार से इस जन्म में तो क्या, आकल्प भी मुक्त नहीं हो सकते। सिवाय नमस्कार के उपहार के और हमारे पास क्या है, जो हम आपके चरणों में भेंट करें? इसलिये हम अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से आप जैसे ब्रह्मविद्या संप्रदाय प्रवर्त्तक महर्षियों के चरणों में पुनः २ नमस्कार करते हैं॥८॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः॥ ६॥

समाप्ता चेयमुपनिषद्॥

॥ ओ३म् ॥

—❀(अथ)❀—

अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्

तत्र प्रथममुण्डके प्रथमःखण्डः

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता
भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-
प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥ १ ॥

पदार्थः–(देवानां–प्रथमः) देवों में पहिला (विश्वस्य कर्त्ता) सृष्टि का उत्पादक (भुवनस्य गोप्ता) जगत् का रक्षक (ब्रह्मा) धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से बढ़ा हुआ (संबभूव) प्रकट हुआ (सः) उस ने (ज्येष्ठपुत्राय–अथर्वाय) अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा के लिये (सर्वविद्याप्रतिष्ठां–ब्रह्मविद्याम्) सब विद्याओं की आधारभूत ब्रह्मविद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥ १ ॥

भावार्थः–परमात्मा जब सृष्टि बनाना चाहता है तो सब से पहिले ब्रह्मा के रूप में प्रकट होता है। यह ब्रह्मा क्या है? कोई इस को आदि पुरुष जो सब से प्रथम उत्पन्न किया गया, मानते हैं और किन्हीं का ऐसा मत है कि यह कोई शरीर धारी व्यक्ति नहीं है, किन्तु आलङ्कारिक रीति पर भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति के लिये ईश्वर को एक विग्रहवती व्यक्ति कल्पना कर लिया गया है। जो कि इस श्लोक में ब्रह्मा को सृष्टि का उत्पादक एवं रक्षक आदि विशेषणों से विशिष्ट माना गया है, इस से पिछले मन्तव्य की पुष्टि होती है। तीसरा विशेषण ब्रह्मा का "देवानां प्रथमः" देवताओं में पहला या पैदा हुआ आया है।

जो कि परमात्मा अग्नि, वायु आदि सब देवों में मुख्य और व्यापक होने से उन में फैला हुवा भी है, अतएव यह विशेषण भी एक शरीरधारी की अपेक्षा परमेश्वर में अधिक सङ्गत होता है। इसलिये परमेश्वर की उस अवस्था का नाम जब कि वह सृष्टि को बनाना चाहता है, वैदिक परिभाषा में ब्रह्मा है "ब्रह्मा" शब्द का धात्वर्थ बढ़ने की इच्छा रखने वाला है। परमात्मा जब बढ़ना चाहता है (सृष्टि को उत्पन्न करना ही उस का बढ़ना है) तब वेद उस को ब्रह्मा के नाम से निर्देश करते हैं। "ब्रह्मा" शब्द का पुल्लिङ्ग होना भी इस बात का प्रमाण है। जिस प्रकार कोई नपुंसक स्त्रीप्रसङ्ग नहीं कर सकता, इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग 'ब्रह्म' शब्द जब तक कि वह पुल्लिङ्ग "ब्रह्मा" शब्द की अवस्था और योग्यता प्राप्त न करे, प्रकृतिरूपिणी स्त्री से उस का संसर्ग नहीं हो सकता। सुतराम् वह शुद्ध और निष्कल ब्रह्म (जिस का उत्पत्ति और नाश होने वाली सृष्टि से कुछ भी साधर्म्य नहीं है) जब सृष्टि बनाना चाहता है, तो उस के लिये उसे सृष्टि से साधर्म्य और विशेष सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्मा की औपचारिक व्यक्ति और लाक्षणिक पदवी धारण करनी पड़ती है। दूसरी बात यह है कि उक्त श्लोक में "ब्रह्मा" शब्द कर्तृकारक में आया है, न कि कर्म-कारक में अर्थात् ब्रह्मा स्वयं प्रकट हुवा न कि उस को उत्पन्न या प्रकट किया गया। इन सब हेतुओं से यह सिद्ध है कि इस श्लोक में ब्रह्मा से तात्पर्य सृष्टिकर्त्ता परमात्मा से है, न कि किसी व्यक्ति विशेष से॥

अब यह प्रश्न किया जासकता है कि यदि ब्रह्मा से तात्पर्य किसी व्यक्ति से नहीं है, तो फिर श्लोक के अन्तिमपाद में जो जो यह कहागया है कि उस ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा

नाम वाले के लिये ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, इस की क्या सङ्गति होगी। यह कोई कठिन प्रश्न नहीं है, हम सब परमात्मा के पुत्र हैं, इस लिये कि उसने हम सब को उत्पन्न किया है। जो कि यह सर्गारम्भ का वर्णन है, उस समय जो ऋषि लोग उत्पन्न हुवे वे सब परमात्मा के ज्येष्ठ पुत्र थे, उन्हीं में से एक अथर्वा ऋषि भी हुवे हैं, जिन को परमात्मा ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथर्वणे) अथर्वा के लिये (याम्) जिस ब्रह्मविद्या का (ब्रह्मा-प्रवदेत) ब्रह्मा ने उपदेश किया (पुरा) पहिले (अथर्वा) अथर्वा ने (अङ्गिरे) अङ्गी नाम ऋषि के लिये (ताम्-ब्रह्मविद्याम्) उस ब्रह्मविद्या को (उवाच) कहा (सः) उस अङ्गी ने (भारद्वाजाय सत्यवाहाय) भरद्वाज गोत्रोत्पन्न सत्यवाह ऋषि के लिये [प्राह] उस का उपदेश किया भारद्वाज सत्यवाह ने (अङ्गिरसे) अपने शिष्य अङ्गिरा ऋषि के लिये (परावराम्) पर और अवर सब विषयों की जनाने वाली विद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥

भावार्थः-अथर्वा ने जिस ब्रह्मविद्या को अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था उसी को पहिले अङ्गी नाम ऋषि के प्रति वर्णन किया। अङ्गी ने पुनः सत्यवाह के प्रति उसका उपदेश किया, सत्यवाह ने पुनः उस गुरुपरम्पराप्राप्त समस्त विद्याओं की जननी ब्रह्मविद्या का स्वशिष्य अङ्गिरा के प्रति उपदेश किया। इस श्लोक में परम्पराप्राप्त ब्रह्मविद्या का यह अनुक्रम वर्णन किया गया है कि जिस के द्वारा वह संसार में प्रतिष्ठित

और प्रचरित हुई। इस श्लोक में भी "पुरा" शब्द उस अभिप्राय की पुष्टि करता है कि जो हमने पहिले श्लोक से सङ्कलित किया है, अर्थात् अथर्वा ने सब से पहिले उस ब्रह्मविद्या का उपदेश कि जिस को आत्मिक अनुभव द्वारा साक्षात् ईश्वर से प्राप्त किया था, अङ्गी ऋषि को किया। निदान उस ब्रह्मविद्या को स्वाध्याय और प्रवचन में लानेवाला अथर्वा था फिर जब वह स्वाध्याय में परिणत होगई, तब मनुष्यों में उस का प्रचार बढ़ता गया ॥ २ ॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥ ३ ॥

पदार्थः-(ह, वै) प्रसिद्ध (महाशालः) बड़ी शाला वाले अर्थात् परम गृहस्थ (शौनकः) शुनक के पुत्र शौनक नाम ऋषि ने (विधिवत्) शास्त्र की आज्ञानुसार (अङ्गिरसम्) अङ्गिरा नाम ऋषि को (उपसन्नः) गुरुभाव से प्राप्त होकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवः) हे भगवन्! (नु) [प्रश्नवाचक अव्यय है] (कस्मिन्-विज्ञाते) किस वस्तु के जानने पर (सर्वम्-इदम्) यह सब कुछ जानने योग्य (विज्ञातम्-भवति-इति) विशेषरूप से जान लिया जाता है ? ॥ ३ ॥

भावार्थः—अब उस अङ्गिरा ऋषि के पास ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से गृहस्थधर्म को पालन करनेवाला शौनक नाम ऋषि शास्त्र की इस आज्ञानुसार " स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् " समित्पाणि होकर शिष्यभावसे प्राप्त हुवा और उस ने नम्रतापूर्वक बद्धाञ्जलि होकर यह प्रश्न किया कि हे भगवन्! ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिस के जान लेने पर

सम्पूर्ण ज्ञातव्य विषयों की परिसमाप्ति हो जाती है अर्थात् जैसे कारण का ज्ञान होने पर कार्य और हेतु का ज्ञान होनेपर हेतुमान् स्वयमेव जानलिया जाताहै ऐसा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक आदि कारण कि जिसका बोध होने पर जगत् के सारे कार्य कारण और उनके अवान्तर भेद भी स्वयमेव विदित हो जाते हैं, क्या है ? ॥ ३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥

पदार्थः—(तस्मै) उस शौनक के लिये (सः) वह अंगिरा (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (द्वे-विद्ये) दो विद्यायें (वेदितव्ये इति) जाननी चाहियें (ह-स्म) निश्चय (यद्, ब्रह्मविदः-वदन्ति) जैसा कि ब्रह्मविद् कहते हैं, वे दो विद्यायें कौनसी हैं (परा च एव अपरा च) परा और अपरा ॥४ ॥

भावार्थः—उस प्रश्नकर्ता शौनक के प्रति अंगिरा कहता है कि जो पुरुष ब्रह्म की जिज्ञासा रखता है उसको दो विद्यायें जाननी चाहियें, एक परा और दूसरी अपरा। ऐसा ही ब्रह्मविद् आचार्य कहते हैं । यहाँ पर एक शंका होती है कि प्रश्न तो था यह कि किस वस्तु के जानने पर सब कुछ जाना जाता है और उसका उत्तर यह दिया गया कि दो विद्यायें जाननी चाहियें, परा और अपरा। यह तो वहीबात हुई कि " आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे " आमों को पूछा और कचनारों को कहने लगा। इस शङ्का को यहां पर अवकाश इसलिये न होना चाहिये कि बिना क्रम [सिलसिले] के किसी वस्तु का भी परिज्ञान ठीक २ नहीं हो सकता। उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पहिले आचार्य इस श्लोक में उस वस्तु के जानने का क्रम

दिखलाते हैं अर्थात् पहिले अपरा विद्या को जानकर जब परा विद्या में प्रवेश करता है तब उसवस्तु के जानने का अधिकारी होता है ॥ ४ ॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥५॥

पदार्थः-(तत्र) उन दोनों में (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद (अथर्ववेदः) अथर्ववेद (शिक्षा) जिस में वर्ण और स्वरादि के उच्चारण की विधि बतलाई गई हो (कल्पः) जो मन्त्रविनियोग पूर्वक कर्मकाण्ड का विधान करता है (व्याकरणम्) शब्दशास्त्र (निरुक्तम्) जिस में वैदिक पदों का निर्वचन किया गया है (छन्दः) पिङ्गलादि छन्दःशास्त्र (ज्योतिषम्) ग्रह और नक्षत्र आदि की विद्या (इति) ये (अपरा) अपरा विद्या हैं । (अथ) इसके उपरान्त (परा) परा विद्या वह है (यया) जिससे (तद्-अक्षरम्) वह अविनाशी ब्रह्म (अधिगम्यते) जाना जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब प्रसङ्गप्राप्त अपरा और परा विद्या का निरूपण करते हैं । ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छहों वेदों के अंग अपरा विद्या कहलाते हैं और परा विद्या वह है क जिससे वह वस्तु जानी जाती है कि जिसके जानने पर समग्र ज्ञातव्य अर्थों की समाप्ति हो जाती है । आचार्य का यह संकेत उपनिषद् विद्या की ओर है कि जो अनन्यभाव से केवल ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन करती है । अब यहाँ पर

यह प्रश्न होता है कि यदि यह परा विद्या चारों वेदों से पृथक् है तो उसका क्योंकर मान्य हो सकता है ? क्योंकि कोई भी शास्त्र वेदबाह्य के मानने की आज्ञा नहीं देता। इसका उत्तर यह है कि यहां प्रधानत्व की विवक्षा से ऋग्वेदादि को अपरा और उपनिषद् को परा विद्या कहा गया है इसका। यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ऋग्वेदादि से पराविद्या पृथक् है। यदि ऐसा होता तो स्वयं उपनिषद् "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" ऐसा क्यों कहती ? सुतराम् वेदों में सब विद्या का वर्णन होने से उनको अपरा कहा गया और उपनिषदों में केवल ब्रह्मविद्या का ही निरूपण होने से उन को परा माना गया है, वस्तुतः परा का मूल भी वेद ही है ॥ ५ ॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तद-पाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ । ६ ॥

पदार्थः—(यत्) जो (अद्रेश्यम्) ५ ज्ञानेन्द्रियों का अविषय (अग्राह्यम्) जो पांचों कर्मेन्द्रियों से ग्रहण न किया जा सके (अगोत्रम्) जिस का कोई मूल [कारण] न हो (अवर्णम्) शुक्ल कृष्ण आदि वर्णोंसे रहित (अचक्षुःश्रोत्रम्) दर्शन और श्रवण के हेतु आँख और कान से रहित (अपाणि-पादम्) ग्रहण और गमन क्रिया के साधक हाथ और पैर से वर्जित (सर्वगतम्) आकाशवत् सर्वत्र व्यापक (सुसूक्ष्मम्) अत्यन्त सूक्ष्म है (तद्) उस (अव्ययम्) वृद्धि और क्षय से रहित (नित्यम्) अविनाशी (विभुम्) देश काल और वस्तु से अनवच्छिन्न (यद् भूतयोनिम्) जिस चराचर सृष्टि के

कारण को (धीराः) विवेकिजन (परि-पश्यन्ति) सर्वत्र देखते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो परा विद्या से जाना जाता है वह अक्षर (अविनाशी) वस्तु क्या है? इस का उत्तर इस श्लोक में देते हैं 'अदृश्य' शब्द से केवल चक्षुर्ग्राह्य विषय का ही निषेध नहीं होता किन्तु ज्ञानेन्द्रिय मात्र का जो विषय न हो उस को अदृश्य कहते हैं, श्रुति में 'अद्रेश्य' प्रयोग आर्ष है। इसी प्रकार 'अग्राह्य' शब्द से केवल वही पदार्थ इष्ट नहीं है जो हाथों से ग्रहण न हो सके किन्तु पांचो कर्मेन्द्रियों से भी जो ग्रहण न किया जासके उसको अग्राह्य कहते हैं। 'गोत्र' शब्द मूल या आधार का वाचक है इसीलिये मूल पुरुष के नाम से गोत्र [वंश] पुकारा जाता है, जिस का कोई आदि कारण न हो किन्तु वही सब का आदिपुरुष हो उसे 'अगोत्र कहते हैं। शुक्ल, कृष्ण, स्थूल, कृश आदि भौतिक गुणों को वर्ण कहते हैं, उनसे जो रहित है, वह अवर्ण कहलाता है। चक्षु और श्रोत्र यहां उपलक्षण हैं ज्ञानेन्द्रियों के उन से जो रहित है, अर्थात् "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः „ जो बिना आंख के देखता और बिना कान के सुनता है। इसी प्रकार पाणि और पाद उपलक्षण हैं कर्मेन्द्रियों के, उनसे जो वर्जित है अर्थात् "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता „ जो बिना हाथ के सब को ग्रहण करता और बिना पैर के सर्वत्र व्याप्त होरहा है। अनुत्पन्न होने से नित्य है। देश काल और वस्तु का व्यवधान न होने से विभु है, चराचर पदार्थों में ओत प्रोत होने से सर्वगत है, अच्छेद्य और अभेद्य होने से सूक्ष्म है और अभौतिक होने से अव्यय है। ऐसा जो चराचर सृष्टि का एक मात्र आदिकारण है वह पुरुष अक्षर वाच्य है, उसको धीरपुरुष ज्ञानदृष्टि से सर्वत्र देखते हैं ॥ ६ ॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥ ७ ॥

पदार्थः-[यथा] जैसे [ऊर्णनाभिः] मकड़ी [सृजते] जाला पूरती है [च] और [गृह्णते] समेट लेती है । [यथा] जैसे [पृथिव्याम्] पृथ्वी में [ओषधयः] अन्नादि ओषधियें [सम्भवन्ति] उत्पन्न होती हैं । [यथा] जैसे [सतः-पुरुषात्] जीव के विद्यमान होने से [केशलोमानि] केश लोम आदि उत्पन्न होते हैं [तथा] वैसे ही [अक्षरात्] उस अविनाशी पुरुष से [इह] यहां पर [विश्वम्] संसार [सम्भवति] उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-इससे पहिले श्लोक में उस अक्षर को भूतयोनि अर्थात् चराचर जगत् का कारण कहा गया है, यह श्रुति उस का कारण होना दिखलाती है । जैसे मकड़ी अपने शरीररूप उपादान से जाला पूरती है और फिर उसे अपने शरीर में ही समेट लेती है और जैसे पृथिवी में अपने बीजरूप उपादान से अन्नादि उत्पन्न होते हैं और फिर विकृत होकर उसी में लीन हो जाते हैं । एवं जैसे जीव की विद्यमानता में शरीररूप उपादान से केश लोम आदि उसके कार्य उत्पन्न होकर पुनः शरीर में ही परिणत होजाते हैं । इसी प्रकार उस अविनाशी पुरुष से प्रकृतिरूप उपादान के द्वारा यह संसार उत्पन्न होता है और फिर प्रलय में कारणरूप से उसीमें लीन होजाता है ॥

अद्वैतवादी इस श्रुति से परमात्मा को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि तीनों दृष्टान्तों में यद्यपि उपादान अनुक्त है तथापि निमित्त के सहचार से उस का अध्याहार हो जाता

है। जैसे किसी मनुष्य को कहा जाये कि वह अमुक पुरुष का पुत्र है तो इस से उस की माता का खण्डन नहीं होता; यदि कहा जावे कि प्रकृति का वर्णन इसमें क्यों नहीं किया गया तो इस का उत्तर यह है कि यहां पुरुष का प्रकरण पहले से चला आता है, अतः उस के निर्देश की कोई आवश्यकता न थी। इसके अतरिक कार्य्य की सिद्धि के लिये केवल कर्त्ता का निर्देश पर्याप्त है, परन्तु इस से उसके कारण और कारण का खण्डन नहीं होता। श्लोक में जो तीन दृष्टान्त दिये गये हैं उन पर भी यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जावे तो उपादान कारण उन के अभ्यन्तर ही विद्यमान है। जैसे शरीर के अभाव में मकड़ी जाला नहीं बना सकती और जैसे बीज के अभाव में पृथिवी अन्नादि को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी प्रकार जैसे शरीर के अभाव में जीवात्मा से नख लोम नहीं उपज सकते, वैसे ही प्रकृति के न होने से जगत् की उत्पत्ति भी असम्भव हो जाती है। हां यह ठीक है कि प्रकृति जड़ होने से स्वयं जगत् के बनाने में स्वतंत्र नहीं किन्तु पुरुष के आधीन है स्वतन्त्र होने के कारण ही इस श्लोक में पुरुष से जगत् की उत्पत्ति कही गई है ॥ ७ ॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।

अन्नात्प्राणो मनःसत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥ ८ ॥

पदार्थः-(तपसा) ज्ञानरूप से (ब्रह्म) वह अक्षर (चीयते) बढ़ता है (ततः) उस बढ़े हुवे ब्रह्म से (अन्नम्) प्राण को आधार अन्न (अभिजायते) उत्पन्न होता है (अन्नात्) अन्न से (प्राणः) प्राण, उससे (मनः) मन, मन से (सत्यम्)

आकाशादि पञ्चभूत, उन से (लोकाः) भू आदि सप्तलोक उन में कर्म (च) और (कर्मसु) कर्मों के निमित्त होने पर (अमृतम्) उनका फल क्रमशः उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब सृष्टि की उत्पत्ति और उसका क्रम वर्णन करते हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया हैः—"प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत" जब ब्रह्म को सृष्टि बनाने की इच्छा हुई तो पहिले उस ने तप किया। उस का तप क्या है? "यस्य ज्ञानमयं तपः" क्रिया को ज्ञान से संयुक्त करना ही उसका तप कहलाता है। उस तप से ब्रह्म बढ़ता है अर्थात् ब्रह्म की ज्ञानशक्ति प्रकृति की क्रियाशक्ति से मिल कर इस कारणरूप सूक्ष्म जगत् को कार्यरूप स्थूल जगत् बनाती है। यहां ज्ञानशक्ति के प्रधान होनेसे ब्रह्म का बढ़ना कहा गया है,अन्यथा ब्रह्म के एकरस होने से उस में उपचयापचय (बढ़ना घटना) नहीं बन सकता। उस सृष्टि के ज्ञानरूप तप में प्रवृत्त हुये ब्रह्म से प्रथम प्राणों का आधार अन्न उत्पन्न होता है "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः" अन्न ही प्राणियों के जीवन का हेतु है, इस लिये प्राणसे पूर्व उस की उत्पत्ति कही गई है। अन्न के उत्पन्न होने के अनन्तर उस के आधेय प्राण की उत्पत्ति हुई। उस से फिर सङ्कल्प विकल्पात्मक मन उत्पन्न हुआ, मन से पञ्च सूक्ष्म भूत, पञ्चभूतोंसे भू आदि सप्तलोक, लोकोंमें मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से कर्म, और कर्मों के निमित्त होने पर उनका फल। जो कि कर्म अनादि हैं उन का कभी विनाश नहीं होता, इस लिये उन के फल को श्रुति में अमृत कहा गया है ॥ ८ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ॥९॥९॥

पदार्थः—(यः) जो (सर्वज्ञः) सामान्यरूप से सब को जानने वाला (सर्ववित्) विशेषरूप से सब का ज्ञाता (यस्य) जिस का (ज्ञानमयम्) अनायास सिद्ध ज्ञानरूप ही (तपः) तप है (तस्मात्) उसी सर्वज्ञ से (एतत्) यह (ब्रह्म) वृद्धि को प्राप्त हुवा जगत् (नाम) मनुष्य पशु और वृक्षादि संज्ञा (रूपम्) शुक्ल कृष्ण आदि वर्ण (च) और (अन्नम्) व्रीहि यवादि अन्न (जायते) उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस श्लोक से भी उक्तार्थ की ही पुष्टि कीगई है समष्टि रूप से कारण रूप जगत् का ज्ञाता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ हैं और व्यष्टिरूप से कार्य जगत् का अवगन्ता होने से वही सर्ववित् है अर्थात् जब यह जगत् अपनी कारणावस्थामें होता है, तब वह समष्टिरूप से इस को जानता है और जब कार्यावस्था में विभक्त होता है तब व्यष्टिरूप से पृथक् २ प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान रखता है और जिसका स्वाभाविक ज्ञानमय ही तप है, जिस के द्वारा यह जगत् सूक्ष्म से स्थूलरूप में परिणत होता है। उस ही अविनाशी पुरुष से यह बढ़ने वाला जगत् जिस के तीन प्रधान अङ्ग हैं, उत्पन्न होता है, वे तीन अङ्ग ये हैं। १ नाम=मनुष्य, पशु इत्यादि संज्ञा जिन से समस्त पदार्थों का निर्देश और व्यवहार किया जाता है। २ रूप=श्वेत कृष्ण, लघु, गुरु, मधु, तिक्त इत्यादि गुण जिन से उन पदार्थों के साधर्म्य, वैधर्म्य और योग्यता जानी जाती है। ३अन्न=भक्ष्य जो खाया जाता है और जिस से शरीरादि का पोषण होता है

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं स्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः स्वकृतस्य लोके ॥ १ ॥ १० ॥

पदार्थः—(तद्, एतत्, सत्यम्) वह यह सत्य है (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (यानि, कर्माणि) जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को (कवयः) विद्वान् लोग (अपश्यन्) देखते थे (तानि) वे कर्म (त्रेतायाम्) तीनों वेदों में (बहुधा) अनेक प्रकार से (सन्ततानि) फैले हुये हैं । (तानि) उन विहित कर्मों को (सत्यकामाः) सत्य सङ्कल्प होकर (नियतम्) नित्य (आचरथ) आचरण करो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (लोके) संसार में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्म का (पन्थाः) मार्ग है ॥ १ ॥

भावार्थः—अङ्ग सहित चारों वेदों का अपरा विद्या होना प्रथम खण्ड में कहा गया और उस के फल रूप अक्षर पुरुष की प्राप्ति जिस विद्या के द्वारा होती है उस पराविद्या का निरूपण भी यथावसर किया गया । अब इस द्वितीय खण्डमें प्रथम मूलरूप होने से अपराविद्या का निरूपण किया जाता है, क्यों कि विना अपराविद्या को जाने कोई मनुष्य पराविद्या का अधिकारी नहीं हो सकता और न विना उस की परीक्षा किये कोई मनुष्य उसका त्याग करने में समर्थ होसकता है अतएव प्रथम अपरा विद्या की आलोचना की जाती है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ् समाः" इत्यादि वेद के मन्त्रों से जिन अग्निहोत्रादि विहित कर्मों का विद्वान् लोगों ने प्रतिपादन किया है वे तीन वेदों में होत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र भेदों

से यद्वा आवहनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि भेदों से अथवा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों में कर्त्तव्य होने से अनेक प्रकार से शाखा प्रशाखा रूप में फैले हुए हैं। साधक पुरुष को चाहिये कि सत्यसङ्कल्प होकर श्रद्धा और विश्वास के साथ निष्काम भाव से नित्य उनका आचरण करे क्योंकि यही इस संसार में अपने किये हुए शुभ कर्मों के फलरूप स्वर्ग की प्राप्ति का एक साधन है अर्थात् विना विहित कर्मों का आचरण किये कोई मनुष्य उन के फल रूप स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता ॥ १ ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादये-
च्छ्रद्धया हुतम् ॥ २ ॥ ११ ॥

पदार्थः- हि) निःसन्देह (यदा) जब (हव्यवाहने, समिद्धे) समिधाओं से अग्नि के प्रदीप्त होने पर (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला (लेलायते) लपटें लेती है (तदा) तब (आज्यभागावन्तरेण) कुण्ड के मध्यभाग में दो आहुतियों के क्रम से (आहुतीः) आहुतियों को (प्रतिपादयेत्) देवे (श्रद्धया) श्रद्धा से (हुतम्) होम किया हुवा फलदायक होता है ॥ २ ॥

भावार्थः-उन वेद विहित कर्मों में जो अपराविद्या का विषय हैं अग्निहोत्र सब में प्रधान है, इसलिये प्रथम उस का ही निरूपण किया जाता है। अग्निहोत्र के समय अन्वाधान करने के उपरान्त जब अग्नि समिधाओं में प्रदीप्त हो चुके तब यज्ञकुण्ड के मध्यभाग में दो आघारावाज्यभागाहुति देवतोद्देश से देनी चाहियें अर्थात् प्रातःकाल में * "सूर्याय स्वाहा"

---

* आनन्दगिरि टीका से उद्धृत।

"प्रजापतये स्वाहा" इन दो मन्त्रों से और सायङ्काल में "अग्नये स्वाहा" "प्रजापतये स्वाहा" इन दो मन्त्रों से आहुति देवे। दो के लिये "आहुतीः" यह बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया है कि दोनों काल की दो २ मिलकर चार और अनेक दिन की मिलकर बहुत सी होजाती हैं। कैसा ही शुभकर्म क्यों न हो, जो विना श्रद्धा के किया जाता है, वह फलदायक नहीं होता, अतएव श्रुति श्रद्धापूर्वक होम करने की आज्ञा देती है ॥ २ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितञ्च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥(१२)

पदार्थः-(यस्य) जिस का (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (अदर्शम्) दर्शेष्टिवर्जित है (अपौर्णमासम्) पौर्णमासेष्टि वर्जित है (अचातुर्मास्यम्) चातुर्मास्य सम्बन्धी जो कर्म हैं, उनसे शून्य है (अनाग्रयणम्) आग्रयण (शरदादि ऋतु) में जो कर्म किये जाते हैं उन से वर्जित है (अतिथिवर्जितम्) अतिथिपूजन से वर्जित है (अनाहुतम्) समय पर होम से रहित है (अवैश्वदेवम्) वैश्वदेव कर्म से रहित है (अविधिना हुतम्) विधिरहित होम किया हुवा है (तस्य) उस के (आसप्तमान्, लोकान्) भू आदि सात लोकों को (हिनस्ति) नाश करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-कैसा ही उत्तम पदार्थ क्यों न हो, यदि उसका अन्यथा प्रयोग किया जायगा तो वह इष्ट के स्थान में अनिष्टरूप फल को उत्पन्न करेगा। विधिपूर्वक सेवन किया हुआ अन्न आरोग्य और बल का बढ़ाने वाला है परन्तु वही अन्न यदि मर्यादा को उल्लङ्घन करके सेवन किया जाय, तो बल

और आरोग्य का नाशक हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आचरण किया हुवा अग्निहोत्र स्वर्ग का देने वाला है, परन्तु वही अग्निहोत्र यदि शास्त्र की मर्यादा का उल्लङ्घन करके किया जाय तो नरक का साधन हो जाता है। इसी अर्थ को प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है कि विना पर्वेष्टि और चातुर्मास्येष्टि के विना अतिथिपूजन और वैश्वदेवकर्म के विना गृह्योक्त विधि और समय का पालन किये जो अग्निहोत्र केवल दिखलाने के लिये किया जाता है, वह कर्त्ता के भू आदि सप्त लोकों का नाश करता है अर्थात् उन में उस की उच्चगति को रोक देता है, इस लिये स्वर्ग की कामना रखने वाले पुरुष को सदा श्रद्धा और विधिपूर्वक ही अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥ १३ ॥

पदार्थः-(काली) श्यामवर्ण वाली (कराली) तीक्ष्ण (मनोजवा) मन का सा वेग रखने वाली (सुलोहिता) रक्तवर्ण वाली (या) जो (सुधूम्रवर्णा) धूम्रवर्ण वाली (स्फुलिङ्गिनी) चिनगारियों वाली (विश्वरूपी) सर्वात्मक (देवी) प्रकाशमान (लेलायमाना) प्रदीप्त (सप्त जिह्वाः) अग्नि की सात जिह्वा हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरूपी ये सात अग्नि की जिह्वा हैं। जिह्वा का काम बोलना और स्वादु लेना है। जिस प्रकार हम अपनी जिह्वा से बोलते और स्वादु लेते हैं इसी प्रकार अग्नि भी अपनी इन सातों जिह्वाओं से चटचट

शब्द करता और हव्य को भक्षण करता है। हमारे शाक्तिक भाइयों ने तो इस जिह्वा की मूर्ति तक बना डाली अर्थात् अङ्ग से अङ्गी बना दिया क्योंकि काली साक्षात् एक देवी मानी जाती है और उस के लिये सैकड़ों निरपराध पशुओं की बलि दी जाती है ॥ ४ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(हि) निश्चय (एतेषु, भ्राजमानेषु) इन प्रकाशमान अग्नि जिह्वा के भेदों में (यथाकालम्) यथासमय (यः, चरते) जो अग्निहोत्र करता है। (तम्) उस यजमान को (एताः) ये (आहुतयः) आहुतियें (आददायन्) ग्रहण करती हुई (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणें होकर (नयन्ति) पहुंचाती हैं (यत्र) जहां पर (देवानां, पतिः) देवों का स्वामी (एकः, अधिवासः) एक अधिपति होकर रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्त उन प्रकाशमान अग्नि की सात जिह्वाओं में जो विधिपूर्वक आहुतियें देता है वे आहुतियां सूर्य की किरणों में व्याप्त होकर अन्न, जल और वायु आदि पदार्थों को शुद्ध और पुष्ट करती हैं और यजमान को सूर्यलोक में (जहां देवों का अधिपति सूर्य अपनी ज्योति से प्रकाशमान है) पहुंचाती हैं। इस श्रुति ने और भी स्पष्ट कर दिया कि उक्त जिह्वायें अग्निदेव की हैं और उन का काम आहुतियों को भक्षण करना है। न कि उन का सम्बन्ध किसी देहधारी से है या उन की कोई व्यक्ति या मूर्ति है ॥ ५ ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्च्चसः सूर्यस्य रश्मिभि-र्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥१५॥

पदार्थः—(सुवर्च्चसः) प्रकाशयुक्त (प्रियां, वाचम्, अभिवदन्त्यः) प्रियवाणी को बोलती हुई (अर्च्चयन्त्यः) सत्कार करती हुई (आहुतयः) वे आहुतियां (एहि, एहि, इति) आओ, आओ ऐसा कहती हुई (सूर्यस्य, रश्मिभिः) सूर्य की किरणों के साथ (तं, यजमानम्) उस यजमान को (वहन्ति) धारण करती हैं (एषः) यह (वः) तुम्हारा (पुण्यः) पवित्र (सुकृतः) शुभ कर्म का फलरूप (ब्रह्मलोकः) स्वर्गलोक है ॥ ६ ॥

भावार्थः—वे आहुतियां सूर्य की किरणों में मिलकर यजमान को यज्ञ का फल पहुंचाती हैं और उस का स्वागत और सत्कार करती हुईं प्रियवाणी से उसे बुलाती हैं कि आओ २ यह तुम्हारे पुण्य का फल है। हमारे पाठक इस श्लोक का आशय पढ़ कर शङ्कित हुवे होंगे कि विना शरीर और वाणी के आहुतियां किस प्रकार सत्कार और प्रियभाषण आदि क्रिया कर सक्ती हैं? वास्तव में यह एक प्रकार की कथनशैली है जिस में कर्म का कर्तृत्वेन व्यपदेश किया जाता है, प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी ऐसा ही प्रसङ्ग मिलता है। यथाः—"ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। तं राजन्पारयामसि यस्मै कृणोति ब्राह्मणः" ओषधियां अपने राजा सोम से बोलीं कि हे राजन्! हम उस को पार लगा देती हैं, जिस के लिये ब्राह्मण (उत्तम वैद्य) हमें प्रयुक्त करता है। वास्तव में इस का तात्पर्य यह है कि ओषधियों का सदुपयोग वैद्य ही कर सकता है,

अन्य नहीं। इसी प्रकार निरुक्त में भी आया है "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती यथा स्याम्" विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहने लगी कि मैं तेरा कोष हूं मेरी रक्षा कर अर्थात् निन्दक, कुटिल और अजितेन्द्रिय को मुझे मत दे जिस से कि मेरा प्रभाव बना रहे। इसका तात्पर्य यह है कि अनधिकारी के पास गई हुई विद्या लाभ के स्थान में हानि पहुंचाती है। जिस प्रकार उक्त दोनों दृष्टान्तों में ओषधि और विद्या का संवाद औपचारिक है इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी आहुतियों का बोलना और सत्कार करना यह सब आलङ्कारिक हैं और केवल इस बात के जतलाने के लिये है कि शास्त्र की विधिपूर्वक जो अग्नि में आहुति देता है वह इस अग्निहोत्ररूप शुभकर्म के प्रताप से इस के फल रूप स्वर्ग को प्राप्त होता है। जहां वह अनेक प्रकार की प्रियवाणी और सत्कार आदि से पूजित होकर नाना प्रकार के सुखों को भोगता है ॥ ६ ॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-
मवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति
मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥१६॥

पदार्थः-(हि) निश्चय (एते) ये (यज्ञरूपाः) अग्निहोत्रादि यज्ञ [येषु] जिन में [अष्टादशोक्तम्, अवरं कर्म] सोलह ऋत्विज, यजमान और उस की पत्नी; इन अठारह व्यक्तियों से किया हुवा निकृष्ट कर्मकांड, सम्बद्ध है [अदृढाः] अस्थिर [प्लवाः] नाशवान् है। [ये मूढाः] जो विवेकरहित पुरुष [एतत्, श्रेयः] यह श्रेय अर्थात् मोक्ष का साधन है ऐसा मान कर [अभिनन्दन्ति] सन्तुष्ट होते हैं [ते] वे [जरा

मृत्युम्) जरामृत्यु वाले संसार को [पुनः, एव] फिर भी [अपि, यन्ति] प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः-कर्मकांडरूप अपरा विद्या का प्रतिपादन करके अब ज्ञानकांड की अपेक्षा उस की अवरता दिखलाते हैं। ये अग्निहोत्रादि यज्ञ जो सोलह ऋत्विज्, यजमान और उस की पत्नी इन अठारह व्यक्तियों में सम्बन्ध रखते हैं,। अस्थिर होने से विनाशी हैं जब कर्म ही अनित्य है तो उन का फल नित्य क्योंकर हो सकता है ? अतएव ये अध्यात्मज्ञान की अपेक्षा अवर अर्थात् नीचकोटि में माने गये हैं। जो लोग अपनी अविद्या के कारण इन्हीं को मोक्ष का अनन्यसाधन मान बैठते हैं वे कभी उस अनामय पद को [जो कर्मग्रन्थिः के शिथिल हो जाने पर केवल आत्मज्ञान द्वारा लभ्य है] नहीं प्राप्त हो सकते किन्तु वारंवार जन्म मरण के चक्र में घूमते रहते हैं ॥ ७॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥ १७ ॥

पदार्थः-[अविद्यायाम्, अन्तरे, वर्त्तमानाः] अविद्या के बीच में वर्त्तमान [स्वयं, धीराः, पण्डितम्मन्यमानाः] अपने को धीर और पण्डित मानने वाले (जङ्घन्यमानाः) दुःखों के मारे हुवे (मूढाः) अविवेकिजन (अन्धेन, एव, नीयमानाः, यथा, अन्धाः) अन्धे से ले जाये गये जैसे अन्धे (परियन्ति) चारों ओर से टकराते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो लोग ज्ञानकाण्ड की उपेक्षा करते हुवे केवल कर्मकाण्ड की उपासना में रत हैं और उसी को मोक्ष का

साक्षात् साधन मानते हैं. वे चाहे अपने को धीर और पण्डित हीक्यों न मानें, परन्तु वास्तव में अविद्याग्रस्त हैं क्योंकि वे संसार के सुखाभास में मुग्ध होकर अपनी अवस्था को भूल जाते हैं फिर जब तीन ताप और पांच क्लेशों से सताये जाते हैं तब दीन होकर विलाप करने लगते हैं। ऐसे लोगों का अनुधावन करने वालों की वही दशा होती है जो कि अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धों की। यजुर्वेद की श्रुति भी इस बात को पुष्ट करती है "अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" अर्थात् जो केवल कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड से अनपेक्ष होकर उपासना करते करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं। अतएव विना ज्ञान के कर्म अधूरा है ॥ ८ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) मिथ्याज्ञान में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) प्रवृत्तहुए (वयं, कृतार्थाः, इति) हम कृतार्थ हैं ऐसा (अभिमन्यन्ति) मानते हैं (यत्) जिस कारण (कर्मिणः) केवल कर्म के उपासक (रागात्) फल में आसक्त होने से (उस के अनिष्ट परिणाम को) (न प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इसलिये (आतुराः) दुःख से आर्त्त होकर (क्षीणलोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी उक्त अर्थ की पुष्टि की गई है। जो लोग आत्मज्ञान से वञ्चित हैं वे नाना प्रकार की अविद्या में फँसे हुवे अवर कर्म और उसके विनश्वर फल में ही अपने को कृतार्थ मानते हैं, सांसारिक विषय और उनका भोग ही

उन के लिये सुख की पराकाष्ठा है। वे राग के पराग में लिपटे हुवे और वासना की रज्जु में बँधे हुवे अपने वास्तविक हित और उसके साधन को नहीं समझ सकते, अन्त में राग के बढ़ने और वासना की पूर्त्ति न होने से कातर होकर विलाप करते हैं या कर्मफल के क्षीण होने पर पुनः अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति ॥ १० ॥ १९ ॥

पदार्थः—(प्रमूढाः) स्त्री पुत्र धन आदि पदार्थों में प्रमत्त जन (इष्टापूर्त्तम्) यागादि श्रौत और वापी कूप तड़ागादि स्मार्त कर्मों को (वरिष्ठम्) श्रेष्ठ (मन्यमाना) मानते हुवे (अन्यत्, श्रेयः, न) इस के सिवाय और कोई कल्याण का मार्ग नहीं है ऐसा (वेदयन्ते) जानते हैं। (ते) वे (सुकृते, नाकस्य, पृष्ठे) भोग के स्थान स्वर्ग के ऊपर (अनुभूत्वा) (कर्मफल को) अनुभव करके (इमम्, लोकम्) इस मर्त्यलोक को (हीनतरं, च) और इस से अधम तिर्यगादि लक्षण वाले नरक लोक को भी (आविशन्ति) कर्मफल के क्षीण होने पर प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—फिर उसी विषय की पुष्टि करते हैं-यागादि श्रौत कर्मों को इष्ट और वापी कूप, तड़ागादि स्मार्त्त कर्मों को पूर्त कहते हैं। यद्यपि बिना इन का विधिपूर्वक अनुष्ठान किये किसी को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। तथापि इनको ही अनन्यभाव से श्रेय का मार्ग समझ बैठना बड़ी भारी भूल है क्योंकि इन का फल चाहे कितना ही दीर्घ क्यों न हो, फिर भी अपायी और अस्थायी है, अतएव ये सब मिलकर भी

मनुष्यको उस भूखको (जिस से सताया हुवा यह कर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा है) नहीं बुझा सकते, प्रत्युत और उसको बढ़ा देतेहैं, इस दशा में इनको सर्वोपरि मान बैठना और यह समझना कि इन के सिवाय और कोई श्रेय (मोक्ष) का मार्ग नहीं है, वास्तव में अपने उद्देश्य को भूल जाना है अतएव केवल आत्मज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् साधन है ॥ १० ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥ ॥ २० ॥

पदार्थः—(ये, शान्ताः, विद्वांसः) जो समाहितचित्त ज्ञानी पुरुष (भैक्षचर्यां, चरन्तः) अपरिग्रहवृत्ति का आचरण करते हुवे (अरण्ये) वन में अथवा एकान्त में रहते हुवे (तपः श्रद्धे) कर्त्तव्यपालनादि तप और ब्रह्मोपासना रूप श्रद्धा का (उपवसन्ति) सेवन करते हैं (ते) वे (विरजाः) निष्पाप होकर (सूर्य्यद्वारेण) सूर्य्य की किरणों के द्वारा (प्रयान्ति) वहां जाते हैं [यत्र] जहां [हि] निश्चय [सः, अमृतः, अव्ययात्मा, पुरुषः] वह अमर और अक्षर पुरुष है। ११।

भावार्थः—यागादि कर्मकाण्ड का फल प्रतिपादन करके अब प्रसङ्गप्राप्त ज्ञानकाण्ड का फल कहते हैं। विषयों की असारता को अनुभव करके जिन के इन्द्रिय तथा मन शांत हो गये हैं एवं कर्मफल की क्षीणता को देखकर जिन का आत्मा अविद्या के तिमिर को फाड़कर विद्या के निर्मल प्रकाश में पहुंच गया है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप का जिन को बोध होगया है और जो वन में वा एकांत में रहते हुवे, निष्कामभाव से विहित कर्मों का आचरण करते हुवे; सदा ब्रह्म की उपासना में तत्पर रहते हैं और निस्सङ्ग और निर्विकल्प हो-

कर अनायास जो कुछ मिल गया उसी में अपनी शरीरयात्रा कर लेते हैं, ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष चाहे किसी वर्ण वा आश्रम में हों, कर्म करते हुये भी उस के फल में लिप्त नहीं होते और इस भौतिक शरीर के छोड़ने पश्चात् सूर्य्य की किरणों के द्वारा उस अमृतधाम को प्राप्त होते हैं, जिस में शोक मोह और भयका नाम नहीं और जो सदा उस अविनाशी पुरुष से [जो तीनों काल में एक रस रहता है] अधिष्ठित है ॥ ११ ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद-मायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा-भिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १।२।१२ ॥

पदार्थः-[ब्राह्मणः] ब्रह्मविद्या का अधिकारी [कर्मचितान् लोकान्] कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों वा गतियों को (परीक्ष्य] परीक्षा करके [निर्वेदम्] वैराग्य को [आयात्] प्राप्त होवे, क्योंकि संसार में कोई भी अर्थ जो कर्म का फलरूप है [अकृतः] नित्य [न, अस्ति] नहीं है तब [कृतेन] कर्म से से क्या प्रयोजन ? [तद्विज्ञानार्थम्] [उस नित्य पदार्थ को विशेषतया जानने के लिये [सः] वह विरक्त जिज्ञासु [समित्पाणिः] समिध् हाथ मे लेकर [श्रोत्रियम्] वेदज्ञ [ब्रह्मनिष्ठम्] ब्रह्मपरायण [गुरुम्, एव] आचार्य को ही [अभिगच्छेत्] प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

भावार्थः-बिना फल के प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये प्रथम ब्रह्मज्ञान का फल कहकर अब उस के अधिकारी का कर्त्तव्य निरूपण करते हैं। श्रुति में अधिकारी को ब्राह्मण शब्द से निर्देश किया गया है सो यहां पर ब्राह्मण शब्द वर्णपरक नहीं है किन्तु ब्रह्मविद्या में जिस का स्वाभाविक अनुराग हो और जो उसके लिये सर्वस्व का त्याग कर सके वही यहां पर

ब्राह्मण शब्द का वाच्यार्थ है। ब्रह्म की उत्कट जिज्ञासा जिस को उत्पन्न हुई है वह पहले कर्मचित लोकों की परीक्षा करे अर्थात् कर्म के द्वारा जो नाना प्रकार की मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि, कीट और वृक्षादि योनियां प्राप्त होती हैं और उन के निमित्त से जो २ गर्भ की यातनायें, जन्म मरण के त्रास, शत्रु और रोगादि के आक्रमण, लोभ, मोह, भय, शोक और द्वेष-कृत नाना प्रकार के शारीरक, मानस ताप सहने पड़ते हैं; इन सब का परिणाम तत्वदृष्टि से देखकर और यह समझकर कि "सर्वमेव दुःख विवेकिनः" संसार से विरक्त हो जावे और अपने मन में यह सोचे कि जब कर्म ही अनित्य है तो उसका फल नित्य कैसे हो सकता है "न ह्यध्रुवैः ध्रुवं प्राप्यते"। कर्म से उपरत होकर जिज्ञासु का जो कर्त्तव्य है अब उसको कहते हैं:—इस प्रकार संसार की असारता और कर्मों की अनित्यता को ज्ञानदृष्टि से देखता हुवा जब जिज्ञासु निर्विण्य हो जावे, तब वह उस नित्यवस्तु को यथार्थरूप से जानने के लिये नम्रतापूर्वक ऐसे आचार्य की शरण में जावे जो बहुश्रुत और ब्रह्मनिष्ठ हो, केवल अपनी तुच्छ बुद्धि के भरोसे पर कुतर्क और हेत्वाभास का ही आश्रय न लेवे, जैसा कि आजकल के प्रायः नवशिक्षितों में देखा जाता है। साधारण गणित और भूगोल आदि विषयों के जानने में तो एक नहीं अनेक आचार्यों की शिक्षा की अपेक्षा रखते हैं और चिरकाल तक उन का अभ्यास एवं परिशीलन करते हैं परन्तु असाधारण और सबसे गहन ब्रह्मविद्या को विना सद्गुरु के और बिना अभ्यास के केवल स्वकल्पितर्क और हेतुओं में ही समाप्त कर देते हैं। समित्पाणि होकर गुरु के पास जाना पूर्वकाल में शिष्यों की परिपाटी थी जिस से उन की नम्रता और जिज्ञासा दोनों सूचित होती थीं॥ १२॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(प्रशान्तचित्ताय) शान्तचित्त (शमान्विताय) शमदमादि साधनों से सम्पन्न (उपसन्नाय) समीप में प्राप्त हुवे (तस्मै) उस शिष्य के लिये (सः, विद्वान्) वह बहुश्रुत आचार्य (सम्यक्) यथाशास्त्र (येन) जिस विद्या से (अक्षरं सत्यं, पुरुषं, वेद) अविनाशी और अविकारी पुरुष को जानता है [तां, ब्रह्मविद्याम्] उस ब्रह्मविद्या को (तत्त्वतः) यथावत् (प्रोवाच) उपदेश करै ॥ १३ ॥

भावार्थः—शिष्यका कर्त्तव्य कहकर अब आचार्य का कर्त्तव्य निरूपण करते हैं—इस प्रकार अभिमान को त्याग कर और शमदमादि परमार्थ के साधनों से युक्त होकर जिज्ञासु एवं अधिकारी शिष्य जब आचार्य के समीप प्राप्त होवै, तब विद्वान् आचार्य उस के लिये शास्त्र की विधि के अनुसार यथावत् उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करै जिस के द्वारा वह अविनाशी और अविकारी पुरुष [जिस में देश, काल और वस्तु के भेद से कभीकोई विकार या परिणाम उत्पन्न नहींहोता किन्तु जो सवदेश सब काल और सब वस्तुओं में सदा एकरस व्यापक रहता है) जाना जाता है। जिस प्रकार शिष्य को शास्त्र की मर्यादा पूर्वक ही प्रश्न करने का अधिकार दिया गया था उसी प्रकार आचार्य को भी शास्त्रके ही आधार पर उत्तर देनेका अधिकार दिया गया है। बस सच्चा आचार्य वहीहै जो शास्त्र के आधार पर शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है, न कि वह जो केवल शिष्य के कान में मन्त्र फूंककर या कण्ठी बांधकर सदा उस से अपना प्रयोजन सिद्ध करता है ॥ १३ ॥

अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फु-
लिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथा-
क्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते
तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ ॥ २३ ॥

पदार्थः-(तद्, एतत्) वह यह ब्रह्म (सत्यम्) सत्य है (यथा) जैसे (सुदीप्तात्-पावकात्) प्रदीप्त अग्नि से (सरूपाः) समानरूप वाले (सहस्रशः) सहस्रों (विस्फुलिङ्गाः) अग्निकण [चिनगारियां] (प्रभवन्ते) उत्पन्न होते हैं (तथा) वैसे ही (सोम्य ; हे शिष्य ! (अक्षरात्) अविनाशी पुरुष से (विविधाः, भावाः) नाम रूप और देहादि भेद से अनेक प्रकार के प्रतीयमान भाव (प्रजायन्ते) प्रकट होते हैं (च) और (तत्र, एव) उस ही में [अपि, यन्ति) लीन भी होजाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः-पहले मुण्डक में अपरा विद्या और उस का फल उसीके सम्बन्ध में पराविद्या और उसका फल भी वर्णन किया गया, अब इस दूसरे मुण्डक में अपरा विद्या के कार्यरूप इस संसार का जो आदिमूल है उस पराविद्यागम्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है । यद्यपि अपराविद्या का विषय कर्म और उस का फल भी शास्त्रमूलक होने से सत्य है, तथापि उसकी सत्यता परिणामी होने से आपेक्षिक है न तु वास्तविक । परन्तु यह पराविद्या का विषय ब्रह्म और उस का यथार्थ ज्ञान अपरिणामी होनेसे वास्तविक सत्य है) अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि जब ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है तो फिर उस की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस का उत्तर दृष्टान्त के द्वारा इस श्रुति में दिया गया है । जैसे प्रदीप्त अग्नि से अग्नि की सत्ता

का बोध कराने वाली अनेक चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में लीन भी होजाती हैं। इसी प्रकार सर्वत्र प्रकाशमान उस पुरुष से उसकी गुणमयी सत्ता को प्रकट करनेवाले ये नाना नाम रूप और देहादि भाव प्रतीयमान होरहे हैं और फिर प्रलय में ये सब अपने कृत्रिम भावों को छोड़ कर उसी में लीन होजाते हैं अतएव तत्वदर्शी पुरुष के लिये ये अपनी इस कृत्रिम दशा में भी अपने आदिकारण ब्रह्म की ही प्रतीति करा रहे हैं। जैसे दृष्टान्तमें अनेक प्रकार के विस्फुलिङ्ग केवल अग्नि की सत्ता का परिचय देने के लिये हैं। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में नाना प्रकार के भाव और पदार्थ अपने उत्पादक ईश्वर का प्रतिपादन कर रहे हैं॥ १॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ २। २४॥

पदार्थः-(दिव्यः) प्रकाशमान (हि) जिस कारण (अमूर्तः) मूर्तिरहित है अतएव (पुरुषः) सर्वत्र व्यापक है (स, बाह्याभ्यन्तरः) वह सर्व व्यापक होने से बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान है (हि) इसलिये (अजः) जन्म रहित है (हि) इसलिये (अप्राणः) शरीरसञ्चारी प्राण वायु से रहित (अमनाः) सङ्कल्पविकल्पात्मक मनोवर्जित (हि) अतएव (शुभ्रः) मल रहित (परतः, अक्षरात्) सब से सूक्ष्म अव्याकृत प्रकृति से भी (परः) परम सूक्ष्म है॥ २॥

भावार्थः-अब उस पुरुषके (जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है) स्वरूप का निरूपण करते हैं वह आत्मा (दिव्यः) अप्राकृत होने से (अमूर्तः) तीनों प्रकार के शरीरों से रहित है। जैसे काष्ठादि मूर्त्तिमान् पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ अग्नि स्वयं अमूर्त है, इसी प्रकार सूर्यादि बड़े २ मूर्त्तपिण्डों

को प्रकाशित करता हुवा वह ब्रह्म रूप अग्नि आप मूर्ति और व्यक्ति आदि के विकारों से सर्वथा रहित है। अमूर्त्त होने ही से पुरुष कहलाता है अर्थात् इस समस्त ब्रह्माण्ड में भीतर और बाहर एकरस होकर भरपूर होरहा है, पृथिव्यादि स्थूल भूतों में ही नहीं किन्तु आकाश, दिक और काल जैसे सूक्ष्म पदार्थों में भी व्यापक होरहा है। व्यापक होने से ही अज है अर्थात् उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से पृथक् है। अज होने से प्राण मन आदि कारणों से भी रहित है, क्योंकि प्राण वहीं रह सकता है जहाँ उस को अवकाश मिले, निरवकाश में उस की स्थिति कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार मन भी चाहे कैसा ही वेगवान् क्यों न हो तथापि परिच्छिन्न है, फिर वह विभु आत्मा का सहचारी कैसे हो सकता है ? इन सब उपाधियों से रहित होने के कारण ही वह शुद्ध है अर्थात् उस में कोई मल या विकार नहीं, अतएव वह इस जगत् के अनादि कारण प्रकृति से भी परम सूक्ष्म है ॥ २ ॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥३॥४॥

पदार्थः—(एतस्मात्) इसी अविनाशी पुरुष से (प्राणः) जीवन का आधार प्राण (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मक मन (सर्वेंद्रियाणि) सब इन्द्रिय (च) और उनके विषय (खम्) आकाश (वायुः) पवन (ज्योतिः) अग्नि (आप) जल (विश्वस्य, धारिणी) विश्व को धारण करने वाली (पृथिवी) भूमि (जायते) उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

भावार्थः—पुरुष के स्वरूप का वर्णन कर के अब उस की शक्ति का वर्णन करते हैं। ये सब प्राण, मन, इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत यथाक्रम जैसा कि वर्णन कर आये हैं उसी ब्रह्म से

उत्पन्न होते हैं। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जब इससे पहिले श्लोक में ब्रह्म को 'अप्राण' और 'अमनस्क' कहा गया है तब यहां पर उस से ही प्राण और मन आदि की उत्पत्ति मानना वदतोव्याघात दोष से युक्त है क्योंकि जब वह प्राण और मन आदि साधनों से रहित है तब ये उस से उत्पन्न कैसे होते हैं?इसका समाधान यह है कि वास्तवमें ब्रह्म अपने स्वरूप से निरुपाधिक है। श्रुति भी कहती है"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते"उसका कोई कार्य वा करण नहीं है परन्तु यहांपर वा अन्यत्र जहां कहीं जगत् के उपादानत्वेन ब्रह्मका वर्णन किया गया वा किया जाता है,इस का कारण यह है कि क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति के अधीन होने से अप्रधान है,प्रधान की उपस्थिति में अप्रधान का निर्देश कोई नहीं करता। जैसे पुत्रादि की उत्पत्ति स्त्री से होते हुए भी वे पुरुष के ही कहलाते हैं इसी प्रकार प्राणादि भौतिक पदार्थ प्रकृति का कार्य होते हुए भी ब्रह्म से उत्पन्न माने जाते हैं। ज्ञान का जो अधिकरण है उसी के लिये कर्तृ शब्द का व्यपदेश किया जाता है। जैसे हनन क्रिया का व्यपदेश सर्वत्र हन्ता पर ही होता न कि शस्त्र पर। बस यही कारण है कि ब्रह्म से इन की उत्पत्ति कही गई है ॥ ३ ॥

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥ २६ ॥

पदार्थः-(अस्य) इस पुरुष का (अग्निः) द्युलोक (मूर्द्धा) मस्तक है (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्रमा और सूर्य (चक्षुषी) आंखें हैं (दिशः) दिशायें (श्रोत्रे) कान हैं (वेदाः) ज्ञानमय वेद (वाग्विवृताः) फैली हुई वाणी हैं (वायुः) पवन (प्राणः) प्राण है (विश्वम्) समस्त जगत् (हृदयम्) हृदय है (पद्भ्याम्)

पैरों से (पृथिवी) भूमि [उपलक्षित होती है] (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब उसी अनादि पुरुष के विराट् स्वरूप का वर्णन करते हैं—अग्नि ऊर्ध्वगामी होने से उसका मस्तकवत् है, चन्द्र, सूर्य संसार के चक्षु होनेसे उसके नेत्रवत् हैं, दिशायें अवकाश वाली होने से उसके श्रोत्रवत् हैं, वेद ज्ञानमय होनेसे उस की वाणी (उपदेश) कहलाते हैं, वायु सर्वसञ्चारी होने से उस के प्राण हैं और यह सारा ब्रह्माण्ड उस का उदर इस लिये है कि सब कुछ इसी में समाया हुवा है, पैरों से पृथिवी का उपलक्षित होना इस लिये कहा गया है कि जैसे शरीर के अधोभाग में पाद स्थित हैं वैसे ही ब्रह्माण्ड के अधोभाग में यह पृथिवी निहित है। इस प्रकार जो ब्रह्म सम्पूर्ण देश, काल और वस्तु को अपनी व्याप्ति से आच्छादन किये हुवे है वही चराचर जगत् का अन्तरात्मा है। यहां भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब ब्रह्म निराकार एवं निरुपाधिक है तो फिर उस के अङ्गों की कल्पना कैसी? इसका उत्तर यह है कि उस सर्वोपाधिविवर्जित ब्रह्म में यह अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना केवल दूसरों को समझाने के लिये है, यों तो "अशब्द" होने से शब्दों के द्वारा उसका वर्णन भी नहीं किया जासकता, परन्तु हम मनुष्य विना शब्दोंके प्रयोगके किस प्रकार अपना भाव दूसरों पर प्रगट कर सकते हैं? बस उस का महत्व जतलाने के लिये अनन्यगत्या हम औपचारिक रीति का अवलम्बन करते हैं। ब्रह्म के ही विषय में नहीं किन्तु अन्य विषयोंमें भी हम इस काल्पनिक रीतिका अनुसरण करते हैं जैसे नग्न पुरुष का प्रायः "दिगम्बर" शब्दसे व्यवहार किया जाता है। जैसे "दिगम्बर" का तात्पर्य केवल वस्त्राभाव से है,

ऐसे ही "विश्वोदर" और "विश्वचक्षु" इत्यादि शब्दों का तात्पर्य भी 'उदर' और 'चक्षु' आदि अङ्गों का अभाव ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥५॥२७॥

पदार्थः-(तस्मात् उस परमपुरुष से अग्निः) संसार का अवस्थान जिससे होताहै ऐसा अग्निरूप द्रव्य उत्पन्न होताहै (यस्य) जिस अग्नि का (सूर्यः) सूर्यलोक (समिधः) इन्धन है (सोमात्) उस अग्नि से निष्पन्न हुवे सोम से (पर्जन्यः) जलरूप बादल उत्पन्न होता है, जल से (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधयः) ओषधियें उत्पन्न होती हैं (पुमान्) ओषधियों से उत्पन्न हुवा वीर्य वान् पुरुष (रेतः) वीर्य को (योषितायाम्) स्त्री में (सिञ्चति) सींचता है (बह्वीः, प्रजाः) इस प्रकार क्रम से नानाविध प्रजा (पुरुषात्) पुरुष से (सम्प्रसूताः) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब यहां से लेकर नवमी श्रुति तक इस सम्पूर्ण कार्यरूप जगत् का उस पुरुष से उत्पन्न होना दिखलाया गया है। प्रथम उस पुरुष से अग्नि जो सूर्यरूप से सबका पालन-पोषण और सोमरूप से सब का आप्यायन करता है उत्पन्न होता है, उस अग्नि से जल, जल से पृथ्वी में ओषधियां, ओषधियों से वीर्य और वीर्य से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती हैं; परन्तु इन सबका आदि कारण पुरुष ही है ॥ ५ ॥

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च । संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥ (२८)

पदार्थः–(तस्मात्) उस से (ऋचः) गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र (साम) स्तोमादि गीतिविधायक मन्त्र [यजूंषि] गद्यात्मक मन्त्र (दीक्षाः) उपनयनादि संस्कार (च) और [सर्वे, यज्ञाः] सब अग्निहोत्रादि यज्ञ [क्रतवः] वाजपेय राजसूयादि वृहद्यज्ञ [दक्षिणाः] श्रद्धापूर्वक दान [च] और [संवत्सरम्] वत्सर आदि काल के अङ्ग [च] और [यजमान] कर्त्ता [च] और [लोकाः] फल के अधिष्ठान अनेक लोक [यत्र] जहाँ पर [सोमः] चन्द्रमा [पवते] पवित्र करता है[यत्र]जहांपर [सूर्य्यः]सूर्य [पवते] पवित्र करता है॥६॥

भावार्थः–उस ही पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदरूप त्रयीविद्या और तत्प्रतिपाद्य सोलह संस्कार नित्य और नैमित्तिक यज्ञ और उनमें होने वाले दान और यज्ञ का अधिकरण संवत्सरोपलक्षित काल, यजमान ऋत्विगादि कर्त्ता, यज्ञफल के अधिष्ठा।रूप चन्द्र सूर्यादि लोक [जो दक्षिणायन और उत्तरायण भेदों के द्वारा भिन्न २ प्रभाव सब पदार्थों पर डालते हैं] उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः
पशवो वयांसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥ (२६)

पदार्थः–[तस्मात्] उससे [बहुधा] अनेक प्रकार के [देवाः] दिव्यगुणविशिष्ट देवगण [साध्याः] देव विशेष [मनुष्याः] मध्यम गुणविशिष्ट मनुष्यवर्ग [पशवः] पशुजाति [वयांसि] पक्षिगण [प्राणापानौ] प्राण और अपान [व्रीहियवौ] व्रीहि और यव [च] और [तपः] फल के साधन [श्रद्धा] आस्तिक्य बुद्धि [सत्यम्] यथार्थ और हितकर

चलन [ब्रह्मचर्यम्] इन्द्रियों का संयम [च] और [विधिः] कर्त्तव्य; ये सब [प्रसूताः] उत्पन्न हुवे हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—उस ही पुरुष से देव मनुष्य, पशु पक्षी आदि अनेक जातियां और उनके अवन्तर भेद उत्पन्न होते हैं तथा जीवन के हेतु प्राणापान [जो उपलक्षण हैं वायु मात्र के] और प्राण के आधार व्रीहि यव [जोउपलक्षण हैं अन्नमात्र के] तथा वैदिक कर्मकाण्ड के प्रधान अङ्ग तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और इन सब का विधिरूप शास्त्र जिस में इन की कर्त्तव्यता का निरूपण किया गया है, क्रमशः उत्पन्न हुवे हैं अर्थात् इन सबका आदिकारण वही पुरुष है ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः । सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥ (३०)

पदार्थः—(सप्त प्राणाः) चक्षु, श्रोत्र, नासिका और मुख के सात विवरों में रहने वाले सात प्राण (सप्तार्चिषः) सात ही उनके अर्थों के प्रकाश करने वाली वृत्तिरूप ज्वालायें (सप्त समिधः) सात ही उनकी विषयरूप समिधायें [जिन से वे प्रदीप्त होते हैं] (सप्त होमाः) सात ही उनके ज्ञानरूप होम [जिनसे कि उनमें विषयों का होम किया जाता है] (इमे, सप्त लोकाः) ये सात इन्द्रियों के स्थान (येषु) जिनमें (गुहाशयाः, सप्त सप्त, निहिताः) बुद्धि में वा हृदय में सात सात स्थित हुवे (प्राणाः) प्राण (चरन्ति) विचरते हैं (तस्मात्) उसीसे (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—"चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते" इस प्रश्नोपनिषद् की श्रुति के अनुसार दो आँख, दो

कान, एक मुख और दो नासिका; इन सात इन्द्रिय छिद्रों में प्राण स्वयं रहता है, इसलिये तास्थ्य लक्षण से ये सात इन्द्रियच्छिद्र सात प्राण कहलाते हैं और इनके विषयों को प्रकाश करने वाली जो सात वृत्तियां हैं वे ही सात ज्वालायें हैं इसी प्रकार इनके जो सात विषय हैं वे ही सात समिध हैं। जैसे समिधों से अग्नि प्रदीप्त होता है ऐसे ही विषयों से भोग की वासना बढ़ती है और सात ही उनके विज्ञानरूप होम हैं जिन से यह फलासक्त होकर इन्द्रियाग्नि में जो विषयेन्धन से प्रदीप्त होता है और जिसमें इसकी वासनावृत्तिरूप ज्वालायें लपटें लेती हैं, अपने वीर्यरूप हव्य में से शक्तिरूप आहुतियों का होम करता है और सात स्थान विशेष ही जिनमें कि ये शरीरस्थ प्राण विचरते हैं, सात लोक कहलाते हैं। तात्पर्य इसका यह है कि दोनों प्रकार के याज्ञिक, एक वे जो निष्काम भाव से प्राणाग्नि में विज्ञानरूप हव्य का होम करते हैं अर्थात् योगाभ्यास द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, दूसरे वे कि जो स्वर्ग की काम से इन्द्रियाग्नि में कर्म रूप हव्य का हवन करते हैं अर्थात् शास्त्रविहित कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते हैं, इन दोनों के कर्म, साधन और उनके फल उसी सर्वज्ञ पुरुष से उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥ २१ ॥

पदार्थः-(अतः) इस पुरुष से (समुद्राः) समुद्र (च) और (सर्वे, गिरयः) सब पहाड़ उत्पन्न होते हैं (अस्मात्) इस ही से (सर्वरूपाः, सिन्धवः) बहुरूप नदियां (स्यन्दन्ते) स्रवित होती हैं (च) और (रसः) मधुरादि ६ प्रकार का

रस उत्पन्न होता है (येन) जिस रस से (एषः, अन्तरात्मा) यह लिङ्गशरीर सहित जीवात्मा (भूतैः) पञ्चभूतों के साथ (तिष्ठते) शरीर में ठहरता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—उस ही पुरुष से अग्नि के द्वारा जल उत्पन्न होकर ये सब समुद्र और नदियां प्रस्रवित होती हैं, फिर इन्हीं से पार्थिव पर्वत और वृक्षादि ओषधियां उत्पन्न होती हैं, जिन से ६ प्रकार के रस उत्पन्न होकर भौतिक शरीर को पुष्ट करते हुये उसमें जीवात्मा की स्थिति का कारण होते हैं । तात्पर्य यह है कि चराचर सृष्टि उससे उत्पन्न होकर उसी में स्थित हो रही है. वह इस समस्त सृष्टि का उत्पादक होने पर भी आप उत्पत्ति और विनाश के धर्मों से पृथक् है ॥ ६ ॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ! ॥ १० ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(इदम् , विश्वम्) यह सारा संसार (पुरुषः एव) पुरुषमय ही है, वह सब क्या है ? (कर्म) कर्त्तव्यरूप कर्म (तपः) ज्ञानरूप तप (परामृतम्) परम अमृत रूप (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् कार्यरूप होने से ये सब अपने उसी अनादि कारण को जतलाते हैं (सोम्य) हे प्रियदर्शन शिष्य ! (यः) जो विज्ञानात्मा (गुहायां, निहितम्) हृदय में स्थित (एतत्) इस पुरुष को (वेद) जानता है (सः) वह (इह) इस जीवन में ही (अविद्याग्रन्थिम्) कर्मग्रन्थि को (विकिरति) क्षीण करता है ॥ १० ॥

भावार्थः—अब इस खण्ड के अन्तिम श्लोक में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि यतः पुरुष से यह जगत् उत्पन्न हुआ है अतः यह सब पुरुष

का ही बोधक है। जैसे पिता से उत्पन्न होने के कारण पुत्र उसका बोधक कहलाता है, इसी प्रकार पुरुष से उत्पन्न हुआ जगत् उसी का बोधक है। इसका कोई महाशय यह तात्पर्य न समझ बैठें कि यह जगत् ही ब्रह्मरूप है किन्तु जैसे पुत्र अपनी सत्ता से पिता के महत्त्व को और जैसे मूर्ति अपनी विद्यमानता से शिल्पी के चातुर्य को प्रकाशित करते हैं, ऐसे ही यह जगत् अपने अस्तित्व से ब्रह्म की महिमा को प्रकट कर रहा है और यही इसका ब्रह्ममय होना है। उसका ब्रह्म नाम ही इसलिये है कि इस अनन्त और विस्तृत ब्रह्माण्ड के द्वारा उसके महत्त्व का अनुभव किया जाता है। जगत् की स्थिति के दो साधन हैं—एक कर्म दूसरा ज्ञान इन दोनों के यथाक्रम सेवन से जो उस हृदयस्थ पुरुष को जानता है, वह इस अविद्याजन्य कर्मग्रन्थि के गोरखधन्धे को सुलझाकर विज्ञानरूप महार्ह रत्न को अपने करतलगत करता है ॥ १० ॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥ ३३

पदार्थः—जो (आविः) प्रकाशमान (सन्निहितम्) सब में स्थित (गुहाचरं, नाम) बुद्धि वा हृदय में विचरने वाला प्रसिद्ध है वह (महत्, पदम्) प्राप्तव्य पदार्थों में सब से बड़ा है (अत्र) इस में (एजत्) चलने वाले, पश्वादि

(प्राणत्) प्राणवाले मनुष्य पश्वादि (निमिषत्) निमेषवाले (च) अनिमेषवाले भी (एतत्) ये सब (समर्पितम्) प्रविष्ट हैं (यत्) जो (सदसद्वरेण्यम्) स्थूल और सूक्ष्म सब पदार्थों से ग्रहण करने योग्य (वरिष्ठम्) सब में श्रेष्ठ (प्रजानाम्) मनुष्यों के (विज्ञानात्) विज्ञान से (परम्) आगे है (तद्, एतत्) उस इस पुरुष को (जानथ) जानो ॥ १ ॥

भावार्थः–पुरुष से जगत् की उत्पत्ति और तद्द्वारा उस की महिमा को वर्णन करके अब वह अरूप अक्षर किस प्रकार जाना जाता है, यह विषय इस खण्ड में निरूपण किया जायगा । प्रथम दो श्लोकों में उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है । जो सर्वत्र प्रकाशमान पुरुष है वह अन्तर्यामीरूप से सबके हृदय में विराजमान है । यद्यपि उसकी सत्ता प्रत्येक वस्तु,देश और काल में व्याप्त है. तथापि मनुष्य का अन्तःकरण उस का अधिष्ठान होने से बुद्धि और मन को उस का निवासस्थान माना गया है । यतः उस की ही शक्ति प्रत्येक वस्तु, देश और काल में विविध प्रकार से अपना काम कर रही है, अतः उस का नाम ब्रह्म है । अर्थात् वह सब से बड़ा और सब का अधिष्ठाता है । उसी में यह सारा चराचरात्मक विश्व इस प्रकार ओतप्रोत होरहा है, जैसे केन्द्र पर रेखायें । यद्यपि हमारी बुद्धि आध्यात्मिक विद्या की सहायता से उसका अनुभव और ग्रहण करती है, तथापि अपनी परिमित सीमा में उसको आबद्ध और आक्रान्त नहीं कर सक्ती । उस का ज्ञान हमारे लिये सदा अभ्यास का साधन है, नकि तद्विषयक बोध की पूर्णता । अतएव यह समझ कर कि उस का ज्ञान हमारी बुद्धियों के लिये एक कभी न समाप्त होने वाला उद्योग है, हम को उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये ॥ १ ॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः । तदेतत्सत्यं तदऽमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥ २४ ॥

पदार्थः-(यत्) जो (अर्चिमद्) प्रकाशमान है (यत्) जो (अणुभ्यः) परमाणुओं से भी (अणु) सूक्ष्म है (यस्मिन्) जिस में लोकाः) सम्पूर्ण सूर्यादि लोक (च) और (लोकिनः) उनके निवासी मनुष्यादि प्राणी (निहिता) स्थित हैं (तद् एतद्) वह यह [अक्षरम्] अविनाशी (ब्रह्म) महापुरुष है [सः] वह [प्राणः] सब का जीवनाधार होने से प्राण है [तद्, उ] और वही [वाङ् मनः] वाणी और मनका भी प्रवर्त्तक है [तद् एतद्] वह यह [सत्यम्] सदा एकरस वर्त्तमान [तद्] वह [अमृतम्] अविनाशी [तद्] वह [वेद्धव्यम्] वेधने के योग्य है, इसलिये [सोम्य] हे सोम्य ! (विद्धि) वेधन कर ॥ २ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में भी ब्रह्म का ही निरूपण कियागया है । जो प्रकाश का पुञ्ज है अर्थात् जिस के प्रकाश से सूर्यादि लोक प्रकाशित होते हैं । प्रकाश पुञ्ज कहने से सूर्यादिवत् ब्रह्म में भी इन्द्रियों का विषय होने की सम्भावना होती है, उसका निवारण करने के लिये ही श्रुति "अणुभ्योऽणु" कहती है अर्थात् वह परमाणुओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, तब ब्रह्म परिमाण वाला ठहरेगा क्योंकि परमाणु सूक्ष्म होने पर भी परिमाण रखते हैं । इस दोष का परिहार करने के लिये श्रुति उसके महत्व को दिखलाती है अर्थात् वह इतना बड़ा है कि जिसमें ये सारे लोकलोकान्तर और इनके निवासी समाये हुवे

है। "अणोरणीयान् महतोमहीयान्" वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है, फिर उसका परिमाण कोई क्योंकर कर सकता है? महत् होने से ही उसका नाम ब्रह्म है, वही चराचर की स्थिति का आधार होने से प्राण और वही वाणी और मन का प्रवर्त्तक होने से वाक् और मन है। केनोपनिषद् में भी कहा है—"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः" अर्थात् वह श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की वाणी और प्राण का प्राण है। वही सब शक्तियों का केन्द्र तीनों काल में एकरस रहने से सत्य उत्पत्ति और विनाश रहित होने से अमृत है, वही सब को हृदय में धारण करने योग्य है। हे शिष्य! उसी में मन लगा॥ २॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ ३॥ (३५)

पदार्थः—[औपनिषदम्] उपनिषत्सम्बन्धी [महास्त्रं, धनुः] धनुषरूप अस्त्र [गृहीत्वा] पकड़कर [हि] निश्चयपूर्वक उसमें उपासा,निशितं, [शरम्] उपासना के तीक्ष्ण बाण को [संधीयत] जोड़े [तद्भागतेन, चेतसा] उस अक्षर के ध्यान में लीन हुये चित्त से [आयम्य] खींचकर (तद्, एव, अक्षरम्] उस ही अक्षररूप [लक्ष्यम्] लक्ष्य को [सोम्य] हे शिष्य! [विद्धि] वेधन कर॥ ३॥

भावार्थः—अब उस सूक्ष्म ब्रह्म को ग्रहण करने का उपाय दृष्टान्त के द्वारा बतलाते हैं। जैसे किसी लक्ष्य [निशाने] को वेधने के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता

होती है। एक धनुष्, दूसरे बाण, तीसरे मन की वृत्ति को सब ओर से हटाकर उसी लक्ष्य में लगा देना। जब तक ये तीनों साधन अनुकूल न हों, तबतक कोई लक्ष्य को नहीं वेध सकता। इसी प्रकार जो मनुष्य ब्रह्मरूप अति सूक्ष्म लक्ष्य को वेधना चाहता है, प्रथम उसको उपनिषद् (वेदान्तशास्त्र) का महत् एवं दृढ धनुष हाथ में लेना चाहिये। पुनः उपासना (अभ्यास के तीक्ष्ण बाण को उसमें जोड़ना चाहिये। तत्पश्चात् अपने मन की वृत्तियों को तदतिरिक्त पदार्थों से हटाकर ब्रह्मरूप लक्ष्य में ही लगा देना चाहिये। ऐसा करने से वह निस्सन्देह अपने लक्ष्य को वेध सकेगा अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने अभीष्ट को सिद्ध करेगा ॥ ३ ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥ (१८)

पदार्थः—(प्रणवः) ओङ्कार (धनुः) धनुष् है (हि) निश्चय (आत्मा) जीवात्मा (शरः) बाण है (तद् ब्रह्म) वह ब्रह्म [लक्ष्यम्] लक्ष्य (उच्यते] कहा जाता है [अप्रमत्तेन] प्रमादरहित मनसे [वेद्धव्यम्] वेधना चाहिये [शरवत्] बाण के तुल्य [तन्मयः] लक्ष्यगत [भवेत्] हो जावे ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब उसी विषय को दूसरे दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। ओङ्कार ही धनुष् है, जीवात्मा उस का बाण है और लक्ष्य वही पूर्वोक्त ब्रह्म है। मुमुक्षु को चाहिये कि प्रथम ओङ्काररूप धनुष् में आत्मरूप बाण को चढ़ावे अर्थात् ओङ्कार के बारम्बार अभ्यास से अपने आत्मा को बलिष्ट बनावे, तत्पश्चात् अप्रमत्त होकर अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके साधक को

सहायता से वाच्यरूप लक्ष्य को आत्मरूप बाण से वेधन करे। जिस प्रकार बाण लक्ष्य में पहुंचकर तन्मय होजाता है, उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म में पहुंचा कर तन्मय कर देवे, तब मोक्ष का अधिकारी बन सकता है ॥ ४ ॥

> यस्मिन् द्यौः पृथ्वी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥२७॥

पदार्थः—(अस्मिन्) इस पुरुष में (द्यौः) द्युलोक (पृथिवी) भूमि (च) और (अन्तरिक्षम्) आकाश (च) और [सर्वैः, प्राणैः, सह, मनः] सब प्राणों के साथ मन (ओतम्) समर्पित है [तम्, एव, एकम्, आत्मानम्] उस ही एक आत्मतत्त्व को [जानथ] जानो [अन्याः, वाचः) अन्यान्य और बातों को [विमुञ्चथ] छोड़ो क्योंकि [एषः] यही आत्मा [अमृतस्य] मोक्षप्राप्ति के लिये भवसागर को तरने का [सेतुः] पुल है ॥ ५ ॥

भावार्थः—पुरुष के दुर्गम होने से पुनः उसका निरूपण किया जाता है। इस ही पुरुष में कि जिस का तुम्हारे प्रति वर्णन किया गया है, पृथिव्यादि प्रकाश्य और सूर्य्यादि प्रकाशक लोक और इनका आधार भूत यह आकाश, यह सब आधिभौतिक जगत् ठहरा हुवा है। एवं सब प्राणों के साथ मन भी जो आत्मा का करण होने से आध्यात्मिक जगत् कहलाता है इसी में अटका हुवा है। उसी एक आत्मतत्त्व को कि जिस में यह सारा ब्रह्माण्ड (क्या आधिभौतिक और क्या आध्यात्मिक) ओत प्रोत हो रहा है, सब झगड़ा को छोड़

कर श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा अपने हृदयङ्गम करो, क्यों कि यही इस भवसागर से [जिसमें प्राणी डूबते और उछलते हैं] तरने के लिये एक दृढ़ सेतु [पुल] है। इसी की पुष्टि वेद भगवान् भी करते हैं "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उसी आत्मतत्त्व को जान कर मनुष्य मृत्यु को उल्लङ्घन करता है और कोई मार्ग मृत्यु से बचने का नहीं है ॥ ५ ॥

अराइव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः । ओ-मित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥ ३८ ॥

पदार्थः—[यत्र] जहां पर [रथनाभौ, अराइव] रथनाभि में अरों के समान [नाड्यः] नाड़ियां [संहताः] जुड़ी हुई हैं, वहां [सः, एषः] वह आत्मा [बहुधा] अनेक प्रकारों से [जायमानः] प्रसिद्ध हुवा [अन्तः, चरते] भीतर विचरता है [आत्मानम्] उस आत्मा को [ओम्, इति, एवम्] "ओम्" इस वाचक शब्द का अवलम्बन करके [ध्यायथ] ध्यान करो [वः] तुम्हारा [स्वस्ति] कल्याण हो [पाराय] भवसागर के पार होने के लिये [तमसः परस्तात्] जो अन्धकार से परे है, उस का आश्रय ग्रहण करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—यद्यपि वह ब्रह्म सूक्ष्म होने से सर्वत्र ही व्यापक है तथापि हृदय [जो नाड़ियों का केन्द्र है], उसका विशेषरूप से निवासस्थान माना गया है। गीता में भी भगवान् कृष्ण-चन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" इस जगत् रूप यन्त्र को माया की शक्ति से घुमाता हुवा ईश्वर सब

प्राणियोंके हृदयरूप देश में निवास करता है। वस उस हृदय में दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान आदि अनेक प्रत्ययों से [जो बुद्धि की साक्षिता में उत्पन्न होते हैं] उपलक्षित होता हुआ वह पुरुष निवास करता है। उस प्रकाशमय पुरुष का यदि संसार सागरसे पार उतरना चाहते हो तो "ओम्" इस वाचकाभिधान से [जो अनन्यतया केवल उसी का प्रतिपादन करता है] ध्यान करो, यही तुम्हारे कल्याण का मार्ग है ॥६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय । तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥ (३६)

पदार्थः–[यः] जो [सर्वज्ञः] सब का ज्ञाता [सर्ववित् सब में वर्त्तमान है [यस्य] जिस की [भुवि] संसार में [एषः] यह [महिमा] विभूति है [हि] निश्चय [एषः] यह [ब्रह्मपुरे, व्योम्नि] हृदयाकाश में [प्रतिष्ठितः] स्थित है [मनोमयः] मन में व्यापक [प्राणशरीरनेता] प्राण और शरीर का चलाने वाला [हृदयम्] बुद्धि को [अन्ने] अन्न में [सन्निधाय] स्थापित करके [प्रतिष्ठितः] स्थित है [तद्विज्ञानेन] उस के विज्ञान से [धीराः] धीरजन [आनन्दरूपम्, अमृतम्] आनन्दरूप अमृत को [यत् , विभाति] जो सर्वत्र प्रकाशमान है [परिपश्यन्ति] सब ओर से देखते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः–फिर उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं–जो सब का जानने वाला पुरुष है, जिस की विभूति और कीर्ति संसार

में व्याप्त हो रही है, वह महान् आत्मा उक्त हृदयाकाश में [जो ब्रह्म का निवासस्थान होने से ब्रह्मपुर और बुद्धि का अधिष्ठान होने से दिव्य कहलाता है] अन्नमय कोश में प्राणमय कोश को स्थापित करके और स्वयं उस की स्थिति का आधार होकर प्राण और शरीर को चलाता हुआ प्रतिष्ठित है उसीके सम्यक् विज्ञान से धीर लोग उस आनन्दमय पद को सर्वत्र देखते हैं ॥ ७ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥४०॥

पदार्थः—[तस्मिन्, परावरे] उस सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् ब्रह्म के [दृष्टे] जानलेने पर [हृदयग्रन्थिः] वासनामय अविद्या की गांठ [भिद्यते] टूट जाती है [सर्वसंशयाः] अज्ञान से उत्पन्न सारे संशय [छिद्यन्ते] नष्ट हो-जाते हैं [च] और [अस्य] इस छिन्नसंशय के [कर्माणि] प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाणरूप से तीनों प्रकार के कर्म [क्षीयन्ते] क्षीण होजाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब उस आत्मज्ञान का फल वर्णन करते हैं। उस परावर पुरुष के कि जो सूक्ष्म कारण और स्थूल कार्य इन दोनों में प्रतीयमान हो रहा है परन्तु वास्तव में इन से पृथक् है, यथार्थतया जान लेने पर मनुष्य की अविद्यारूप गांठ जो इस हृदय के स्वच्छ पट पर वासनारूप तन्तुओं से बन्धी हुई है, तुरन्त खुल जाती है, जिसके खुलते ही इसके सारे संशय और विकल्प [जो अज्ञान वा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होते हैं] विलीन होजाते हैं, संशयों के विलीन होने पर अनादि काल से प्रवृत्त कर्मों का बन्धन भी शिथिल पड़जाता है। जैसे जला व गला बीज अँकुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता है

ऐसे ही विज्ञानाग्नि से जिस के संकल्प विकल्परूप बीज दग्ध होगये हैं, उस के लिये यह कर्मक्षेत्र कदापि फल उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥९॥

पदार्थः-[हिरण्मये] बुद्धि और विज्ञान से प्रकाशित [परे, कोशे] आनन्दमय कोश में [विरजम्] सम्पूर्ण दोष और मलों से रहित [निष्कलम्] निरवयव [ब्रह्म] वह महान् आत्मा है [तत्] वह [शुभ्रम्] शुद्ध [ज्योतिषाम्] सूर्यादिकोंका भी [ज्योतिः] प्रकाशक है [तद्, यद्] वह जो कुछ है उस को [आत्मविदः] अध्यात्मविद्या के जानने वाले [विदुः] जानते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः-उक्त ब्रह्म विज्ञानमय कोश से परे आनन्दमय कोश में स्थित है अथवा धारणावती बुद्धि से प्रकाशित जीवात्मा के अधिष्ठान हृत्पुण्डरीक देश में ध्यान के द्वारा योगियों को प्राप्त होता है। वह सम्पूर्ण अविद्यादि दोषों से रहित निरवयव, शुद्ध और सूर्यादि प्रकाशकों का भी प्रकाशक है उस के यथार्थस्वरूप को आत्मज्ञ ही [जिन की वृत्ति बाह्य विषयों से हट कर आत्मा के ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन में लीन होगई है] जान सक्ते हैं, अन्य सांसारिक पदार्थों के लोलुप नहीं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति
सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥४२॥

पदार्थः—(तत्र) उस आत्मज्योति में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाश करता (न, चन्द्रतारकम्] चन्द्र और तारागण भी नहीं प्रकाश करते [न, इमाः, विद्युतः, भान्ति] न ये बिजलियें चमकती हैं [अयम्, अग्निः] यह भौतिक अग्नि [कुतः] कहां प्रकाश कर सका है ? [तम्, एव, भान्तम्] किन्तु उस ही स्वयं प्रकाशमान के [सर्वम्] सब [अनुभाति] पीछे से प्रकाशित होता है [तस्य] उसकी [भासा] दीप्ति स [इदं, सर्वम्] यह सब [विभाति] प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोक में उस ब्रह्म को "ज्योतिषां ज्योतिः" कहा था। अब इस श्लोक में दिखलाते हैं कि वह क्योंकर ज्योतियों की ज्योति है। यह जड़ सूर्य जो सारे जगत् को प्रकाशित कर रहा है, उस ज्योति के भण्डार में अपना भौतिक प्रकाश नहीं पहुंचा सका। क्योंकि यह उसी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर अनात्मवस्तुओं को प्रकाशित करता है, इस में उसी का दिया हुआ केवल इन्द्रियगोचर पदार्थों के प्रकाशित करने का सामर्थ्य है। जो वस्तु इन्द्रियों से तो क्या उनके अधिपति मन से भी ग्रहण नहीं की जा सकती उस को भला यह आधिभौतिक सूर्य किस प्रकार दिखला सकता है ? जब उस आत्मज्योति के दिखलाने में सूर्य ही [जो सम्पूर्ण भौतिक प्रकाशों का पुञ्ज माना जाता है] असमर्थ है, तब चन्द्र और नक्षत्र आदि [जो उसी से प्रकाशित होते हैं] क्या प्रकाश कर सके हैं ? जब सूर्य चन्द्र और ताराओं की जो कुछ काल तक और कुछ दूर तक प्रकाश करते हैं, यह गति है तब विद्युत् जिसका नाम ही चपला है और जो निमेष मात्र के लिये चमक कर आप ही अदृश्य हो जाती है,

तथा भौतिक अग्नि जो बहुत थोड़ी दूर तक सो भी काष्ठ या तैल आदि पदार्थों के सहारे से टिमटिमाता है, इनकी तो कथा ही क्या कहनी है ? निदान उसी के प्रकाश से ये सब सूर्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं. प्रलय में वह जब इन से प्रकाश का संहरण कर लेता है, तब यह सारा जगत् अन्धकार से आच्छन्न होजाता है, अतएव वही इन सब का उत्पादक और वही प्रकाशक भी है ॥ १० ॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥ ४३ ॥

पदार्थः-(इदम्, अमृतम्) यह अमृतरूप [ब्रह्म, एव] ब्रह्मही है [पुरस्ताद् ब्रह्म] आगे ब्रह्म है [पश्चात् ब्रह्म] पीछे ब्रह्म है [दक्षिणतः] दाहिने [च] और [उत्तरेण] बायें [अधः] नीचे [च] और [ऊर्ध्वम्] ऊपर भी [प्रसृतम्] फैला हुवा ब्रह्म ही है [इदं, विश्वम्] यह सब [इदं वरिष्ठम्] यह अत्यन्त श्रेष्ठ [ब्रह्मएव] ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

भावार्थः—अब इस श्लोक में इस प्रकरण का उप संहार करते हुवे आचार्य ब्रह्म की व्यापकता को दर्शाते हैं-आत्मतत्त्व के जिज्ञासु अपने आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर और नीचे सब ओर ब्रह्म को ही फैला हुवा देखते हैं अर्थात् प्रत्येक देश, काल और वस्तु में वे उस वरणीय ब्रह्म का ही अनुभव करते हैं, उनकी दृष्टि में यह सारा जगत् ही ब्रह्ममय प्रतीत होता है, वे इस अनित्य जगत् में रहते हुवे भी इस के कल्पित स्वरूप और कृत्रिम सौन्दर्य पर मोहित न होते हुवे सर्वदा उस नित्य ब्रह्म की अन्वेषणा और गवेषणा में तत्पर रहते हैं, ऐसे

आत्मवित् ही इस संसार के बन्धनों से मुक्त होकर उस अमृतधाम ब्रह्म को प्राप्त होते हैं जिस को पाकर फिर कोई प्राप्तव्य अर्थ शेष नहीं रहता ॥ ११ ॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥
समाप्तं मुण्डकं चैतत् ॥

अथ तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति ॥ १ ॥ ४४ ॥

पदार्थः—[सयुजा] एक साथ रहने वाले [सखाया] परस्पर मित्र के समान वर्त्तने वाले [द्वा, सुपर्णा] दो पक्षी [समानं, वृक्षम्] एक ही शरीररूप वृक्ष को [परिषस्वजाते] आश्रय करते हैं (तयोः) उन दोनों में से [अन्यः] एक जीवात्मा [पिप्पलम्] कर्मजन्य फल को [स्वादु, अत्ति] अनेक प्रकार से भोग करता है (अन्यः) दूसरा परमात्मा (अनश्नन्) न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) देखता है ॥ १ ॥

भावार्थः—पराविद्या जिस से वह अक्षर पुरुष जाना जाता है, वर्णन की गई और ब्रह्म के दर्शन का उपाय भी धनुष् आदि के दृष्टान्त से निरूपित कियागया । अब उसके सहकारी सत्यादि साधनों के वर्णन की इच्छासे तृतीय मुण्डकका प्रारम्भ किया जाता है । उसके आदि में पक्षी के अलङ्कार से

दोनों आत्माओं [जीवात्मा और परमात्मा] का उपदेश किया जाता है। इस शरीररूप वृक्ष में दो पक्षी [जीव और ईश्वर] निवास करते हैं एक उनमें से [जीव अपने किये हुवे कर्मों का फल भोगताहै। दूसरा [ईश्वर] स्वयं कर्म और उसके फलसे पृथक् रहता हुआ जीव को कर्मफल भुगाताहै। इस श्रुति में "सुपर्णा" 'सयुजा" 'सखाया" ये तीन विशेषण दोनों पक्षियों के दिये गये हैं. दृष्टान्तमें पक्षियोंका शोभनपर्ण होना तथा एक साथ मिलकर रहना एवं समानख्याति होना अर्थात् पक्षि शब्द से निर्देश किया जाना प्रसिद्ध है, अब दार्ष्टान्त में इनकी सङ्गति मिलानी चाहिये। नियम्य और नियामक शक्ति ही जीव और ईश्वर के पक्ष हैं, जैसे पक्षी दोनों परों से उड़ता है एक से नहीं, ऐसे ही इन दोनों शक्तियों के योग से जीवात्मा और परमात्मा अपने २ कर्तृत्व सामर्थ्य को चरितार्थ करते हैं। उपदृष्टान्त के लिये राजा और प्रजा को लेलीजिये। यदि राजा न हो तो प्रजा किसके शासन में चले और प्रजा के अभाव में राजा किस पर अपना शासन करे? दूसरा विशेषण "सयुजा" (एक साथ मिल कर रहने वाले) है। जैसे दो पक्षी आपस में मिलकर रहते हैं ऐसे ही व्याप्य और व्यापक होने से जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों सदा मिले हुवे हैं, कभी इन में विश्लेष नहीं होता। तीसरा विशेषण 'सखाया' [समानख्याति वाले] है। जैसे दोनों पक्षी किन्हीं २ अंशों में वैधर्म्य रखते हुवे भी एक ही पक्षी नाम से प्रख्यात हैं। ऐसे ही जीव और ईश्वर भिन्न २ गुण और स्वभाव रखते हुवे भी एक ही आत्मशब्द से निर्देश किये जाते हैं। अब रहा वृक्ष जिस में कि उक्त दोनों पक्षी निवास करते हैं सो वह शरीर है क्योंकि ['वश्चू' छेदने और 'शृ' हिंसायाम्] इन दोनों धातुओं के

समानार्थक होने से इन के अर्थ में भी समता है। एवं कठोपनिषद् में वृक्ष के ही अलङ्कार से शरीर का वर्णन भी किया गया है। यथा—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" ऊपर को शिरूप जिसकी जड़ है और नीचे को हस्तपादादिरूप जिस की शाखायें हैं, ऐसा यह प्रवाह से अनादि शरीररूप वृक्ष है, इस में जीवेश्वररूप उक्त दोनों पक्षी निवास करते हैं। इन में से एक अर्थात् जीवात्मा अनादि काल से प्रवृत्त कर्मपाश में बद्ध होने से अपने शुभाऽशुभ कर्मों के फल को यथावत् भोगता है, दूसरा परमात्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव होने से कर्म और उसके विपाक से सर्वदा निर्लेप रहता है किन्तु वह अपनी सर्वज्ञता से जीवात्मा के कर्मों को देखता हुआ अपने अखण्ड न्याय को चरितार्थ करने के लिये उस को उन का फल भुगाता है ॥ १ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥ (४५)

पदार्थः—[समाने वृक्षे] प्रवाह से अनादि इस शरीररूप वृक्ष में [पुरुषः] भोक्ता जीवात्मा [निमग्नः] डूबा हुआ [अनीशया] असमर्थता से [मुह्यमानः] मोह को प्राप्त हुआ [शोचति] शोक करता है [यदा] जब [जुष्टम्] अनेक साधन और कर्मों से सेवित [अन्यम्, ईशम्] भोजयिता दूसरे ईश्वर को [इति] और [अस्य] इसकी [महिमानम्] महिमा को [पश्यति] देखता है, तब, [वीतशोक] शोक से मुक्त होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—अब उन दोनों पक्षियों में से पहिला पक्षी भोक्ता

रूप जीवात्मा शरीररूप वृक्ष में निमग्न [आसक्त] अर्थात् शरीर में ही आत्मबुद्धि रखता हुवा, यह मेरा शरीर है, मैं अमुक का पुत्र हूं, दुबला हूं, मोटा हूं, गुणी हूं, निर्गुण हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं, इत्यादि विश्वास रखता हुवा असमर्थता से दीनभाव को प्राप्त होता है। पुत्र मेरा नष्ट होगया, भार्या मेरी मरगई, धन मेरा जाता रहा और मैं कुछ न कर सका, अब मुझे इस जीवन से क्या करना है! इत्यादि अनेक प्रकार की दीनता से मोह [मिथ्याज्ञान] में पड़ा हुआ संतप्त होता है। यह दशा इस की तबतक रहती है जबतक यह उस अपने नियामक दूसरे पक्षी को [जो कार्य कारणरूप जगत् में रहता हुआ भी उस के गुणों से सर्वदा पृथक् है] नहीं जानता और उसकी विभूति को जो सर्वत्र फैली हुई है, अपने ज्ञाननेत्रों से नहीं देखता। जब यह अनेक जन्मों के पुरुषार्थ और अनेक साधनों से सम्पन्न होकर उस सर्वशक्तिमान् और प्रकाशमान पुरुष का [जिस में मोह, शोक और दैन्य का सर्वथा अभाव है] आश्रय लेता है और सर्वत्र उस की महिमा का अवलोकन करता है, तब यह भी अपने स्वरूप को जानकर संसार में रहता हुवा भी उस के हर्ष शोक में लिप्त नहीं होता। इस श्रुति में "जुष्टम्" और "अन्यम्" ये दो पद स्पष्टरूप से द्वैतभाव को सिद्ध करते हैं ॥ २ ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥ (४९)

पदार्थः—[यदा] जब [पश्यः] देखने वाला [रुक्मवर्णम्] प्रकाशमान [कर्त्तारम्] विश्व के कर्त्ता [ईशम्] सर्वशक्ति

सम्पन्न [ब्रह्मयोनिम्] जगत् या वेद के कारण [पुरुषम्] पुरुष को [पश्यते] देखता है (तदा) तब (विद्वान्) वह सदसत् का ज्ञाता [पुण्यपापे] पुण्य और पाप को (विधूय) हटाकर [निरञ्जनः] निर्लेप हुवा [परमं, साम्यम्] अत्यन्त समता को [उपैति) प्राप्त होता है ॥ ३॥

भावार्थः—फिर उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं—जब यह देखने वाला जीवात्मा बाह्यदृष्टि से जगत् और उस के पदार्थों को देखता हुवा भी अन्तर्दृष्टि से केवल उस ज्योतिर्मय पुरुष को (जो इस विविध जगत् का उत्पादक, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति इन दोनों का अधिष्ठाता है) देखता है, तब वह बन्धन के कारण शुभाशुभ कर्म और उन के फल की वासना से मुक्त होकर स्वाभाविक कर्म करता हुवा भी उन के फल में आसक्त नहीं होता क्योंकि कर्म वही बन्धन का हेतु होता है, जो फल की आशा से किया जाता है। यद्यपि कर्म का फल अवश्यम्भावी है, कोई इच्छा करे या न करे वह अवश्य होकर रहेगा तथापि उस के बन्धन में वही पड़ता है, जो उस की इच्छा करता है और जो अपना कर्त्तव्य समझकर बिना किसी प्रत्याशा के कर्म करता है, वह कर्म उस की स्वाधीनता का अवरोधक नहीं होता, प्रत्युत सहायक होता है। केवल यही मार्ग उस परम पुरुष की (जो सदा कर्मचक्र और उस के बन्धन से मुक्त है) समता या समीपता प्राप्त करने का है ॥३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥ (४७)

पदार्थः—[हि] निश्चय [एषः] यह [प्राणः] सर्वगत

होने से प्राण है [यः] जो [सर्वभूतैः] ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब चराचर भूतों से [विभाति] प्रकाशमान है [विजानन्] इस को जानता हुवा [विद्वान्] सदसद्विवेकी पुरुष [अतिवादी] अतिक्रमण करके कहने वाला [न, भवते] नहीं होता [एषः] यह [आत्मक्रीडः] आत्मा में ही क्रीडा करने वाला [न कि बाह्यपदार्थों में] (आत्मरतिः) आत्मा में ही प्रीति रखने वाला [न कि स्त्री पुत्रादिकों में] [क्रियावान्] ज्ञान, ध्यान और वैराग्य आदि क्रिया से सम्पन्न [ब्रह्मविदाम्] ब्रह्म के जानने वलों में [वरिष्ठः] श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

भावार्थः—फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सारे चराचर भूत जिस की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं और जो सब का जीवनाधार होने से प्राण का भी प्राण है, उस ब्रह्म को जानता हुवा विद्वान् अतिवादी नहीं होता। जब वह सब पदार्थों में केवल उस आत्मा को ही अधिष्ठित देखता है, सिवाय उस के अन्य पदार्थों को देखता हुवा भी नहीं देखता और सुनता हुवा भी नहीं सुनता, तब किसी का किसी से अतिक्रमण करके कहना बन ही नहीं सकता क्योंकि अनेक पदार्थों के ध्यान और चिन्तन में लगा हुवा पुरुष ही एक का अतिक्रमण करके दूसरे का परिक्रमण करता है और जो केवल आत्मक्रीड और आत्मरति है, वह किस का अतिक्रमण और किस का उपसर्पण करे ? बस जो कभी न बिगड़ने वाले आश्चर्यमय केवल आत्मा के खिलौने से ही क्रीड़ा करता है, न कि ज़रा सी ठेस में टूट जाने वाले भौतिक विकारों से, एवं जो सदा रहने वाले एक आत्मा को ही अपनी सच्ची प्रीति का पात्र बनाता है, न कि क्षणभर में बिछुड़ जाने वाले स्त्री पुत्र और अपने देह आदि को, वह ज्ञान

ध्यान और वैराग्य आदि परमार्थ की क्रियाओं से सम्पन्न होकर ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ ४ ॥

सत्येन लभ्य तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥४८॥

पदार्थः—[अन्तः शरीरे] शरीर के भीतर [ज्योतिर्मयः] स्वयंप्रकाशमान [शुभ्रः] शुद्ध [एषः, आत्मा [हि] निश्चय [सत्येन] मन, वचन और कर्म की अभिन्नता से [तपसा] इन्द्रिय और मन की एकाग्रता से [सम्यग्, ज्ञानेन] यथार्थ ज्ञान से [ब्रह्मचर्येण] ब्रह्मचर्य के पालन करने से [नित्यम्] सर्वदा [लभ्यः] प्राप्त होने योग्य है। [यम्] जिसको [क्षीण दोषाः, यतयः] जिन के अविद्यादि दोष नष्ट होगये हैं ऐसे यत्नशील योगी [पश्यन्ति] देखते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—अब आत्मप्राप्ति के साधनों का वर्णन करते हैं यह आत्मा [जो इस शरीर के भीतर ही प्रकाशमान हो रहा है] सत्य के यथार्थ सेवन से प्राप्त होता है अर्थात् उस की प्राप्ति का सब से उत्तम साधन सत्य [मन, वाणी और कर्म की अभिन्नता है] जिन्हों ने मन, वचन और कर्म की एकता सम्पादन नहीं की है, उपाय शत से भी उस सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकते, अतएव ब्रह्म के जिज्ञासु को सब से पहिले सत्य का व्रत धारण करना चाहिये। दूसरा साधन उस की प्राप्ति का तप है, तप से यहां मन और इन्द्रियों की एकाग्रता अभिप्रेत है। क्योंकि शरीर के जो [आत्मा का अधिष्ठान है] सुखा देने से वा निकम्मा बना देने से कोई इस के अधिष्ठाता को नहीं पा सकता। वास्तव में ऐसे लोग परमार्थ तो क्या

संसार से भी हाथ धो बैठते हैं, किन्तु जो लोग इस शरीर को धर्मार्थ काम मोक्ष का साधन समझते हुवे इस की रक्षा पूर्वक अपने मन और इन्द्रियों का निग्रह करते हैं अर्थात् उनकी वृत्ति को विषयों की ओर जाने से रोक कर केवल आत्मा में नियुक्त कर देते हैं, वेही सच्चे तपस्वी और ब्रह्मप्राप्ति के अधिकारी हैं। तीसरा साधन ब्रह्मप्राप्ति का यथार्थज्ञान है। जब तक मनुष्य मिथ्याज्ञान [अविद्या] के आवर्त में पड़ा हुवा है तबतक उस को क्षण भर के लिये भी शान्ति [स्थिरता] नहीं मिल सकती. वह रात दिन अनित्य, अपवित्र और दुःखमय पदार्थों से स्थिरता, पवित्रता और सुख की आशा करता है, जब पूरी नहीं होती [हो कहां से, भला कहीं बालू में से भी तेल निकल सकता है] तब अधीर होकर चिल्लाने लगता है। जब इस को यथार्थ ज्ञान होता है अर्थात् यह जान लेता है कि केवल एक आत्मा ही नित्य, पवित्र, सत्य और सुख का एक मात्र अधिष्ठान है और जो कुछ है वह सब एक इन्द्रजाल का गोरखधन्धा है तब इस को सच्ची शान्ति और निराबाध सुख प्राप्त होता है। चौथा साधन ब्रह्मचर्य है, जिस के बिना न तो मनुष्य का शरीर ही विहित कर्मों के अनुष्ठान करने में समर्थ हो सकता है और न आत्मा ही विज्ञान के महाबल से बलिष्ठ होकर इस अविद्यारूपी माया के जाल को छिन्न भिन्न कर सकता है। बस जो अधिकारी उक्त साधनों से यथाकाल सम्पन्न होकर ब्रह्मप्राप्ति के लिये यत्न करते हैं वे ही उस आनन्दायतन को पाकर संसार के शोक मोह से मुक्त होते हैं न कि साधनहीन और विषयलम्पट ॥ ५ ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र

तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ । ४९ ॥

पदार्थः—[सत्यम्, एव] सत्य ही [जयते] विजय को प्राप्त होता है [न, अनृतम्] झूंठ नहीं [सत्येन] सत्य ही से [देवयानः, पन्थाः] देवयानरूपी मार्ग [विततः] फैला हुआ है [येन] जिस मार्ग से [आप्तकामाः] तृष्णारहित [ऋषयः] ऋषि लोग [हि] निश्चय [आक्रमन्ति] गमन करते हैं [यत्र] जहां पर [तत्] वह [सत्यस्य, परमं, निधानम्] सत्य का परम अधिष्ठान ब्रह्म है ॥ ६ ॥

भावार्थः--पूर्व श्लोक में सत्य को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कहा था अब उस का माहात्म्य और प्रभाव दिखलाते हैं-- सत्य के धारण करने से मनुष्य का आत्मा जैसा बलवान् होता है वैसा अन्य किसी प्रकार से नहीं, सत्यवादी का चाहे किसी कारण विशेष से दूसरे लोग विश्वास न करें परन्तु उसका अपना विश्वास तो ध्रुव के समान निश्चल है जिस के कारण उसका आत्मा सदा निर्भय व निश्शङ्क रहता है, "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" अप्रियभाषण से जैसे दूसरों में उद्वेग उत्पन्न होता है ऐसे ही अनृतभाषण से अपने आत्मा और मन आदि उस के सहचरों में खलबली मचजाती है, जिस के कारण अनृतवादी अपने सहायकोंके होते हुवेभी कभी सुख की नींद नहीं सो सकता, वह स्वप्न भी यही देखता है कि मेरी पोल खुल गई और मैं मारा गया। इस लिये केवल सत्य के अवलम्ब से मनुष्य संसार और परमार्थ दोनों में विजय-लाभ कर सकता है। सत्य के ही आचरण से देवयान [उत्तम पुरुषों का मार्ग] विस्तृत और प्रकाशित होता है, जिस मार्ग से सत्यसंकल्प, सत्यवाक् और सत्यकर्मा ऋषि लोग निरन्तर विना किसी प्रतिबंध के गमन करते हैं, और बहुत कहने

स यथा जो इस समस्त चराचर जगत् का आदि कारण है और जिसकी प्राप्ति से मनुष्य को अमर जीवन प्राप्त होता है, यह सबका जीवनाधार ब्रह्म भी इसी सत्य में प्रतिष्ठित है ॥ ६॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति । दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ । ५० ॥

पदार्थः-[तद्] वह ब्रह्म [बृहत्] महान् है [च] और [दिव्यम्] अलौकिक और अतीन्द्रिय है [अचिन्त्यरूपम्] उस की सत्ता और विभूति की कोई अवधारणा नहीं कर सकता कि वह ऐसी और इतनी है [तद्] वह [सूक्ष्मात् च] आकाशादि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी [सूक्ष्मतरम्] अत्यन्त सूक्ष्म [विभाति] प्रकाशमान है [तद्] वह [दूरात्] दूर से [सुदूरे] अत्यन्त दूर है (इह, अंतिके, च) और समीप इतना कि इस शरीर में ही वर्त्तमान है [पश्यत्सु] ज्ञान चक्षु से देखने वालों के लिये [इह, गुहायाम्, एव] इस बुद्धिमें ही (निहितम्) स्थित है ॥ ७ ॥

भावार्थः—फिर उसी ब्रह्म का निरूपण करते हैं—यह ब्रह्म महान् होने से दिव्य (अलौकिक) है अर्थात् लोक में उस की कोई उपमा नहीं मिल सकती तथा सूक्ष्म होने से अचिन्त्यरूप [अतीन्द्रिय] है अर्थात् कोई इन्द्रिय उस को ग्रहण नहीं कर सकता, यहां तक कि मन और बुद्धि भी जो बाल की खाल निकालते हैं, उस की थाह नहीं पासकते । वही सम्पूर्ण आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों का केन्द्र है. उस से केवल भौतिक सूर्यादि ही (जो इन भौतिक नेत्रों को प्रकाश पहुंचाते हैं) प्रकाशित नहीं होते, किन्तु यह विज्ञान का दिव्य

प्रकाश भी जो अस्मदादि के बुद्धिरूप नेत्रों को प्रकाशित कर रहा है, उसी ज्योतिःपुञ्ज से निकला है। वह विभु होने से यद्यपि सर्वत्र ही विद्यमान है तथापि जो उस से विमुख हैं अर्थात् नहीं जानते कि यह ब्रह्म क्या वस्तु है ? उनसे वह बहुत दूर है। जिस वस्तु का जिसे ज्ञान नहीं वह उस के पास होती हुई भी उस से दूर होजाती है। इसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष सामान्यरूप से सर्वत्र और विशेष रूप से अपनी बुद्धि में ही उस परम पुरुष को अवस्थित देखते हैं और सर्वदा उसी के श्रवण, मनन और निदिध्यासन में तत्पर रहते हैं उन के वह अत्यन्त ही समीप है ॥ ७ ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै-
स्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशु-
द्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्याय-
मानः ॥ ८ ॥ ५० ॥

पदार्थः—वह ब्रह्म (चक्षुषा, न, गृह्यते) आंख से नहीं ग्रहण किया जाता (न, अपि, वाचा) वाणी से भी नहीं (न, अन्यैः, देवैः) न अन्य इन्द्रियों से (न, वाचा) न चान्द्रायणादि कृच्छ्र तप से (न, कर्मणा, वा) और न फल की वासना से किये हुवे शुभकर्मों से प्राप्त होता है। किन्तु (ज्ञानप्रसादेन) यथार्थज्ञान के प्रसाद से (विशुद्धसत्त्वः) शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर (ततः) तब (ध्यायमानः) ध्यान करता हुवा (तं, निष्कलम्) उस निरवयव ब्रह्म को (पश्यते) देखता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—पुनः प्रसङ्गप्राप्त ब्रह्मप्राप्ति का साधन कहते हैं। साध्य के अनुरूप ही उसकी उपलब्धि के साधन भी हुवा करते हैं। जिन वस्तुओं का कुछ आकार वा परिमाण होता है,

उन को हम नेत्रों से ग्रहण करते हैं परन्तु अप्रमेय वस्तु को [जिस का न तो कोई वर्ण है और न परिमाण] हम इन चर्ममय नेत्रों से कैसे देख सकते हैं ? इसी प्रकार निर्वचनीय वस्तु का वाणी से निर्वचन हो सक्ता है, पर जो सर्वथा अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है, जिस के विषय में बड़े २ ऋषि महर्षि भी "नेति नेति" कहकर अपने अपर्याप्त निर्वचन को समाप्त करगयेहैं, उसको भला अस्मादादिकी तुच्छ वाणी किसप्रकार प्रकट करसकतीहै ? जब ज्ञानेन्द्रियोंमें प्रधान चक्षु और कर्मेन्द्रियों में मुख्य वाणी की यह दशा है, तब अन्य इन्द्रियों की तो कथा ही क्या है ? केवल तप से अर्थात् इन्द्रिय और शरीर के शोषण से भी कोई उस ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि अपने २ अर्थ को ग्रहण करना इन्द्रियों का स्वभाव है, अर्थ ग्रहण करने मात्रसे कोई मनुष्य पापी नहीं होसकता, पापी होताहै दुर्वासना और कुटिलभाव से, जो कि मन में उत्पन्न होते हैं। अतएव ब्रह्मप्राप्ति के लिये प्रथम मन का निग्रह करना चाहिये, न कि शरीर वा इन्द्रियों का शोषण। क्योंकि मन का निग्रह होने से मनुष्य इन्द्रियों से अर्थों को ग्रहण करता हुवा भी उन में आसक्त नहीं होता और विना मनोनिग्रह के इन्द्रियों को स्तब्ध करके भी रात दिन विषयों का ध्यान और चिन्तन करता है। भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता में अर्जुन से कहा है:- "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः सउच्यते" अर्थात् जो इन्द्रियोंको विषयों में जाने से रोक कर मन से उन के अर्थों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी (प्रतारक) है। अतएव केवल तप से कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार केवल कर्म से भी [जबतक हृदय में ज्ञान का प्रकाश न हो] कोई सिद्धि

का भागी नहीं हो सकता, हां विधिपूर्वक कर्म के अनुष्ठान से स्वर्गादि की प्राप्ति अवश्य होती है। जब इन्द्रियगण ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकते, न तप और कर्म ही उसकी प्राप्ति के साधन हो सकते हैं तौ फिर वह कौनसा साधन है कि जिस के द्वारा यह मनुष्य उस आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है? इस का उत्तर देते हुवे अङ्गिरा ऋषि शौनक से कहते हैं-कि केवल तत्त्वज्ञान के प्रसाद से जब मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है अर्थात् उस के हृदय से अविद्या का आवरण (जिस के कारण यह अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख और जड़ को चेतन समझता है] फट जाता है, तब ध्यान [मन की वृत्तियों के एकाग्र होने] से मुमुक्षु को उस निष्कल ब्रह्म के दर्शन होते हैं ॥ ८ ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश । प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ६ ॥ ५२ ॥

पदार्थः-(यस्मिन्) जिस शरीर में (प्राणः) प्राणवायु (पञ्चधा) प्राण, अपान उदान, समान और व्यान इन पांच भेदों से (संविवेश) प्रविष्ट हो रहा है, उसी शरीर में (एषः) यह (अणुः) सूक्ष्म (आत्मा) ब्रह्म (चेतसा) विज्ञान से (वेदितव्यः) जानने योग्य है। [प्राणैः) प्राण और इन्द्रियों के साथ (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वं, चित्तम्) सब अन्तःकरण (ओतम्) व्याप्त है (यस्मिन्) जिस चित्त के (विशुद्धे) विशेषरूप से शुद्ध होने पर (एष, आत्मा) यह आत्मा (विभवति) प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं। वह सूक्ष्म आत्मा इस शरीर में ही (जिस में प्राण अपने पांच भेदों

से विचरता है) शुद्ध चित्त से जो विज्ञान के प्रसाद से सम्पन्न होता है, जानने के योग्य है अर्थात् उसके विशुद्ध स्वरूप का दर्शन बाह्य पदार्थों में बहिरङ्ग साधनों से कोई नहीं कर सकता, किन्तु अपने हृदय के भीतर ही चित्त रूप अन्तरङ्ग साधन के द्वारा [जिस में समस्त प्राण और इन्द्रियों की शक्ति दुग्ध में स्नेह काष्ठ में अग्नि के समान व्याप्त हो रही है और जो चित् शक्ति का प्रवर्त्तक होने से चेतन आत्मा का सहकारी साधन माना जाता है] उस की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह अवश्य है कि वह चित्त मल, विक्षेप और आवरण से दूषित न हो, अन्यथा जैसे कोई मलिन आदर्श में अपना रूप नहीं देख सकता ऐसे ही मलिन चित्त में आत्मा भी भासित नहीं होता। इसीलिये श्रुति में कहा गया है कि चित्त के विशुद्ध होने पर ही उस में आत्मा प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १० ॥ ५३ ॥

पदार्थः-(विशुद्धसत्त्वः) निर्मल अन्तःकरण वाला (यं, यं, लोकम्) जिस २ लोक को (मनसा) मन से (संविभाति) चिन्तन करता है (च) और (यान्, कामान्) जिन भोगों को (कामयते) चाहता है (तं, तं, लोकम्) उस २ लोक को (च) और (तान्, कामान्) उन भोगों को (जायते) प्राप्त होता है (तस्मात्) इसलिये (हि) निश्चय (भूतिकामः) सिद्धि को चाहने वाला (आत्मज्ञम्) ब्रह्मवित् को (अर्चयेत्) पूजा करे ॥ १० ॥

भावार्थः- अब इस खण्ड का उपसंहार करते हुये आचार्य ब्रह्मज्ञान का फल निरूपण करते हैं । विज्ञान के प्रसाद से जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है अर्थात् जिसने तत्त्वज्ञान के प्रसाद से ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को जान लिया है, ऐसा विवेकी पुरुष जिस जिस लोक या भोग की इच्छा करता है उस उस लोक या भोग को सङ्कल्पमात्र से वह प्राप्त होता है क्योंकि सत्यकाम होने से उसका संकल्प वृथा नहीं होता । यहां पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब तत्त्वज्ञान के प्रताप से मनुष्य के सारे बन्धन टूट जाते हैं और कर्मग्रन्थि भी जो जन्म और भोग का कारण है, शिथिल हो जाती है फिर उस का लोक या भोगों के बन्धन में पड़ना कैसा ? इसका समाधान यह है कि वह अस्मदादि के समान कर्मबन्धन में बद्ध होकर जन्म और भोग का भागी नहीं होता, किन्तु स्वेच्छाचारी होने से यदि संसार में जन्म लेने या भोगों के भोगने की इच्छा करे तो अपने सङ्कल्पमात्र से ऐसा कर सकता है, क्योंकि वह अमोघसङ्कल्प होने से जिस बात की इच्छा करता है, वह वृथा नहीं जासकती । श्रेयोऽभिलाषियों को उचित है कि ऐसे तत्त्वज्ञानियों का सर्वदा पूजन व सत्कार करें । यद्यपि उनको इसकी अपेक्षा नहीं, तथापि हमको अपने कल्याण के लिये उनकी नित्य पूजा करनी चाहिये क्योंकि आत्मज्ञानी साक्षात् देव स्वरूप होता है ॥१०॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

—•—

अथ तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ ॥ ५४ ॥

पदार्थः-(सः) वह आत्मज्ञ (एतत्, परमं, धाम, ब्रह्म) इस सब के परम आश्रय ब्रह्म को वेद) जानताहै (यत्र) जिस में (विश्वम्) समस्त ब्रह्माण्ड (निहितम्) स्थित है और जो ब्रह्म (शुभ्रम्) शुद्ध (भाति) अपनी ज्योति से प्रकाशित है (हि) निसन्देह (ये, अकामाः) जो कामनारहित (पुरुषम्) उस परमात्मा की (उपासते) पूजा वा सेवा करते हैं (ते, धीराः) वे धीरजन (एतत्, शुक्रम्) शरीर के उपादान इस वीर्य को (अतिवर्त्तन्ति) उल्लंघन कर जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—वह आत्मज्ञ जो प्रत्येक देश, काल और वस्तु में उस आत्मा के ही महान् ऐश्वर्य को अनुभव करता है और उसके शुद्धस्वरूप को (जो समस्त विश्व और उसकी चराचर सृष्टि की स्थिति का कारण है) ज्ञानचक्षु से प्रेम के प्रकाश में अपने हृदय के भीतर ही देखता है । बाह्यपदार्थ यद्यपि आत्मदर्शन में सहायक होते हैं, तथापि आत्मा का अधिकरण मनुष्य का अपना अन्तःकरण ही है, जहां उसे आत्मा का साक्षात्कार होता है । इस प्रकार जो मुमुक्षुजन तीनों एषणाओं को त्यागकर आत्मदर्शन की योग्यता सम्पादन करते हैं, वे समस्त शारीरिक और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर आवागमन के चक्र को भी उल्लंघन करजाते हैं ॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभि-
र्जायते तत्र तत्र । पर्याप्तकामस्य कृतात्मन-
स्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥५५॥

पदार्थः—(यः) जो मनुष्य (कामान्) दृष्टादृष्ट इष्ट विषयों को (मन्यमानः) मन में उनकी वासना रखता हुवा (कामयते) चाहता है (सः) वह (कामभिः) उन कामनाओं के साथ जहां २ वे खींचकर इस को ले जाती हैं (तत्र, तत्र) वहां २ (जायते) उत्पन्न होता है। परन्तु (पर्याप्तकामस्य) जिस की परमार्थतत्त्व के जान लेने से सारी कामनायें पूर्ण हो गई हैं (कृतात्मनः) जिस ने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्ववित् पुरुष की (सर्वे, कामाः) सारी कामनायें (इह, एव) इस शरीर में ही (प्रविलीयन्ति) लीन होजाती हैं ॥ २ ।

भावार्थः—काम का त्याग ही मोक्ष का प्रधान साधन है। अब यह दिखलाते हैं–काम के दो भेद हैं, एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट । जिन का फल यहीं पर दीखता है वे दृष्ट, जैसे कि स्त्री, पुत्र और धन आदि। जिन का फल यहां पर नहीं दीखता किन्तु परलोक या परजन्म में होने वाला है, वे अदृष्ट हैं, जैसे कि यज्ञ, दान और व्रत आदि। इन दोनों प्रकार के कामों की मन में वासना रखता हुवा मनुष्य जिस जिस काम की जहां २ पर इच्छा करता है उस उस की वासना से खिंचा हुवा वहां वहां पर जन्म लेता है और उस कामतन्तु में बंधा हुवा बारं-बार जन्ममरण के चक्र में घूमता रहता है, कभी इसको शांति या विश्राम नहीं मिलता। हां, जब तत्त्वज्ञान के प्रसाद से इसको आत्मा का यथार्थ स्वरूप विदित होता है, तब इस के सारे काम जो आत्मा को न जानने से या शरीर को ही

आत्मा मानने से उत्पन्न होते हैं, इस शरीर से ही विलीन हो जाते हैं, तब यह आप्त काम कहलाता है और इस शरीर के होते हुवे ही जीवन्मुक्तकी पदवी पाता है ॥ २ ॥

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥ ५५ ॥

पदार्थः–(अयम्, आत्मा) यह आत्मा (प्रवचनेन) केवल वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से [न, लभ्यः] नहीं प्राप्त होता [न, मेधया] न बुद्धि से [न, बहुना, श्रुतेन] न बहुत से शास्त्रों से सुनने से प्राप्त होता है किंतु [यम्, एव] जिस पुरुष को ही [एषः] यह आत्मा [वृणुते] स्वीकार करता है [तेन] उस पुरुष से [लभ्यः] प्राप्त होने योग्य है [तस्य] उस ध्यानशील के लिये [एषः, आत्मा] यह आत्मा [स्वाम्, तनूम्] अपने सूक्ष्म स्वरूप को [वृणुते] प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—अब पुनः ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय कहते हैं। आत्मतत्व को न जानकर केवल प्रवचन (वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन) से कोई ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सक्ता। ऋग्वेद की श्रुति भी कहती है—"यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति"= "जो उसको नहीं जानता वह वेद की ऋचा से क्या करेगा" इसी प्रकार विना भाव की शुद्धि के बुद्धि की पटुता से भी कोई उसे नहीं पासकता और विना मनन और निदिध्यासन के केवल श्रवण मात्र से भी कोई उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता। उक्त प्रवचनादि ब्रह्मप्राप्ति के बहिरङ्ग साधन तो हो सकते हैं,अन्तरङ्ग नहीं। तो फिर उसकी प्राप्ति का अन्तरङ्ग

साधन क्या है ? श्लोक के उत्तरार्द्ध में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। अर्थात् उस आत्मा का प्रेमपात्र वही मनुष्य हो सकता है जिसको वह आत्मा अनन्यभावसे स्वीकार करता है। उसी के लिये आत्मा अपने स्वरूप और रहस्य को प्रकाशित कर देता है। अब यह प्रश्न रह जाता है कि आत्मा किस को स्वीकार करता है ? इस का उत्तर यद्यपि स्पष्टरूप से श्रुति में नहीं है,तथापि गुप्तरीति से इन शब्दों के कि "जिस को यह स्वीकार करती है" अभ्यन्तर वर्त्तमान है। आत्मा उसी को स्वीकार करता है कि जिस के हृदय में उस का सच्चा प्रेम है। जिस प्रकार एक सेवक जो चतुर और बुद्धिमान् तो हो, परन्तु वह अपने स्वामी का हितचिन्तक न हो और न उस की आज्ञा और रुचि पर ध्यान देता हो तो क्या ऐसा सेवक अपने स्वामी या अध्यक्ष का प्रीतिपात्र हो सकता है ? कदापि नहीं। किन्तु जो सेवक अपने स्वामी का सच्चा भक्त है और उसकी आज्ञापालन में तन मन से उद्यत है, वह चाहे इतना योग्य और चतुर न भी हो तो भी अपने स्वामी का सच्चा प्रेमपात्र होता है। इसी प्रकार मनुष्य केवल अपनी चतुरता से उस अपने सच्चे स्वामी को प्रसन्न नहीं करसकता जब तक कि उस के हृदय में सच्चा प्रेम उसका न हो॥ बस जिस के हृदय में सच्चा प्रेम है, उसी को आत्मा अपनी सेवा के लिये स्वीकार करता है और उस के हाथ में अपने ऐश्वर्य भण्डार की कुञ्जी सौंप देता है ॥ ३ ॥

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (बलहीनेन)

आत्मिक बलहीन से (न, लभ्यः) नहीं प्राप्त होने योग्य है (च) और (प्रमादात्) विषयसङ्गजनित प्रमाद से (वा) तथा (अलिङ्गात्, तपसः, अपि) वैराग्य रहित ज्ञान से भी (न, लभ्यः) नहीं प्राप्त होता (एतैः, उपायैः) आत्मिक बल, चित्त के समाधान और वैराग्यसहित, ज्ञान, इन उपायों से (यः, विद्वान्) जो विवेकी पुरुष (यतते) प्रवृत्त होता है (तस्य) उसका (एषः, आत्मा) यह आत्मा (ब्रह्मधाम) ब्रह्म के सब से बड़े उच्च पद को (विशते) प्रवेश करताहै॥४॥

भावार्थ–फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं–जो पुरुष आत्मिक बलसे हीनहैं अर्थात् जिनको अपनी आत्मा का भरोसा नहीं है किन्तु देहादि भौतिक विकारों को ही आत्मा समझकर उनकी वृद्धि में अपनी उन्नति और उन के क्षय में अपना नाश समझते हैं, ऐसे निर्बलात्मा उस ब्रह्म की प्राप्ति के अधिकारी नहीं हो सक्ते। एवं जो लौकिक स्त्री, पुत्र और धन आदि के मोह में प्रमत्त होरहे हैं और उन्हीं को अपने सुख का अधिष्ठान मान रहे हैं, ऐसे प्रमादी पुरुष भी उस आनन्दायतन ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकते। तथा जो संन्यासरूप लिङ्ग से रहित होकर तपस्वी या विज्ञानी होने का दम भरते हैं, वे भी उस ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकते। लिङ्ग शब्द से यहां पर बाह्यलिङ्ग विवक्षित नहीं है। यदि ऐसा होता तो जनक और याज्ञवल्क्यादि गृहस्थ आत्मलाभ न करसकते। इसलिये केवल त्याग ही संन्यास का आभ्यन्तर लिङ्ग है, उससे रहित होकर जो ज्ञानी या तपस्वी बने फिरते हैं, वे न तो संन्यासी हैं और न ब्रह्मप्राप्ति के अधिकारी ही हो सकते हैं। तो फिर ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर श्लोक के उत्तरार्द्ध में आचार्य देते हैं–जो विद्वान् आत्मिक बल,

चित्त की समाधि और त्यागयुक्त विज्ञान इन तीन उपायों से आत्मलाभ के लिये यत्न करता है, उस का आत्मा उस सब से बड़े ब्रह्म के धाम में निश्शङ्क प्रवेश करता है ॥ ४ ॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥ ५८ ॥

पदार्थः-(एनम्) इस आत्मा को (ऋषयः) तत्त्वदर्शी लोग (संप्राप्य) सम्यक् प्राप्त होकर (ज्ञानतृप्ताः) इस आत्मा के ही ज्ञान से तृप्त (कृतात्मानः) आत्मा के साक्षात्कार करने वाले (वीतरागाः) रागादि दोषों से रहित (प्रशान्ताः) शान्त चित्त और उपरतेन्द्रिय होजाते हैं (ते धीराः) वे धीर (युक्तात्मानः) समाहितचित्त होकर (सर्वगम्) सर्वव्यापक को (सर्वतः) सब ओर से (प्राप्य) प्राप्त होकर (सर्वम्, एव) सब को ही (आविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-ब्रह्म के पद में कैसे प्रवेश करते हैं ? अब इसका वर्णन करते हैं-ज्ञानदृष्टि से आत्मा का दर्शन करने वाले ऋषि लोग आत्मा को सम्यक् प्राप्त होकर उसके वास्तविक ज्ञान से ही तृप्त होते हैं, न कि शरीर आदि के बढ़ने वा पुष्ट होने से उस आत्यन्तिकी तृप्ति से अपने को कृतार्थ मानते हुवे रागादि दोषों से रहित होकर शान्तचित्त होजाते हैं अर्थात् संसार के शब्द, स्पर्शादि विषय फिर उन के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। वे प्राकृत जगत् में रहते हुवे भी आत्मा ही से क्रीड़ा करते और उसी से आनन्द पाते हैं। आत्मा के बिना उनकी दृष्टि में इस जगत् की वही अवस्था है जो हम सांसारिक लोगों की दृष्टि में बिना जीवात्मा के शरीर की होती है। ऐसे धीर और समाहितचित्त पुरुष उस सर्वव्यापक

ब्रह्म को सब ओर से प्राप्त होकर सब में ही प्रवेश करते हैं अर्थात् देहादि के बन्धन से मुक्त होकर अव्याहतगति हो सर्वत्र विचरते हैं ॥ ५ ॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगा-
द्यतयः शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्त-
काले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥ ५६ ॥

पदार्थः-जो (वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः) वेदान्तके विज्ञान से सुनिश्चितार्थ (सन्यासयोगात्, यतयः) वैराग्य के योग से परमार्थ के लिये यत्नशील (शुद्धसत्वाः) निर्मलान्तःकरण होगये हैं (ते, सर्वे) वे सब (परान्तकाले) देहावसान समय में (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक में (साधकों के अनेक होने से बहुवचन का प्रयोग किया गया है) (परामृताः) अमृत-जीवन होकर (परिमुच्यन्ति) संसार से छूट जाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—आत्मविद् पुरुष जिस गति को प्राप्त होते हैं अब उस का वर्णन करते हैं । वेदान्त के विज्ञान अर्थात् ब्रह्म-विद्या के विचार से जिन्होंने आत्मतत्त्व का निश्चय कर लिया है अर्थात् यह जान लिया है कि संसार में केवल आत्मा ही एक सार वस्तु है, उसके अतिरिक्त और सब असार । ऐसा निश्चय करके जो उसकी ही प्राप्ति के लिये वास्तविक संन्यास (आभ्यन्तर त्याग) को धारण करके निरन्तर आत्मा के ही श्रवण, मनन और दर्शन में यत्नशील हैं, तथा विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति से जिनका हृदय स्वच्छ और अन्तःकरण निर्मल हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष परान्त काल में अर्थात् देहावसान के समय ब्रह्मधाम को प्राप्त होकर अमृतत्व का सेवन करते हुवे समस्त सांसारिक बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

गताःकलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परे ऽव्यये सर्वएकीभवन्ति ॥ ७ ॥ ६० ॥

पदार्थः-(पञ्चदश कलाः) प्राणादि पन्द्रह कलायें (प्रतिष्ठाः, गताः) अपने कारण में लीन हो जाती हैं (च) और (सर्वे. देवाः) सब चक्षुरादि देव (प्रतिदेवतासु) अपने कारणरूप अग्नि आदि प्रतिदेवताओं में लीन हो जाते हैं (कर्माणि) मुमुक्षु के किये हुवे निष्काम कर्म (विज्ञानमयः, च, आत्मा) और चेतन जीवात्मा (परे, अव्यये) उस परम सूक्ष्म अव्यय पुरुष में (सर्वे) सब (एकीभवन्ति) एक हो जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः-ब्रह्म की प्राप्ति होने पर जीवात्मा का जो परिणाम होता है अब उसको दिखलाते हैं-उस उस सबसे सूक्ष्म अव्यय पुरुष के प्रत्यक्ष होने पर देहादि की प्रवर्त्तक प्राणादि १५ कलाएँ (जिनका सविस्तर वर्णन प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में किया गया है) अपने २ कारण में लीन हो जाती हैं जिससे पुनः कार्यरूप शरीर की उत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाती हैं इसी प्रकारचक्षुरादि इन्द्रिय भी अपने २ कारण अग्नि आदि भूतों में लीन हो जाते हैं जिससे फिर इन्द्रियों के गोलक नहीं बन सकें। यद्यपि मुक्तात्मा के भौतिक शरीर और इन्द्रिय अपने कारण में लीन हो जाने से कार्यरूप में नहीं रहते, तथापि इन की सूक्ष्म शक्ति जिससे अभिमत अर्थों का ग्रहण होता है, उस में सदा विद्यमान रहती है। प्राण और इन्द्रियों के अभाव में कर्म भी नहीं रहते क्योंकि कर्म शरीर और इन्द्रियों से ही किये जाते हैं, कर्म के अभावमें जीवात्मा की कर्तृ संज्ञा नहीं बन सकी, अतएव उस ब्रह्म के साक्षात् होने पर यह सब कार्य कारण और कर्त्ता एक ही हो जाते हैं, अर्थात् अकेला

जीवात्मा ही कार्य करण और कर्तृ भावों से पृथक् हुआ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है ॥ ७ ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥६१॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (नद्यः) नदियें (स्यन्दमानाः) बहती हुई (समुद्रे) समुद्रमें [नामरूपे] नाम और रूप को [विहाय] छोड़ कर [अस्तं, गच्छन्ति] अस्त को प्राप्त होती हैं [तथा] ऐसे ही [विद्वान्] आत्मविद् [नामरूपात्] नाम और रूप से [विमुक्तः] पृथक् हुवा [परात्परम्] सूक्ष्म से भी सूक्ष्म [दिव्यम्] अलौकिक [पुरुषम्] पुरुष को [उपैति] प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—फिर उसी विषय को कहते हैं—जैसे नदियां बहती हुई जबतक समुद्र में जाकर नहीं मिलतीं तबतक अपने अपने नाम रूप को पृथक् २ धारण करती हैं परन्तु जब वे अपने स्वामी समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, तब न उन का पृथक् कोई नाम रहता है, न रूप, तब केवल समुद्र ही कहलाता है । इसी प्रकार जबतक हम लोग उस अगाध और अपरिमित आत्मासे नहीं मिलते, अर्थात् उस पवित्र सम्बन्धको जो हमारा आत्मा के साथ है, नहीं समझते, तबतक हम अनेक नामरूपों में अपने को विभक्त और आबद्ध पाते हैं जिस समय हम इस तत्त्व को जान लेते हैं कि हमारा लक्ष्य व केन्द्र वही आत्मा है और उसीको पाकर हमारी सब कामनायें और हमारा जीवन पूर्ण होता है, उस समय हमारे और आत्मा के बीच में जो प्रकृति का आवरण है (जिसके कारण हम

देहादि को ही आत्मा समझकर शोक मोहादि के आवर्त्त में पड़े हुवे हैं) छिन्न भिन्न हो जाता है और केवल आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है ॥ ८ ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥ ॥ ६२ ॥

पदार्थः-(ह, वै) प्रसिद्ध (सः, यः) वह जो (तत्, परमं, ब्रह्म) उस परब्रह्म को (वेद) जानता है (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही (भवति) होता है (अस्य) इसके (कुले) वंश में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला (न, भवति) नहीं होता (शोकम्) शोक को (तरति) तरता है (पाप्मानम्) पाप को (तरति) तरता है (गुहाग्रन्थिभ्यः) बुद्धि की गांठों से (विमुक्तः) मुक्त हुवा (अमृतः) मरणधर्म से रहित (भवति) हो जाता है ॥९॥

भावार्थः—फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं-जो पुरुष उस ब्रह्म को जान लेता है, वह यहां तक तन्मय होजाता है कि उसे अपने अस्तित्व और कर्त्तृत्व आदि का लेशमात्र भी अभिमान नहीं रहता । इस से कोई महाशय जीव ब्रह्म में अभेद की कल्पना न कर बैठें क्योंकि यदि इन में वास्तविक अभेद होता तो जीवात्मा को ब्रह्म के जानने की आवश्यकता ही न होती क्योंकि जब आप ही ब्रह्म है या ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं तो फिर—"कः केन कं विजानीयात्" कौन किस से किस को जाने ? जानना तभी बनता है, जब ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न २ पदार्थ हों । अतएव यहां ब्रह्म ही हो जाने से तात्पर्य यह है कि सिवाय ज्ञेय ब्रह्म के ज्ञाता अपने को भी

भूल जाता है और इसी दशा का नाम योग की परिभाषा में असंप्रज्ञात समाधि है। जब साधक को यह समाधि सिद्ध हो जाती है, तब वह केवल ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मपर हो जाता है। इस प्रकार जब मुमुक्षु ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब उसके कुल [सम्प्रदाय] में भी कोई अब्रह्मवित् नहीं रहता अर्थात् उस के प्रवचन से तो क्या दर्शन और स्मरण से भी लोगों के हृदय में ब्रह्मभाव का उदय होजाता है! ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष शोक को जो इष्टविकल्प और इच्छा के विघात से उत्पन्न होता है तथा पाप को भी जो कर्त्तव्य के अनाचरण से उत्पन्न होता है, केवल ज्ञानाधिगम्य एक इष्ट का आश्रय लेने से तर जाता है क्योंकि जब उस में कोई इच्छा ही नहीं रहती तो फिर उस के विघात की आशङ्का कैसी? और न उस के लिये कोई अकर्त्तव्य ही शेष रहता है क्योंकि वह विधि निषेध के मार्ग को पहिले ही अतिक्रमण कर चुका है। उस के लिये कोई देश, काल या समाज का बन्धन शेष नहीं रहता क्योंकि उस का किसी देश विशेष या काल विशेष या समाजविशेष से सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु उसके लिये प्रत्येकदेश और प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज उस के इष्टदेव का ही आराधनालय है। अतएव वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर सर्वतोभाव से ब्रह्मपर होकर अमृत हो जाता है ॥ ९ ॥

तदेतदृचाभ्युक्तं, क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० ॥ (६३)

पदार्थः-(तद्, एतद्) वह यह पराविद्या के दान का माहात्म्य (ऋचा) वक्ष्यमाण वेद के मन्त्र ने (अभि, उक्तम्) वर्णन किया है- (क्रियावन्तः) विहितकर्म के अनुष्ठान से युक्त (श्रोत्रियाः) अपराविद्या में कुशल (ब्रह्मनिष्ठाः) पराविद्या की जिज्ञासा रखने वाले (श्रद्दधन्तः) श्रद्धा को धारण किये हुवे (स्वयम्) आप (एकर्षिम्) एक ब्रह्मको (जुह्वते) ग्रहण करतेहैं (यैः, तु) और जिन्होंने [शिरोव्रतम्]ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिरूप मुख्यव्रत को [विधिवत्] शास्त्र की आज्ञापूर्वक [चीर्णम्] धारण किया है, [तेषाम्, एव] उन्हीं के लिये [एताम्, ब्रह्मविद्याम्] इस ब्रह्मविद्या को [वदेत्] कहे ॥ १० ॥

भावार्थः-अब उस पराविद्या के [जिसका इस उपनिषद् में सविशेष वर्णन किया गया है] अधिकारी कौन हो सकते हैं, इसको दिखलाते हुये आचार्य इस खण्ड की समाप्ति करते हैं। वेदोक्त कर्मों के विधिवत् अनुष्ठान से जिन्होंने अपराविद्या में कुशलता प्राप्त की है और ब्रह्म की जिज्ञासा से जो पराविद्या को प्राप्त होना चाहते हैं तथा श्रद्धापूर्वक जो एक ब्रह्म की उपासना में तत्पर हैं, एवं ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुख्य व्रत को जिन्होंने धारण किया हुवा है अर्थात् सिवाय ब्रह्म के और कोई लक्ष्य वा उद्देश जिनका नहीं है, ऐसे पुरुष ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं, उन्हीं के प्रति इस विद्या का उपदेश फलप्रद हो सकता है ॥ १० ॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥ ६४ ॥

पदार्थः- [तद्, एतद्] उस इस [सत्यम्] अक्षर पुरुष को [पुरा] पहिले [अङ्गिराः, ऋषिः] अङ्गिरा ऋषिने (उवाच)

कहा [एतत्] इस ब्रह्म को [अचीर्णव्रतः) व्रत के आचरण से रहित पुरुष [न, अधीते] नहीं जानता [परमऋषिभ्यः] ब्रह्म विद्या संप्रदाय के प्रवर्त्तक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के लिये [नमः] हमारा प्रणाम [सत्कार] हो। द्विर्वचन आदरातिशय और ग्रन्थ की समाप्ति सूचनार्थ है ॥ ११ ॥

भावार्थः—ग्रन्थ के आरम्भ में जो शिष्य ने प्रश्न किया था कि वह क्या वस्तु है जिसके जानने पर सब कुछ जाना जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में ही अङ्गिरा ऋषि ने शौनक के प्रति इस मुण्डकोपनिषद् का उपदेश किया है, जिस में साक्षात् वा परम्परा रूपसे उस अविनाशी पुरुषका व्याख्यान कियागया है, जिस के जान लेने पर वास्तव में कुछ जानने को अवशिष्ट नहीं रहता क्योंकि कारण के जान लेने से कार्य का ज्ञान स्वयमेव होजाता है। अन्य भी अङ्गिरा जैसे प्रवक्ता शौनक जैसे अध्येता इस ब्रह्मविद्या के कहने और सुनने के अधिकारी हो सकते हैं, परन्तु वे लोग जो यम नियम रूप व्रताचरण से सम्पन्न नहीं हैं, कदापि इस के अधिकारी नहीं हो सकते। अन्त में उपनिषत्कार मुण्डक ऋषि कृतज्ञता प्रकाश करने के लिये ब्रह्मविद्या रूप सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक महर्षियों को नमस्कार करते हैं। द्विर्वचन वीप्सा और ग्रन्थसमाप्ति के द्योतनार्थ है ॥ ११ ॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्ता चेयमुपनिषद्

—:o:—

अथ माण्डूक्योपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्या-
ख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार
एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार
एव ॥ १ ॥

पदार्थः-[इदं, सर्वम्] यह सब [ओम्, इति, एतद्, अक्षरम्] ओम् यह अक्षर है [तस्य] उस ओम् का [उपव्याख्यानम्] विस्पष्ट विस्तार है [भूतम्] अतीतकाल [भवत्] वर्त्तमान काल [भविष्यत्] आगामी काल [इति] यह [सर्वम] सब [ओङ्कारः, एव] ओङ्कार ही है । [यत्, च] और जो [अन्यत्] इस के अतिरिक्त [त्रिकालातीतम्] तीन काल से बीता हुआ है [तद्, अपि] वह भी [ओङ्कारः, एव] ओङ्कार ही है ॥ १ ॥

भावार्थः-जैसे बीज वृक्ष का सार है और उस में सूक्ष्म रूप से सारा वृक्ष विद्यमान रहता है, ऐसे ही यह ब्रह्माण्ड जो कि उस पूर्ण पुरुष से उत्पन्न हुआ है. जिस का अभिधान ओ३म् यह अक्षर है, इस ओ३म् अक्षर का ही विस्तार है, अभिधान और अभिधेय की एकता को लक्ष्य में रख कर यह कहा गया है । भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् इन तीन कालों के अन्तर्गत जो कार्यरूप जगत् है, वह सब, और इन तीन कालों के अतिरिक्त अव्याकृत रूप से जो कारणात्मक जगत् है, वह भी सब ओङ्कार ही है । यद्यपि इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति है, इस लिये इस जगत् को उसी का विस्तार कहना चाहिये था, तथापि इस जगत् के निर्माण में प्रकृति अस्वतन्त्र होने स

पुरुष के आधीन है, इस लिये पुरुष में ही अभिधान रूपसे कार्यकारणात्मक जगत् का बीजत्वेन निर्देश किया गया है। "यह सब ओङ्कार ही है" यहां पर तात्स्थ्योपाधि से यह ओं-ङ्कार में ही है या ओंङ्कार से ही है, समझना चाहिये ॥ १ ॥

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽय-
मात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

पदार्थः-[हि] निश्चय [एतत्, सर्वम्] यह सब [ब्रह्म) ब्रह्म है [अयम्] यह [आत्मा] सब में व्यापक [ब्रह्म] सब से बड़ा है [सः] वह [अयम्, आत्मा] वह आत्मा [चतु-ष्पात्] चार पाद वाला है ॥ २ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोक में ओ३म् शब्द से जिसका अभिधान किया गया है, इस श्लोकमें उस अभिधेय ब्रह्मका विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं:—यद्यपि वह विभु होनेसे मानवर्जित है, तथापि समस्त मेय वस्तुओं में व्यापक होने से अथवा हम लोगों को (जिनका ज्ञान परिमित है और जो बिना सीमा वा इयत्ता के किसी वस्तु का अवधारण नहीं कर सकते) समझाने के लिये यहां पर वा अन्यत्र पुरुषसूक्तादि में उस के मान की कल्पना कीगई है, वस्तुतः वह अपरिमेय है। यह आत्मा जो सब में व्यापक है [चतुष्पात्] चार पाद वाला है। गौ के समान चार पैर वाला नहीं, किन्तु जैसे एक सेर में १६ छटांक होती हैं, ऐसे ही ब्रह्म में ४ पाद हैं. "यैः पद्यते ब्रह्म वा यान् ब्रह्मणोऽङ्गीभूतान् पद्यन्ते ज्ञातास्ते पादाः" जिन से ब्रह्म प्राप्त होता है वा जो ब्रह्म के अङ्ग होने से प्राप्त होने योग्य हैं वे पाद कहलाते हैं। करण और कर्म दोनों का वाचक पाद शब्द है। अब वे चार पाद कौन से हैं, उनका विवरण क्रमशः आगे होगा ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

पदार्थः—[जागरितस्थानः] जाग्रत् अवस्था है स्थान जिस का [बहिः प्रज्ञः] बाह्य विषयों में बुद्धि रखने वाला [सप्तांगः] सात अंग वाला [एकोनविंशतिमुखः] उन्नीस मुख वाला [स्थूलभुक्] स्थूलभोजी [वैश्वानरः] सम्पूर्ण मनुष्यों का नेता वह्वा विश्वरूप विभववती व्यक्ति [प्रथमः, पादः पहिला पाद है ॥ ३ ॥

भावार्थ—पहिले पाद का विवरण करते हैं—जाग्रत् अवस्था, जिस में देखना, सुनना, खाना, जाना इत्यादि समस्त व्यवहार साक्षाद् रूप से होते हैं, उस ओश्म् के अभिधेय ब्रह्म का पहिला पाद है। जो कि जाग्रदवस्था में प्राणियों की बुद्धिवृत्ति बाह्य विषयों में लगी हुई होती है, इसलिये दूसरा विशेषण इस पाद का [बहिःप्रज्ञः] दिया गया है। तीसरा विशेषण सप्तांङ्ग है, सो जाग्रत् में अंगों का सुव्यक्त होना प्रकट ही है। वे सात अंग कौन से हैं:—पहिला द्युलोक, जो उसका मूर्द्धास्थानी है। दूसरा—सूर्य्यलोक, जो चक्षुः स्थानी है। तीसरा-वायुलोक, जो प्राणस्थानी है। चौथा आकाश-जो उदर-स्थानी है। पांचवां-अन्न और उस का हेतु जल जो वस्तिस्थानी है। छटा पृथिवीलोक—जो पादस्थानी है। सातवां-अग्नि जो उसका मुखस्थानी है। ये सात अंग हैं, जिन से वह चेष्टा करता है। चौथा—विशेषण [एकोनविंशतिमुखः] है। वे १९ मुख ये हैं:—५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय ५ प्राण ४ अन्तःकरण। यह प्रकट है कि जाग्रदवस्था में सारे व्यवहार इन्हीं के द्वारा किये जाते हैं। पांचवां विशेषण [स्थूलभुक्] है, जिस का आशय यह है कि जाग्रत् में शब्दादि स्थूल विषयों का भोजन

करता है, बस इस जाग्रदवस्था में जो विश्व की विग्रहवती व्यक्ति है, जिस का साक्षाद् अनुभव किया जाता है, वह उस ब्रह्म का पहिला पाद है और इसीलिये इसका नाम "वैश्वानर" है

विदित हो कि यह ब्रह्म के निज स्वरूप का मान या विभाग नहीं है, क्योंकि वह तो विभु और अनन्त होने से अपरिमेय और अचिन्तनीय है, किन्तु उसके शबल स्वरूप का जो विश्व में अध्यारोपित हो रहा है और जिसको वेदादि में विराट् या ब्रह्माण्ड के नाम से वर्णन किया गया है उस के महत्त्व और वैभव को दिखलाने के लिये मान या विभाग किया गया है ॥३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

पदार्थः—[स्वप्नस्थानः] स्वप्नावस्था है स्थान जिस का [अन्तःप्रज्ञः] भीतर की ओर बुद्धि रखने वाला [सप्ताङ्गः] सात अङ्ग वाला एकोनविंशतिमुखः] उन्नीस मुख वाला [प्रवि-विक्तभुक्] वासनामात्र का भोजी [तैजसः] विषय शून्य बुद्धि में केवल प्रकाशरूप से अवभासित [द्वितीयःपादः] दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

भावार्थः—दूसरे पाद का विवरण करते हैं:—स्वप्नावस्था जिस में मन बाह्य पदार्थों से हटकर अन्तर्मुख हो जाता है, इस का दूसरा पाद है। इस अवस्था में मन बाह्यविषयों और इन्द्रियों के संयोग की अपेक्षा न करके जाग्रदनुभूत व्यवहारों के संस्कारों से चित्रित हुआ अपने भीतर ही सब कुछ देखता सुनता और अनुभव करता है, इसलिये [अन्तःप्रज्ञः] विशेषण दिया गया है। सात अंगों और उन्नीस मुखों से जिनका वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया है, यद्यपि इस अवस्थामें जाग्रत् के समान बाह्य चेष्टा नहीं होती तथापि मन अपने भीतर ही

इन करणाधिकरणों से काम लेता है इसलिये इस पाद में भी ये दोनों विशेषण सुरक्षित रक्खे गये हैं। चौथा विशेषण [प्रविविक्तभुक्] है। यतः इस अवस्था में जाग्रत् के समान स्थूल शब्दादि विषयों का मूर्त्त इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता; किन्तु मन की कामना से उनको ग्रहण किया जाता है, अतः प्रविविक्तभुक्=एकान्तभोजी कहागया। इस पाद का नाम "तैजस" इसलिये है कि इस में बुद्धि विषय के आवरण से शून्य होती है, संस्कारों का प्रतिविम्ब पड़ने से केवल एक आभास मात्र उस में होता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

पदार्थः—[यत्र] जब [सुप्तः] सोया हुआ [कं-चन, कामम्] किसी अभिलाष को [न, कामयते] नहीं चाहता [कं-चन, स्वप्नम्] किसी स्वप्न को [न, पश्यति] नहीं देखता [तत्, सुषुप्तम्] वह सुषुप्त है। [सुषुप्तस्थानः] सुषुप्ति है स्थान जिसका [एकीभूतः] कारणभावापन्न [प्रज्ञानघनः एव] बुद्धि जिस में जड़ हो जाती है ऐसा [आनन्दमयः] आनन्द जैसा [हि] निश्चय [आनन्दभुक्] आनन्दभोजी [चेतोमुखः] चेतनता का द्वार [प्राज्ञः] भूत भविष्यद् का जानने वाला [तृतीयः, पादः] तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

भावार्थः—अब तीसरे पाद का विवरण करते हैं:-जिस दशा में मनुष्य न किसी अर्थ को चाहता और न किसी स्वप्न को देखता है अर्थात् उस की बाह्य और आन्तरिक दोनों

प्रकार की चेष्टायें निरुद्ध होजाती हैं, उस को सुषुप्ति कहते हैं और यही उस शबल ब्रह्म का तीसरा पाद है, इसमें जो कि बाह्य और आभ्यन्तर ये दोनों वृत्तियां एक होकर आत्मा में लीन हो जातीहैं, इसलिये पहिला विशेषण [एकीभूतः] दिया गया है, तथा रात्रि में जैसे सब कुछ अन्धकाराच्छन्न होने से घन के समान प्रतीत होता है, ऐसे ही इस अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न के समस्त व्यवहार निद्रा के अंधकार से घनीभूत जैसे हो जाते हैं अर्थात् उन में से किसी विशेष का अवधारण और विशेष का निराकरण नहीं कर सकता, इसलिये दूसरा विशेषण [प्रज्ञानघन एव] दिया गया है। एवं सुषुप्ति में मानसिक होने से तीसरा विशेषण [आनन्दमयः] दिया गया है, जो कि यह आनन्द क्षणिक होता है, इसीलिये "आनन्द-मयः] कहा गया है, न कि आनन्दरूप । यहां प्राचुर्यार्थ में "मयट्" है, न कि विकारार्थ में। जो कि इस अवस्था में इस अनायासरूप स्थितिका प्राणी से अनुभव किया जाता है इस लिये चौथा विशेषण "आनन्दभुक्" है। चेतना के प्रवर्त्तक जाग्रत् और स्वप्न का कारण सुषुप्ति है, अतएव पांचवां विशेषण [चेतोमुखः] दिया गया है। छठा विशेषण "प्राज्ञ" है और यही इस तीसरे पाद का नाम है। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि जब सुषुप्तिमें प्राणी सर्वथा बोधशून्य होजाता है, तब इस अवस्था का नाम प्राज्ञ क्यों रक्खा गया ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि उस अवस्था में थोड़ी देर के लिये ज्ञान का अवरोध हो जाता है, तथापि जाग्रत् या स्वप्न में जो ज्ञान के संस्कार हैं, वे इसी के क्रोड़ में पुष्टि पाते हुए यथासमय उद्बोधित होते हैं ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः

सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—[एषः] यह ओ३म् [सर्वेश्वरः] सबका ईशिता है [एषः] यह [सर्वज्ञः] सब का ज्ञाता है [एषः] यह [अन्तर्यामी] सब के भीतर प्रविष्ट होकर उनका नियन्ता है [एषः] यह [सर्वस्य] सब का [हि] जिसलिये [भूतानाम्] भूतों के [प्रभवाप्ययौ] उत्पत्ति और नाश जिस से होते हैं, इस लिये [योनिः] कारण है ॥ ६ ॥

भावार्थः—यह महान् पुरुष जो ओ३म् का अभिधेय है, अनन्य भाव से सम्पूर्ण जगत् का (जो उक्त तीनों अवस्थाओं में विभक्त है) अधिष्ठाता है। विना ज्ञान के अधिष्ठातृत्व हो नहीं सकता, अतएव दूसरा विशेषण "सर्वज्ञ" दिया गया है अर्थात् वह सब को सब दशा में जानता है, उस का ज्ञान देश काल और वस्तु के व्यवधान से रहित है। ज्ञान विना उपलब्धि के नहीं होसकता, इसलिये तीसरा विशेषण "अन्तर्यामी" रक्खा गया है अर्थात् वह वस्तु मात्र के भीतर अनुप्रविष्ट हुवा उन का नियम न कररहा है। बस यही पुरुष जो सब का ईशिता, ज्ञाता और नियन्ता है, उस सब का (जिस का ईशन, ज्ञान और नियमन कररहा है) उत्पत्ति और नाश का हेतु है। अन्यत्र भी उपनिषद् कहती है:—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व'—जिस से यह सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और जिस से उत्पन्न हुए जीते हैं और जिस में नष्ट होकर प्रवेश करते हैं, उस ब्रह्म को जानने की इच्छा कर ॥ ६ ॥

नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्रा-

ह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

पदार्थः—[न, अन्तःप्रज्ञम्] भीतर की ओर बुद्धि वाला नहीं है [न, बहिःप्रज्ञम्] न बाहर की ओर बुद्धिवाला है [न, उभयतः प्रज्ञम्) न भीतर और बाहर दोनों ओर बुद्धि वाला है [न, प्रज्ञानघनम्) न घनीभूत बुद्धि वाला है [न प्रज्ञम्] न बुद्धि वाला है (न अप्रज्ञम्] और न बुद्धिहीन है [अदृष्टम्] अदृश्य [अव्यवहार्यम्] अशब्द [अग्राह्यम्] अग्राह्य [अलक्षणम्] अलिङ्ग [अचिन्त्यम्] अचिन्तनीय [अव्यपदेश्यम्] अकथनीय [एकात्मप्रत्ययसारम्] एक आत्मप्रत्यय ही है सार जिस का [प्रपञ्चोपशमम्] जाग्रदादि प्रपञ्च जहां शान्त हो जाते हैं [शान्तम्] अविकृत [शिवम्] आनन्दमय [अद्वैतम्] भेद विकल्परहित [चतुर्थम्] तुरीय=चौथा पाद [मन्यन्ते] मानते हैं [सः] वह [आत्मा] आत्मा है [सः] वह [विज्ञेयः] जानने योग्य है ॥ ७ ॥

भावार्थः—अब चौथे पाद का विवरण करते हैं। प्रथम तीन पादों में ब्रह्म के शबल स्वरूप का जो औपचारिक है, वर्णन है अब इस चौथे पाद में उस के निज स्वरूप का जो वास्तविक है, वर्णन किया जाता है। जाग्रत् अवस्था में बुद्धि के बहिर्मुख होने से "बहिःप्रज्ञ" स्वप्नावस्था में बुद्धि के अन्तर्मुख होने से 'अन्तःप्रज्ञ' और सुषुप्तावस्था में उस के घनीभूत होने से 'प्रज्ञानघन' विशेषण दिये गये थे जो कि केवल ब्रह्म इन तीनों अवस्थाओं से अतीत है, इसलिये उस में बहिःप्रज्ञत्व, अन्तःप्रज्ञत्व

और प्रज्ञानघनत्व ये तीनों धर्म नहीं रह सकते, क्योंकि जब बुद्धि बाहर है तो भीतर नहीं और भीतर है तो बाहर नहीं पर ब्रह्म विभु होने से सर्वत्र है इसलिये उस में उभयतःप्रज्ञत्व भी नहीं बन सकता और न उस की ज्ञानशक्ति कभी अवरुद्ध होती है, इसलिए प्रज्ञानघन' भी उस को नहीं कह सकते। करणानपेक्ष होने से उस को प्रज्ञ भी नहीं कह सकते, अर्थात् ज्ञान बिना अन्तःकरण और बहिष्करणों के नहीं हो सकता और ब्रह्म करणों के बन्धन से पृथक् है 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' उस का न कोई कार्य है और न करण, अतएव उस में अस्मदादिकों के समान प्रज्ञत्व भी नहीं बन सकता और जो कि वह चेतनस्वरूप है, जीवों के समान कभी प्रकृति के बन्धन में लिप्त नहीं होता, अतएव उस में अप्रज्ञत्व=अज्ञान का भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। करणवर्जित और ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही वह अदृष्ट है क्योंकि संसारमें करण और अचेतनता के योग से ही दृष्टिगोचरता उत्पन्न होती है। अदृष्ट होने से ही अव्यवहार्य है, क्योंकि दृश्य पदार्थ ही व्यवहार में लाया जाता है, न कि अदृश्य। जो वस्तु व्यवहार में लाई जाती है, उस का कर्मेन्द्रियों से ग्रहण होता है, जब ब्रह्म व्यवहार में ही नहीं लाया जा सकता तब उस का कर्मेन्द्रियों से ग्रहण असम्भव है और जब अग्राह्य है तो अलिङ्ग होना स्वतएव सिद्ध है। लिङ्ग शरीर होने से अचिन्त्य है, जब उस का कोई लक्षण ही नहीं तब उस का चिन्तन कैसा ? जो वस्तु चिन्तनमें आ सकती है, उस का शब्दों से व्यपदेश=कथन किया जाता है, जब अचिन्तनीय है तो फिर व्यपदेश कैसा ? जब वह वह अव्यपदेश्य है तो फिर उस के विषय में कोई क्या कह सकता है ? अर्थात् कहना सुनना कुछ नहीं बनता। यहां तक उस के शबल स्वरूप

का जो केवल औपचारिक है और जिस को अज्ञानी जन ब्रह्म का सत्य स्वरूप समझने लगते हैं, निषेध करके अब उस के शुद्ध केवल स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। वह क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उपनिषद् कहती है कि यह सारा प्रपञ्च जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में भासित होता है, जहां शांत हो जाता है, वह केवल आत्मप्रत्यय ही है प्रमाण जिसका, ऐसा अनुभवगम्य, आनन्दमय, विकार रहित, अद्वितीय चौथा पाद है, जिसको तुरीयावस्था भी कहते हैं और यही उस जानने योग्य आत्मा का शुद्ध स्वरूप है ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्राः मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

पदार्थः— (सः) वह (अयम्, आत्मा) यह आत्मा (अध्यक्षरम्) अक्षर में अधिष्ठित है, वह अक्षर (ओङ्कारः) ओङ्कार है वह ओङ्कार (अधिमात्रम्) मात्राओं में अधिष्ठित है। (पादाः) पाद (मात्राः) मात्रा हैं (च) और (मात्राः) मात्रायें (पादाः) पाद हैं [अकारः] अकार [उकारः] उकार [मकारः] मकार [इति] बस ॥ ८ ॥

भावार्थः—वह अभिधेय रूप आत्मा [जो चार पाद वाला है, जिन का वर्णन पूर्व कर चुके हैं] अक्षर रूप अभिधान में अधिष्ठित है। वह अक्षर क्या है? ओङ्कार। यह ओङ्कार जो ब्रह्म का अभिधान है, मात्राओं में अधिष्ठित है। मात्रा क्या हैं वही पाद जिन का वर्णन कर चुके हैं। पाद क्या हैं? ये ही मात्रायें जिन का निरूपण किया जायगा, इस से पाद और मात्राओंको समानाधिकरणता दिखलाई गई है। अर्थात् जैसे पाद मिल कर अभिधेय को सिद्ध करते हैं, ऐसे ही मात्रायें

मिलकर अभिधान को निष्पन्न करती हैं। वे मात्रायें तीन हैं अर्थात् अकार, उकार और मकार। अब यह प्रश्न होता है कि पाद चार बतलाये गये हैं और मात्रायें तीन, फिर इन की समानाधिकरणता क्योंकर सिद्ध हो सकती है? इस का उत्तर यह है कि चतुर्थ पाद जिस को तुरीय कहा गया है, अमात्र है, अतएव इनकी समानाधिकरणता में बाधा नहीं पड़ती॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरा-दिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भव ति य एवं वेद ॥ ९ ॥

पदार्थः—[जागरितस्थानः] जाग्रदवस्था है, स्थान जिस का [वैश्वानरः] वैश्वानरसंज्ञक [अकारः] अकार [प्रथमा, मात्रा] पहिली मात्रा है [तस्य] उस अकार की [आप्तेः] व्याप्ति होनेसे [वा] या [आदिमत्त्वात्] पहिला होने से [ह, वै] निश्चय [सर्वान् कामान्] सब कामों को [आप्नोति] पाता है [च] और [आदिः] प्रथम [भवति] होता है [यः] जो [एवम्] इसप्रकार [वेद] जानता है॥

भावार्थः—इस श्लोक में पहिले पाद और पहिली मात्रा की समानाधिकरणता दिखलाते हैं:—जागरितस्थान विश्व-संज्ञक जो पहिला पाद है, वही ओङ्कार की पहिली मात्रा अकार है। जैसे अकार सब से पहिला अक्षर है और सब वर्णों में व्याप्त है अर्थात् बिना इस के कोई वर्ण नहीं बोला जाता, ऐसे ही विश्वसंज्ञक पाद भी सब पादों से पहिला और सब पादों में व्यापक है अर्थात् स्वप्न और सुषुप्ति में भी जाग्रदवस्था का कुछ प्रभाव शेष रहता है, इस प्रकार जो बुद्धि मान् इस पहिले पाद और पहिली मात्रा के एकत्व को जानता

है, वह महात्माओं में अग्रणी होकर सम्पूर्ण शुभ कामनाओं को प्राप्त होता है ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादु-भयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥१०॥

पदार्थः–[स्वप्नस्थानः] स्वप्नस्थानवाला [तैजसः] तैजससंज्ञक (उकारः) उकार [द्वितीया मात्रा] दूसरी मात्रा है [तस्य] उस उकारके [उत्कर्षात्] उत्कृष्ट होनेसे [वा] या [उभयत्वात्] मध्यस्थ होने से [ह, वै] निश्चय [ज्ञानसन्ततिम्] विज्ञान के विस्तारको [उत्कर्षति] बढ़ाता है [च] और [समानः] तुल्य [भवति] होता है [अस्य, कुले] इस के कुल में [अब्रह्मवित्] ब्रह्म का न जानने वाला [न, भवति] नहीं होता [यः] जो [एवम्] इस प्रकार [वेद] जानता है ॥

भावार्थः—अब दूसरे पाद और दूसरी मात्रा की समानाधिकरणता दिखलाई जाती है। स्वप्नस्थान वाला तैजससंज्ञक जो दूसरा पाद है, वही ओंकार की दूसरी मात्रा उकार है। जैसे उकार, अकार की अपेक्षा उत्कृष्ट है अर्थात् उस से विशिष्ट है और अकार और मकार दोनों के बीच में है ऐसे ही तैजसपाद विश्वपाद की अपेक्षा सूक्ष्म होने से उत्कृष्ट है और विश्व और प्राज्ञ दोनों के मध्य में भी है, अतएव इस की समानाधिकरणता उकार से है। यद्यपि सब वर्णों में पहिला और व्याप्त होने से वास्तव में अकार उत्कृष्ट है, तथापि यहां पर पाठक्रम से उकार की उत्कृष्टता औपचारिक है। इस प्रकार जो सज्जन दूसरे पाद और दूसरी मात्रा की एकता को जानता है, वह उत्कर्ष के प्रताप से अपनी बुद्धि को बढ़ाता है

और मित्रपक्ष के समान शत्रुपक्ष का भी मित्र होता है और उस के कुल में कोई मूर्ख या नास्तिक नहीं होता ॥ १९ ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

पदार्थ—[सुषुप्तस्थानः] सुषुप्तिस्थान वाला [प्राज्ञः] प्राज्ञसंज्ञक [मकारः] मकार [तृतीया, मात्रा] तीसरी मात्रा है [तस्य] उस मकार के [मितेः] मान से [वा] या [अपीतेः] एकीभाव से [ह, वै] निश्चय [इदम्, सर्वम्] इस सब को [मिनोति] मान करता है [च] और [अपीतिः] आत्ममय [भवति] होता है [यः] जो [एवम्] इस प्रकार [वेद] जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—अब तीसरे पाद और तीसरी मात्रा की समानाधिकरणता दिखलाते हैं:—सुषुप्तस्थान वाला प्राज्ञ संज्ञक जो तीसरा पाद है, वही ओङ्कार की तीसरी मात्रा मकार है, जैसे अन्तिम मात्रा मकार में अकार उकार प्रविष्ट होकर निकलते हुवे से प्रतीत होते हैं अर्थात् मकार से उन का मान किया जाता है, तथा अन्त्य अक्षर मकार में ओकार उकार लीन होकर एकीभूत हो जाते हैं, ऐसे ही तृतीय पाद प्राज्ञ में विश्व और तैजस प्रविष्ट होकर निकलते हैं, अर्थात् सुषुप्तावस्था में जाग्रत् और स्वप्न का प्रवेश और निर्गम होता है, एवं ये दोनों अवस्थायें सुषुप्ति में लीन होकर एकीभूत होजाती हैं, -अतएव तीसरी मात्रा मकार की तीसरे पाद प्राज्ञ के साथ समानाधिकरणता सिद्ध है। इस प्रकार जो महात्मा इन दोनों की एकता को जानता है वह सारे जगत् का मान कर सकता है·

अर्थात् उस को यथार्थ रूप से जान सकता है और इस विज्ञान के प्रभाव से अविद्या के आवरण को [जिसने आत्म स्वरूप को ढक रक्खा है] हटाकर आत्ममय हो जाता है, अर्थात् केवल एक आत्मा को ही देखता है, अन्य किसी को नहीं ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

पदार्थः=[चतुर्थः] चौथा पाद [अमात्रः] मात्रारहित [अव्यवहार्यः] व्यवहार के अयोग्य [प्रपञ्चोपशमः] कल्पनातीत [शिवः] कल्याणरूप [अद्वैतः] भेदवर्जित है [एवम्] इसप्रकार [ओङ्कारः] ओंकार है [आत्मा, एव] आत्मा ही (आत्मना) आत्मा से [आत्मानम्] आत्मा में [संविशति] प्रवेश करता है [यः] जो [एवम्] इस प्रकार [वेद] जानता है। द्विर्वचन ग्रन्थ समाप्ति सूचक है ॥ १२ ॥

भावार्थः—यहां तक तीन पादों की समानाधिकरणता तीन मात्राओं के साथ दिखलाई गई अब चौथा पाद जो कि अमात्र, अव्यवहार्य, कल्पनातीत, आनन्दमय और भेदवर्जित है, इस लिये उस का कोई अभिधान नहीं हो सकता, किन्तु वही अभिधेय है अर्थात् अभिधानरूप ओङ्कार की ३ मात्रायें अभिधेयरूप आत्मा के तीन पादों की जो औपचारिक हैं, अभिधायक हैं, चौथा पाद जो वास्तव में आत्मा का शुद्धस्वरूप है और जिस की प्राप्ति के लिये ही इस उपनिषद् में अभिधान अभिधेय का सम्बन्ध निरूपण किया गया है, अमात्र और और अव्यवहार्य होने से साम्यातिशय विनिर्मुक्त है, जब वह

अद्वैत है तो फिर उस की समानाधिकरणता किस से हो सकती है। हां, जो मुमुक्षु इन तीनों मात्राओं की तीनों पादों से एकता करके इस चौथे पाद का चिन्तन और विवेचन करता है, वह उस आत्मतत्त्व के यथार्थज्ञान का अधिकारी अवश्य होता है, परन्तु उस पद की प्राप्ति तभी होती है, जब कि उस का आत्मा ही अपने स्वरूप से परमात्मा में प्रवेश करता है अर्थात् केवल वाचिकज्ञान या अभिधानमात्र से उस पद की प्राप्ति नहीं होती। हां, क्रमशः पादों और मात्राओं का ज्ञान ब्रह्मप्राप्ति के लिये एक प्रकार का आलम्बन हो सकता है, साक्षात् प्राप्ति तो जब आत्मा ही आत्मा में प्रवेश करता है, तब ही होती है। इस प्रकार जो जानता है, वही ब्रह्म की प्राप्ति का अधिकारी है॥

इति माण्डूक्योपनिषद्

इस उपनिषद् के आशय को व्यक्त करने के लिये श्री स्वामी गौड़पादाचार्य ने कुछ कारिकायें लिखी हैं, उन में से आगम प्रकरण को उपयोगी समझ कर सानुवाद हम उद्धृत करते हैं:—

अथ

गौड़पादीय कारिकायाम्

आगमप्रकरणम्

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधास्मृतः॥ १॥

विश्व बहिःप्रज्ञ, तैजस अन्तःप्रज्ञ और प्राज्ञ घनप्रज्ञ है। एक ही आत्मा तीन प्रकार का है।

दक्षिणाक्षि मुखे विश्वो मनस्यन्तश्च तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥ २॥

नेत्र और मुख में विश्व, मन में और भीतर तैजस, आकाश में और हृदय में प्राज्ञ रहता है, देह में तीन प्रकार से व्यवस्थित है ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ।३।

विश्व नित्यस्थूलभोजी, तैजस प्रविविक्तभोजी और प्राज्ञ आनन्दभोजी है, तीन प्रकार का भोग जानना चाहिये ॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥४ ॥

विश्व को स्थूल, तैजस को प्रविविक्त और प्राज्ञ को आनन्द तृप्त करता है, तीन प्रकार की तृप्ति समझनी चाहिये ॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्त्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

तीनों धाम (अवस्थाओं में जो भोज्य है और जो भोक्ता कहा गया है, इन दोनों को जो जानता है, वह भोग करता हुवा लिप्त नहीं होता ॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून् पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

विद्यमान सब भावों की उत्पत्ति होती है, अविद्यमानों की नहीं, यह निश्चय है। पुरुष (परमात्मा) भिन्न २ गुण, कर्म, स्वभाव वाले चेतन के किरण जिनमें पड़ते हैं, ऐसे सब भाव

और पदार्थों को प्राण के द्वारा उत्पन्न कराता है अर्थात् कारण से कार्य्य का बनाता है ॥

विभूतिं प्रसवन्त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

पूर्व श्लोक में गौड़पाद स्वामी अपना मत कहकर अब सृष्टि के विषय में अन्यों के मत दिखलाते हैं:—

कोई २ सृष्टि पर विचार करने वाले ईश्वर की विभूति (महिमा) को सृष्टिकर्त्री मानते हैं। कोई २ असत्वादी इस सृष्टि को स्वप्नमायास्वरूपा मानते हैं अर्थात् वास्तव में नहीं किन्तु कल्पित है ऐसा मानते हैं ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिता
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यंते कालचिंतकाः ।८।

कोई सृष्टि के विषय में यह निश्चय रखते हैं कि ईश्वर की इच्छा (सङ्कल्प) मात्र से यह सृष्टि उत्पन्न होती है, कोई कालचिन्तक (ज्योतिर्विद्) काल से ही भूतों की उत्पत्ति मानते हैं ॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

कोई जीवों के कर्मफल भोग के लिये सृष्टि को मानते हैं, कोई ऐसा मानते हैं कि ईश्वर सृष्टि को बनाकर आप ही उस में क्रीडा कर रहा है । कोई कहते हैं कि वह आप्तकाम है, उस को क्या इच्छा ? किन्तु उस का स्वभाव ही यह है कि वह सृष्टि को बनावे ॥

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीनों दुःखों की निवृत्ति का जो कारण है, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप चौथा पाद है, इसको विभु इस लिये कहते हैं कि उसीसे विश्वादि पूर्व के तीन पाद उत्पन्न होते हैं। तीनों पादों का अधिष्ठाता होने से वही ईशान है, दुःखनिवृत्ति का कारण होने से प्रभु है, अपने स्वरूप में अवस्थित होने से अव्यय है, सब भावों और कार्यों में अविकल होने से अद्वैत है॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥११॥

विश्व और तैजस कार्य और कारण (फल और बीज) में बन्धे हुवे माने जाते हैं और प्राज्ञ केवल कारण (बीज) में बन्धा हुवा है, ये दोनों अर्थात् कार्य और कारण भाव तुर्य (चौथे, में सिद्ध नहीं होते ॥

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥१२॥

न अपने को न दूसरों को न सत्य को न झूंठ को प्राज्ञ अर्थात् सुषुप्त किसी को भी नहीं जानता, परन्तु तुर्य अर्थात् आत्मा सदा सर्वद्रष्टा है ॥

द्वैतस्याऽग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रा युतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥

यद्यपि द्वैतभाव का ग्रहण न करना प्राज्ञ और तुर्य दोनों में समान है, तथापि बीज निद्रायुक्त होने से प्राज्ञ का द्वैत न देखना क्षणिक है अर्थात् जागने पर फिर देखने लगता है, यह बात द्रष्टिस्वरूप होने से तुर्य आत्मा में नहीं पाई जाती ॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः १४

पहिले दो विश्व और तैजस स्वप्न और निद्रा अर्थात् रजस् और तमस् से युक्त हैं, तीसरा प्राज्ञ स्वप्न अर्थात् रजोवर्जित है, परन्तु निद्रा अर्थात् तमोयुक्त है । चौथे तुर्य आत्मा में नरश्रेष्ठ जन निद्रा और स्वप्न रजस् और तमस् इन दोनों का अभाव देखते हैं ॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

कुछ का कुछ ग्रहण करता हुआ स्वप्न का अनुभव करता है और तत्त्व को न जानता हुआ निद्रासक्त होता है, तात्पर्य यह कि स्वप्न में अन्यथा ग्रहण और निद्रा में तत्त्व का न जानना होता है, इन दोनों के विपर्यास=कार्य कारण रूप बन्धनके क्षीण होने पर चौथे तुरीय पद को प्राप्त होता है ॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ १६ ॥

अनादि काल से प्रवृत्त माया (मोह) से सोया हुआ अर्थात् यह मेरा है, मैं इस का हूं, सुखी हूँ, दुःखी हूं दीन हूं, समृद्ध हूं, इत्यादि स्वप्नों को देखता हुआ जीव जब जागता है अर्थात् अपने स्वरूप को पहचानता है तब अज, अनिद्र, अस्वप्न और अद्वैत आत्मा को जानता है ॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्त्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

प्रपञ्च=मिथ्याज्ञान यदि विद्यमान है तो निःसन्देह निवृत्त ही होगा क्योंकि जब तक जीव माया=मोह में बद्ध है,तब तक

द्वैत है, परमार्थ में तो केवल अद्वैत ही है अर्थात् मोह के पाश में बन्धा हुवा जीव प्रकृतिजन्य नाना पदार्थों को आत्मा में आरोपित करता है तत्त्वज्ञान होने पर उसका यह भ्रम निवृत्त हो जाता है और वह समझ जाता है कि न मैं किसी का हूं, और न मेरा कोई है किन्तु मैं अद्वैत हूं ॥

विकल्पो विनिवर्त्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

यदि किसी से कल्पित हो तो विकल्प=सन्देह निवृत्त हो सकता है, उपदेश से यह भेदवाद है, ज्ञान होने पर द्वैत=भेद नहीं रहता । तात्पर्य यह है कि जब तक उपदेश=वाणी का व्यवहार है, तब तक द्वैत=भेद अनिवार्य है ॥ १८ ॥

विश्वस्याऽत्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रसम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥१९॥

विश्व की अकार की विवक्षा में प्रथम आदि की समता प्रकट होती है फिर मात्रा की सम्प्रतिपत्ति होने पर अर्थात् विश्व में अकार की योजना करने पर आप्ति की समता होती है ॥

तैजसस्योत्वविज्ञाने उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्व तथाविधम् ॥२०॥

तैजस को उकार जानने पर उत्कर्ष स्पष्ट दीखता है मात्रा की सम्प्रतिपत्ति होने पर वैसा उभयत्व होता है ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥२१॥

प्राज्ञ के मकार होने पर पहिले मान की समता प्रकट होती है पुनः मात्रा की प्राप्ति होने पर लय की समता होती है ॥

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
सम्पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२॥

तीनों धामों (पादों) में जो तुल्यरूप से व्याप्त है उस सामान्य (एकरस आत्मा) को जो विद्वान् निश्चित होकर जानता है, वह महामुनि सब लोकों में पूज्य और नमस्करणीय है ॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३॥

अकार विश्व को, उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त कराता है, चौथे अमात्र में गति नहीं है ॥

ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशोज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२४॥

ओङ्कार को पादशः अर्थात् पादक्रम से जाने, निःसन्देह पाद ही मात्रा हैं, ओङ्कार को पादशः जान कर फिर कुछ चिन्तन न करे ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

ओङ्कार में चित्त लगावे, ओङ्कार निर्भय ब्रह्म है, ओङ्कार में जो नित्ययुक्त है, उसके लिये कहीं कुछ भय नहीं है ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥२६॥

प्रणवही अपर(जिसका पहले तीनपादोंमें वर्णन कियागया है) है और प्रणव ही पर ब्रह्म (जिसका चौथे पाद में निरूपण है) है प्रणव ही अकारण होने से अपूर्व, एकरस होने से अन-

न्तर, अनन्य होने से अग्राह्य, अकार्य होने से अनपर और अक्षर होने से अव्यय है ॥

सर्वस्य प्रणवोह्यादिर्मध्यमोन्तस्तथैवच ।
एवंहि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७॥

उत्पादक होनेसे प्रणव ही सबका आदि है, पालक होनेसे मध्यम है, नाशक होने से अन्त है। इस प्रकार प्रणव को जानकर तत्पश्चात् उसको प्राप्त होता है ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥२८॥

सब के हृदय में वर्तमान प्रणव को ही ईश्वर जाने, सर्वव्यापक ओङ्कार को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता ॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येनः स मुनिर्नेतरो जनः॥२९॥

जिसकी कोई मात्रा (मान करने का साधन) नहीं किन्तु अनन्त होना ही जिसकी मात्रा है, ऐसा द्वैत का उपशम शिवस्वरूप जो ओङ्कार है, उसको जिसने जान लिया वह साक्षात् मुनि (मननशील) है, इतर जन नहीं ॥

इति माण्डूक्योपनिषदर्थाविष्कारिण्यां गौडपादीय
कारिकायाम् आगमप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ यजुर्वेदीय तैत्तरीयोपनिषद् भाष्यम्

प्रथमावल्ली-शिक्षाध्यायः

मङ्गलाचरणम्

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम् ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

सत्यं वदिष्यामि पञ्च च इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—[मित्रः नः शम्] मित्र हमारे लिए सुखदायी हो, [वरुणः शम्] वरुण सुखदायी हो, [अर्यमा नः शं भवतु] अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हो । [इन्द्रः बृहस्पतिः नः शम्] इन्द्र और बृहस्पति हमारे लिये सुखकर हों, [उरुक्रमः विष्णुः नः शम्] महापराक्रमी विष्णु हमारे लिये क्षेमकर हो । [वायो ते ब्रह्मणे नमः] हे सर्वशक्तिमन् ! सबसे बड़े आप के लिये नमस्कार है । [त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि] आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं । [त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि] आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा, [ऋतं वदिष्यामि] यथार्थ कहूंगा, [सत्यं वदिष्यामि] सत्य कहूंगा । [तद् माम् अवतु] वह मेरी रक्षा करे [तद् वक्तारम् अवतु] वह वक्ता की रक्षा करे । [माम् अवतु वक्तारम् अवतु] मेरी तथा वक्ता की रक्षा करे, द्विर्वचन अभीप्सा के लिये है ।

भावार्थः—शिक्षाध्याय के आरम्भ और अन्त में भी इसी श्रुति से मंगलाचरण किया गया है। अतएव इस श्रुति के "सत्यं वदिष्यामि" तक इस अध्याय का प्रथम अनुवाक और उसके आगे के "तन्मामवतु" आदि पांचवाक्य और दूसरे मन्त्र के पांच वाक्य मिलकर दूसरा अनुवाक पूरा होता है। आध्यात्मिक पक्ष में मित्र और वरुण प्राण तथा अपान के, अर्यमा मन का, इन्द्र जीवात्मा का, बृहस्पति बुद्धि का और विष्णु शरीराधिष्ठातृ देव का वाचक है। एवं आधिभौतिकपक्ष में मित्र अग्नि, वरुण जल, अर्यमा वायु, इन्द्र सूर्य, बृहस्पति विराट् और विष्णु विद्युत् का उपलक्षण है। अर्थात् ईश्वर की कृपा से ये सब आध्यात्मिक और आधिभौतिक देवता हम सब प्राणियों के लिये सुखदायी हों। दूसरे अनुवाक में मेरी और वक्ता की रक्षा की जो प्रार्थना की गई है, उसका का कारण यह है कि शिक्षाध्याय की सफलता शिष्य और गुरु के सम्बन्ध पर निर्भर है। अतएव शिष्य जहां अपने लिये 'माम्' शब्द से अनामय की प्रार्थना करता है, वहां गुरु के लिये 'वक्तारम्' शब्द से। क्योंकि बिना गुरुकी कृपा के शिष्य की अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुति के अन्त में जो तीन वार 'शान्ति' शब्द का उच्चारण कियागया है, उसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये जो तीन प्रकार के दुःख हैं, इन से हमारी रक्षा हो।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः।

ओ३म् शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्ण स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः॥ १॥ द्वितीयोऽनुवाकः॥ २॥

[शीक्षां व्याख्यास्यामः] अथ शिक्षा का वर्णन करेंगे। ' शीक्षाम् ' यह आर्ष प्रयोग है। [वर्णः] अकारादि अक्षर [स्वरः] उदात्तादि स्वर [मात्राः] ह्रस्वादि मात्रायें [बलः] आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न [साम] सन्धि और [सन्तानः] संहिता [इति शिक्षाध्यायः उक्तः] यह शिक्षाध्याय कहा गया [शीक्षां पञ्च] ये और पांच वाक्य पहले मिलकर दूसरा अनुवाक होता है।

भावार्थः—शिक्षा दो प्रकार की होती हैं, पहली शब्दशिक्षा और दूसरी व्यवहारशिक्षा। यद्यपि व्यवहार के बिना शब्द शिक्षा अधूरी है, तथापि बिना शब्द या संकेत के हम अपने हृद्गत भावों को व्यवहार में परिणत नहीं करसकते। अतएव संसार में व्यवहार सिद्धि के लिये किसी न किसी भाषा का प्रयोग अनिवार्य्य है। भाषा शब्दों से बनती है और शब्दों के मूल स्वर, वर्ण और मात्रा आदि हैं। इसीलिए इस उपनिषद् के शिक्षाध्याय में प्रथम शब्दशिक्षा का निर्देश करके ही वक्ष्यमाण पञ्चाधिकरण विद्या का आगे उपदेश किया गया है।

अथ तृतीयोऽनुवाकः।

सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु—अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते।

पदार्थः—(सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्) हम दोनों शिष्य और गुरु की साथ ही कीर्ति और प्रतिभा बढ़े। (अथ अतः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः) अब इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये संहिता के उपनिषद् की व्याख्या करेंगे।

(पञ्चसु अधिकरणेषु) पांच अधिकरणों में। (अधिलोकम् अधिज्यौतिषम् अधिविद्यम् अधिप्रजम् अध्यात्मम्) वे पांच अधिकरण ये हैं-अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म। (ता महासंहिता इति आचक्षते) ये पांचों महासंहिता नाम से कहे जाते हैं।

भावार्थः-शिक्षा का सम्बन्ध-शिक्षक और शिष्य से है, सद्गुरु के विना शिष्य का उद्धार नहीं होता और सच्छिष्य के विना गुरु का यश नहीं फैलता, अतएव यह दोनों मिलकर ही अपने ज्ञान और यश की वृद्धि कर सकते हैं। दोनों की शुभकामनाके अनन्तर अब पांच अधिकरणोंमें संहितोपनिषद् की, जिसमें ये पांचों विषय मिले हुवे हैं, व्याख्या करते हैं। वे पांचों विषय ये हैं—अधिलोक, जिसका लोकों से संबंध हो, अधिज्योतिष, जिसका नक्षत्रों से संबंध हो, अधिविद्य, जिसका विद्या से संबंध हो, अधिप्रज, जिसका सन्तान से संबंध हो और अध्यात्म जिसका शरीर के अङ्गों से संबंध हो। इन पांच अधिकरणों में विभक्त जो ज्ञान है, उसी का नाम इस उपनिषद् की परिभाषा में महासंहिता है।

अथाधिलोकम्—पृथ्वी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः ॥ १ ॥ वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्—अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपःसन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्—आचार्यः पूर्वरूपम् ॥ २ ॥ अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनꣳ सन्धानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्—माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजासन्धिः। प्रजननꣳ सन्धानम्। इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥ अथाध्यात्मम्—अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक्सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्।

इत्यध्यात्मम् । इतीमा महा सँहिताः । यएवं महासँहिता व्याख्याता वेद सन्धीयते प्रजया ,पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन ॥ ४ ॥ सन्धिराचार्यः पूर्वरूपमित्यधिप्रजं लोकेन ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

पदार्थः–अब अधिलोक का वर्णन करते हैं—पृथ्वी उसका पूर्वरूप है, द्युलोक उत्तर रूप, आकाश सन्धि है और वायु सन्धान, इसको अधिलोक कहते हैं। अब अधिज्योतिष का निरूपण करते हैं—अग्नि उसका पूर्वरूप और सूर्य उत्तर रूप है, जल संधि और विद्युत् सन्धान है। इसका नाम अधिज्योतिष है। अब अधिविद्य का निर्देश करते हैं—आचार्य इसका पूर्वरूप है, शिष्य उत्तर रूप, विद्या संधि है और उपदेश संधान। इसको अधिविद्य कहते हैं। अब अधिप्रज की व्याख्या करते हैं माता इसका पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप, संतान संधि और प्रजनन कर्म संधान। अब अध्यात्म का उपदेश करते हैं–नीचे का ओष्ठ पूर्वरूप है, ऊपर का ओष्ठ उत्तररूप, वाणी संधि और जिह्वा संधान है,। यह अध्यात्म है ये ही पांचों महासंहिता हैं। जो इन व्याख्यान की हुई पांचों महासंहिताओं को जानता है, वह पुत्र, पशु, ब्रह्मतेज, भक्ष्य भोज्य और स्वर्ग लोक से संयुक्त होता है। इस तृतीयानुवाक के चार खण्ड हैं। सन्धि, पहिले खण्ड का अन्त्यपद है। 'आचार्यः पूर्वरूपम' दूसरे खण्ड का। 'इत्यधिप्रजम्' तीसरे खण्ड का और 'लोकेन' चौथे खण्ड का अन्त्यपद है। खण्ड की समाप्ति सूचित करने के लिये इनका निर्देश किया गया है।

भावार्थः–इन पांचों अधिकरणों में पांच महाविद्याओं का उपदेश किया गया है। प्रथम अधिलोक से तात्पर्य भूगोल विद्या है। पृथ्वी हमारा आधार है, बिना उसके संसार में हमा-

की स्थिति ही नहीं रह सक्ती। अतएव सबसे पहले उसीका उपदेश किया गया है। चारों ओर जलधि से वेष्टित इस भूलोक का ज्ञान पूर्णतया हमको नहीं होसकता, जबतक कि हम इसके सन्धि और सन्धानों को नहीं जान लेते। जैसे शारिरिक विज्ञान के लिए शरीर के सब अवयवों का ज्ञान होना आवश्यक है, ऐसे ही पार्थिवतत्त्वों के जानने के लिए पंच महाभूतों का जिनके संमिश्रण से यह पृथ्वी बनी है ज्ञान होना आवश्यक है, उनमें भी क्षितिज, आकाश और वायु मुख्य हैं। यदि इस पृथ्वी को हम भूलोक का पहला परत मानें तो क्षितिज का जहां से आगे हमारी दृष्टि नहीं जासकती, दूसरा परत मानना पड़ेगा, इनके बीचमें जो आकाश है, वही इनकी सन्धि है अर्थात् इन दोनों को परस्पर मिलाता है। सर्वत्र सञ्चारी वायु इनका सन्धान है अर्थात् आकाश और पृथ्वी के सम्बंध को स्थापित करता है। तात्पर्य यह कि केवल भूगर्भ विद्या के जानने से ही हम भूलोक का पर्याप्तज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते इसके लिये पदार्थों के संश्लेषण और विश्लेषण का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

विधाता की अनन्त सृष्टि में यह भूलोक ही पर्याप्त नहीं है, ऐसे २ और इससे भी बड़े २ असंख्य लोक आकाश में भरे पड़े हैं। चूंकि हम पृथिवी में रहते हैं। इसलिये पहले इसका ज्ञान होने के पश्चात् फिर हमको अन्य लोकों का भी यथावश्यक ज्ञान होना चाहिये। इसलिये दूसरे अधिकरण में अधिज्यौतिष' विद्या' का उपदेश किया गया है। ज्योति प्रकाश को कहते हैं और उसका केन्द्र सौरमण्डल है। जिसके अग्नि और सूर्य पूर्वोत्तर रूप हैं। जल सन्धि और विद्युत् सन्धान हैं अर्थात ये दोनों क्रमशः द्रव्य और शक्ति के रूप में अग्नि से

उत्पन्न होते हैं, इनके गुणों का आकलन करने से ही हम ज्योतिर्विद्या के तत्व को जान सकते हैं।

भौतिक विज्ञान के अनन्तर अब हमको मनोविज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि जबतक हमारे अन्दर मानसिक शक्ति का विकास न होगा, हम भौतिक ज्ञानसे कुछ लाभ नहीं उठा सकते। अतएव तीसरे अधिकरण में 'अधिविद्य' के शीर्षक से मनोविज्ञान शास्त्र का उपदेश किया गया है। मनोविज्ञान में जब तक गुरु और शिष्य के मन और हृदय आपस में नहीं मिलते, सफलता नहीं होती, वेद भी ऐसा ही कहते हैं—

मम व्रते ते हृदयं दधामि ममचित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
ममवाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

इसलिए गुरु शिष्य ही इसके पूर्वोत्तर रूप हैं। ज्ञान सन्धि और उपदेश सन्धान हैं अर्थात् जब उपदेश द्वारा गुरु शिष्य के हृदय में ज्ञान के अंकुर उत्पन्न करता है। तब उसकी मानसिक शक्तिका विकास होता है। अब इस बढ़ी हुई मानसिक शक्ति का उपयोग सबसे पहले उसे किस काम में करना चाहिये! इसका निर्विवाद यही उत्तर होगा कि मनुष्यों के बनाने में जबतक मनुष्य न बनेंगे, तबतक किसी विद्या का भी उपयोग ठीक २ न होगा। मनुष्य बनाने की विद्या सन्तान शास्त्र है अतएव चौथे अधिकरण में उसीका उपदेश किया गया है। सन्तान को माता पिता बनाते हैं, इसलिये वे ही इस के पूर्वोत्तर रूप हैं। सन्तान के उद्देश से माता पिताका संयोग होता है, इसलिए सन्तान ही सन्धि है और प्रजनन 'गर्भाधान' के जो विधि और नियम हैं, वे ही सन्धान हैं। उन्हीं के द्वारा हम उत्तम मनुष्यों की सृष्टि कर सकते हैं। प्रत्येक मातापिता का यह कर्त्तव्य है कि वह सन्तान उत्पन्न करनेसे पहले प्रजनन शास्त्र को जानलेवें।

अब तक जो चारों विद्यायें वर्णन की गई, वे भौतिक हैं, परन्तु बिना आत्मज्ञानके मनुष्य जीवनका उद्देश पूरा नहीं होता, इसलिए पांचवें अधिकरणमें मनुष्य जीवनको सार्थक बनाने वाली अध्यात्मविद्या का उपदेश किया गया है। यद्यपि आत्मा अनुभवगम्य है, जिसके विषय में तवलकारोपनिषद् कहती है:—

> यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अपने हृदय में उसका साक्षात्कार करने के लिये हमें किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं तथापि बिना वाणी के प्रयोगके हम अध्यात्म विद्या का प्रचार नहीं कर सकते। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो अनुभव या ज्ञान हम प्राप्तकरतेहैं, कर्मेन्द्रियों में मुख्य हमारी वाणी ही संसार में उसका प्रचार करती है।

यदि वाणी का उपयोग हम न करें तो अपने अनुभव से हम दूसरों को कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकते। मुद्रण और लेखनकला से भी हम बिना प्रवचन और अनुवचन के कुछ लाभ नहीं उठा सकते, अतएव वह भी उसी का रूपान्तर है। यद्यपि वाणी के उच्चारण में कण्ठ तालु आदि स्थानों का भी उपयोग होता है, तथापि इस मुख रूपी वाणी के द्वार में अधर और उत्तर ओष्ट ही जिनसे हम शब्दों का उच्चारण करते हैं, उसके आसपास हैं। इसलिये इनको पूर्वोत्तर रूप कहा गया है, वाक् सन्धि और जिव्हा सन्धान है अर्थात् वाणी के उच्चारण में दोनों ओष्ट परस्पर मिलते हैं, इसलिये वाक् उनकी सन्धि है, जिव्हा उनके मिलने का कारण है, इसलिये वह सन्धान है। इस प्रकार पांच अधिकरणों में जो पांच

संहिता वर्णन की गई हैं, जो मनुष्य इनके रहस्य को जानता है और इन मूल सूत्रों से अनेक विद्याओं और कलाओं का विस्तार करने में समर्थ होता है, वह संसार में पुत्र, पशु, धन, धान्य और सुख्याति का लाभ करके सुखी होता है ॥४॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देवधारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥ १ ॥ कुर्वाणाऽचीरमात्मनः । वासाꣳसि मम गावश्च अन्नपानेच सर्वदा । ततो मे श्रिय-मावह लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिण स्वाहा ॥ २ ॥ यशोजनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्य सो सानि स्वाहा । तंत्वा भग प्रविशानि स्वाहा । समा भग प्रविश स्वाहा तस्मिन् सहस्र शाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथाऽऽपः प्रवतायन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्रमा भाहि प्रमा पद्यस्व ॥ ३ ॥ वितन्वाना शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । धात-रायन्तु सर्वतः स्वाहैकं च ॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—[यः छन्दसाम ऋषभः] जो वैदिक देवताओं में श्रेष्ठ [विश्वरूपः] प्रत्येक वस्तु में तत्स्वरूप से अवस्थित [छन्दोभ्यः अमृतात् अधि संबभूव] वेदों और मोक्ष से भी ऊपर वर्तमान [इन्द्रः] सर्व शक्तिमान् ईश्वर है [स मा मेधया स्पृणोतु] वह मुझे बुद्धि से संयुक्त करे । [अमृतस्य देव-

धारणः भूयासम्] मोक्षका देवों के समान धारण करनेवाला होऊं [मे शरीरं विचर्षणम्] मेरा शरीर बलवान् हो [मेजिह्वा मधुमत्तमा] मेरी वाणी मधुर भाषिणी हो [कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्] कानों से बहुत सुनूं [ब्रह्मणः कोशः असि] हे इन्द्र ! तू ज्ञान का अधिष्ठान है [मेधया पिहितः] बुद्धि से ढका हुआ है। [मे श्रुतं गोपाय] मेरे ज्ञान की रक्षाकर। [आवहन्ती वितन्वाना] तेरी कृपा मेरी कीर्ति को धारण करती और फैलाती हुई [आत्मनः अचीरं कुर्वाणा] अपने इष्टको शीघ्र संपादन कराती हुई मेरी रक्षा करें, [मम वासांसि गावः च अन्नपाने च सर्वदा] मेरे वस्त्र, गोधन, अन्न और मान सदा भरपूर हों। [ततः मे श्रियम् आवह] तदनन्तर मेरे श्रेय को धारण कर [लोमशां पशुभिः सह स्वाहा] अन्यपशुओं के साथ भेड़ बकरी, मुझे प्राप्त हों [दमाः शमाः ब्रह्मचारिणः मा आयंतु, वियंतु, प्रयंतु स्वाहा] जितेन्द्रिय और सहनशील ब्रह्मचारी मुझे विशेषतः और निरन्तर प्राप्त हों ॥ २ ॥ [यशो-जने असानि] मैं यशस्वी जन समूह में गिना जाऊं [वस्यसः श्रेयान् असानि] धनी जन समूह में श्रेष्ठ बनूं [हे भग ! तं त्वा प्रविशानि] हे भगवन् ! उस तुझ में मैं ध्यानद्वारा प्रवेश करता हूं [हे भग ! स मा प्रविश] हे भगवन् ! सो आप मुझ में प्रवेश कीजिए अर्थात् मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हूजिए। (हे भग ! तस्मिन् त्वयि सहस्र शाखे अहं निमृजे] हे भगवन् ! उस तुझ अनन्त शाखों वाले विश्वरूप में प्रविष्ट होकर मैं अपने आत्मा को शुद्ध करता हूं। [यथा आपः प्रवताऽयन्ति] जैसे जल निम्न देश से जाते हैं [यथा मासा अहर्जरम्] जैसे महीने प्रति दिन क्षीण होने वाले संवत्सर को प्राप्त होते हैं [हे धातः ! एवं मां ब्रह्मचारिणः सर्वतः आयन्तु] हे विधातः

ऐसे ही मुझ को ब्रह्मचारी सब ओर से प्राप्त हों [प्रतिवेशः असि, मा प्रभाहि मा प्रपद्यस्व] हे भगवन् आप सब जगत् के आत्मा हैं, मेरे अन्तःकरण में प्रकाशित और प्राप्त हूजिये ॥ ३ ॥

वितन्याना, शकायंतु, धातरायंतु, इत्यादि प्रतीकें खण्ड समाप्ति सूचक हैं ॥

भावार्थः—प्राचीन आर्य लोगों की आस्तिकता और उन के पवित्र हार्दिक भावों का कैसा अच्छा परिचय श्रुतियों से मिलता है। आस्तिक मनुष्य जैसा बनना चाहता है, वैसी ही वह अपने इष्टदेव से प्रार्थना करता है। मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए या यों कहो कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए शरीर वाणी और मनका स्वस्थ एवं बलवान् होना आवश्यक है, अतएव प्रार्थना में इन्हीं तीन बलों की अभ्यर्थना की गई है। इन में भी मानसिक बल सर्वोपरि और सब का प्रवर्त्तक है, इसलिए मेधा और ज्ञान के लिए विशेष और बार-बार प्रार्थना की गई है। ब्रह्मचारियों से जो प्रेम दर्शाया गया है, उस का भी तात्पर्य यही है। क्योंकि कोई मनुष्य ब्रह्मचर्य का आश्रय लिये बिना शारीरिक एवं मानसिक उन्नति नहीं कर सकता। शोक है कि आज उन्हीं ऋषियों की संतान जो ब्रह्मचारियों का "आमायंतु, विमायंतु, प्रमायंतु ब्रह्मचारिणः" इत्यादि प्रेम और आदर सूचक शब्दों से स्वागत करते थे, अल्पवयस्क वर वधुओं का स्वागत कर रही है। इन प्रार्थनाओं में एक बात और ध्यान देने योग्य है—अन्न, वस्त्र और गवादि पशुओं की आवश्यकता ब्रह्मचारियों के लिये भी होती है, इसलिए उनकी प्रार्थना ब्रह्मचारियों का स्वागत करने से पहले की गई है। परन्तु धन और ख्याति की आवश्यकता गृहस्थाश्रम में होती है, इसलिए इन की याचना पीछे की गई

है। इस से सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करने के पश्चात् ही धन और यश की कामना करते थे। ऐसे ही पवित्र भावों को हृदय में धारण करने से न केवल हम गृहस्थाश्रम को स्वर्गधाम बना सकते हैं। किंतु अपने मनुष्य जन्म को भी सफल बना सकते हैं।

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामुह स्मै तां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयंलोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः॥ १॥ मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि॥ २॥ मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरितिवै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥ ३॥ असौलोको यजूंषि वेद द्वे च॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः।

पदार्थः—(भू, भुवः, सुवः इति, वै, एताः, तिस्रः व्याहृतयः) भूः, भुवः, सुवः ये तीन व्याहृतियां है। जिनसे अनेक अर्थों का व्याहार (वचन) होता है, उन्हें व्याहृति कहते है तासाम् उ ह स्म एतां चतुर्थीम्) उन में से इस चौथी को (उ, ह, स्म, परंपरा सूचक निपात हैं) (माहाचमस्यः प्रवेदयते

मह इति) महान्ब्रह्म के पुत्र ने प्रकट किया है, इसलिये उस-का नाम 'महः' है। (तद् ब्रह्म)वह बड़ी होने से महत है (सः आत्मा] वह व्यापक होनेसे आत्मा है। (अन्याः देवताः, अङ्गानि) अन्य प्रकाशक देव उसके अङ्ग हैं। (भूः इति वै अयं लोकः) यह पृथिवी लोक 'भूः' है (भुवः, इति, अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक 'भुवः' है) सुवः, इति, असौलोकः) वह लोक जो इस पृथिवी में सुखका अधिष्ठान है, 'सुवः' है। (महः, इति, आदित्यः) सूर्य लोकही 'महः' है (आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते) सूर्य से ही निश्चय सब लोक प्रकाशित होते हैं। (अग्निः, वै, भूः, इति) अग्नि ही 'भूः' है (वायुः, भुवः, इति) वायु 'भुवः' है (आदित्यः, सुवः,इति) आदित्य 'सुवः' है (चन्द्रमाः, महः इति) चंद्रमा 'महः' है (चंद्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते) चंद्रमा से सब नक्षत्र प्रकाशित होते हैं। (ऋचः।वैः, भूः, इति) ऋग्वेद 'भू' है (सामानिः, भुवः, इति) सामवेद 'भुवः' है (यजूंषि सुवः इति) यजुर्वेद 'सुवः' है। (ब्रह्म, महः, इति) वेदत्रयी का वेद्य ब्रह्म 'महः' है। (ब्रह्म वाव सर्वे वेदा महीयन्ते) ब्रह्म से ही सारे वेद महिमान्वित होतेहैं। (प्राणः, वै, भूः, इति] प्राण ही 'भूयः' है (अपानः, भुवः, इति),अपान भुवः है (व्यानः, सुवः इति) व्यान 'सुवः' है। अन्नं, महः, इति) अन्न 'महः' है (अन्नेन सर्वे प्राणा महीयन्ते) अन्न से सब प्राणों की पुष्टि होती है। (ता, वै, एताः, चतस्रः, चतुर्धा, चतस्रः, चतस्रः,व्याहृतयः) वे ये चार व्याहृतियां चार चार प्रकारकी हैं जो सब मिलकर सोलह हुईं। इसीप्रकार औरभी इनकेविभाग होसकतेहैं। (ताः, यः, वेद) जो इनको जानता है (सः, ब्रह्म, वेद) वह ब्रह्म को जानता है (सर्वे, देवा, अस्मै, बलिम्, आवहन्ति) सब देव इसके लिए

भाग धारण करते हैं ॥ २ ॥ (असौलोकः, यजूंषि, वेद ब्र च)
ये प्रतीकें खण्ड समाप्ति सूचक हैं।

भावार्थः—इस पांचवें अनुवाक में व्याहृतियों की व्याख्या की गई है। व्याहृति जिनके द्वारा अनेक अर्थों का व्याहरण किया जाता है, भूः, भुवः, स्वः, ये तीन हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में और भी अनेक मंत्रोंमें इन्हीं तीन का उल्लेख पाया जाता है कहीं कहीं जैसेकि प्राणायामादि में सप्त व्याहृतियों का उल्लेख भी मिलता है, जिनको सप्त लोक भी कहते हैं। जैसे तीन लोकों से सात लोकों की कल्पना कीगई है, वैसेही तीन व्याहृतियों का विस्तार सप्त व्याहृति हैं। पाठक आश्चर्य करेंगे कि इस उपनिषद् में न तो तीन ही और न सात ही व्याहृतियोंका उल्लेखहै किन्तुउनकी संख्या चारबतलाई गईहै और फिर उन में से, प्रत्येक के चारचार भेद करके १६ विभाग किये गये हैं? इस का उत्तर यह है कि आरम्भ में यह उपनिषद्, भी भूः, भुवः, स्वः, इन्हीं तीन व्याहृतियों का संकेत करती है, चौथी 'महः' जो इनमें बढ़ाई गई है, उसका कारण भी इसमें स्पष्ट बतला दिया गया है अर्थात् 'माहाचमस्य' ऋषि ने इसको प्रकट किया और इसीलिए इसका 'महः' नाम पड़ा। सम्भव है कि इसके आगे को 'जनः' 'तपः' और 'सत्यम्' ये तीन व्याहृतियां भी इसीप्रकार बढ़ाई गई हों या 'महः' के अन्तर्गत ही इनको मानलिया गया हो। क्योंकि इस श्रुति में 'महः' को ही (ब्रह्म) सब से बड़ा और (आत्मा) सब में व्यापक बतलाया गया है जैसे लोकों में आदित्य नक्षत्रों में चंद्रमा, वेदों में ब्रह्म और प्राणों में अन्न मुख्य होने से प्राधान्य रखते हैं, ऐसेही तीनों व्याहृतियों का सार महाचमस् ऋषि' ने इस चौथी व्याहृति में खींचकर रक्खा है। जब अगला तीन

व्याहृतियों का तत्त्व इसमें मौजूद है, तब यह कब सम्भव है कि पिछली तीन व्याहृतियां इस से संबंध न रखती हों वास्तव में इस श्रुति के अनुसार चौथी व्याहृति 'महः' ही केन्द्र है, जिसके चारों ओर अगली और पिछली व्याहृतियां वैसेही परिचरण करती है, जैसे सूर्य के लिये लोक चन्द्रके लिये नक्षत्र, ब्रह्म के लिये वेद और अन्न के लिये प्राण अपना काम करते हैं ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ ॥१॥ सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाश शरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्ति समृद्धममृतम् । इति प्राचीन योग्योपास्स्व ॥ २ ॥ वाया-वमृतमेकञ्च ॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—(अन्तः हृदये, यः, आकाशः) हृदय के भीतर जो आकाश है (सः, एषः) वह यह है अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति का स्थान है (तस्मिन्, अयं, मनोमयः पुरुषः) उस में यह मनो-मय पुरुष है (अमृतः, हिरण्मयः) जो कि अमर और प्रकाश मय है (अन्तरेण, तालुके) दोनों तालुओं के मध्य में (यः, एषः, स्तन इव, अवलम्बते) जो यह स्तन के समान लटकता है (सा, इन्द्रयोनिः) वह जीवात्माके रहने का स्थान है (यत्र असौ, केशान्तः विवर्तते) जहांपर यह केशों का विवर्त है

(शीर्षकपाले व्यपोह्य) शिर और कपाल को भेदन कर के (भूः इति, अग्नौ प्रतितिष्ठति) 'भूः' इस व्याहृति के द्वारा अग्नि में ठहरता है (भुवः इति, वायौ) 'भुवः' के द्वारा वायु में ॥ १ ॥ (सुवः, इति, आदित्ये) 'सुवः' के द्वारा आदित्य में (महः इति, ब्रह्मणि) 'महः' के द्वारा ब्रह्म में (स्वराज्यम्, आप्नोति इन्द्रियादि पर के बन्धनसे रहित स्वराज्य को पाता है (मनसः—पतिम्, आप्नोति) मनके स्वामित्व को प्राप्त होता है (वाक्—पतिः, चक्षुः—पतिः श्रोत्र–पतिः, विज्ञानपतिः) वाणी, चक्षु, श्रोत्र और विज्ञान का स्वामी होता है (ततः, एतत्, भवति) इस के अनंतर यह होता है (आकाश शरीरम्, ब्रह्म) आकाश शरीर वाला ब्रह्म (सत्यात्म, प्राणारामम् मन· आनंदम्) सत्य आत्मा, प्राण में रमण और मन में आनन्द करने वाला (शांतिसमृद्धम्, अमृतम्) शान्ति से सम्पन्न, अमृत (इति प्राचीन योग्य, उपास्व) इसप्रकार हे प्राचीन योग्य शिष्य ! उपासना कर ॥ २ ॥ (वायो, अमृतम् एकं च) इस छठे अनुवाक के दो खण्ड हैं एक 'वायो' शब्द के अन्त में दूसरा 'अमृतम्' शब्द के अन्त में पूरा होता है।

इति षष्ठोऽनुवाकः।

भावार्थः-पांचवे अनुवाक में चारों व्याहृतियों का समन्वय पञ्च महाभूतों के साथ किया गया था, अब इस छठे अनुवाक में आत्मा के साथ उनका समन्वय किया जाता है। इसलिये कि हमारी शिक्षा केवल भौतिक शरीर और प्राकृतिक जगत् तक ही परिमित न रहे, किंतु अध्यात्म तत्व का भी उस में समावेश होजाय। इसीलिये इस श्रुति में जीवात्मा की स्थिति और गति का निरूपण किया गया है। जीवात्मा यद्यपि समस्त शरीर में व्यापक है, तथापि हृदयाकाश में जो

रुधिर वाहिनी नाड़ियों का केन्द्र है, उसकी विशेष सत्ता मानी गई है। जैसा कि कठोपनिषद् में—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।" तथा-प्रश्नोपनिषद् में "हृदि ह्येष आत्मा" इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है। इस से सिद्ध है कि समस्त शरीर में व्यापक होते हुए भी हृदय जीवात्मा का अधिष्ठान है। इस अधिष्ठान में अवच्छिन्न जीवात्मा का निर्गम द्वार मुख है, जहां दोनों तालुओं के बीच में स्तन के समान एक कील लगी हुई है। इसी मार्ग से जीवात्मा के सहचर प्राण उत्क्रमण करते हैं। जो योगिजन अपने योगबल से इस मार्ग का अवरोध करके जहां केशों का विमर्श है, उस शीर्ष कपाल को भेदन करके प्राण त्यागते हैं, वे भू, भुवः, स्वः, इन तीन व्याहृतियों के द्वारा क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य में प्रतिष्ठित होते हुए चौथी व्याहृति 'महः' के द्वाराजो तीनों व्याहृतियों का समाहार है, ब्रह्म में लीन होजाते हैं अर्थात् सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं। ऐसे ही ब्रह्मवित् संसार में रहते हुए भी अपने इन्द्रिय और मन के स्वामी होकर आत्मिक स्वराज्य के अधिकारी होते हैं। ऐसे आत्मज्ञ यद्यपि भौतिक शरीर रखते हैं, तथापि उनका आत्मा उस में बद्ध नहीं होता, वह समस्त ब्रह्माण्ड को अपना समझता है। आत्मा को अविनश्वर, प्राण को सञ्चारी और मन को आनन्दमय समझ कर शान्ति और अमरत्व का लाभ करते हैं। जो लोग केवल अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों में ही रमण करते हैं, वे कदापि इस उपासना के अधिकारी नहीं हो सकते। इस सब से बड़ी पदवी के अधिकारी वे ही महात्मा होते हैं, जो क्रमशः पूर्व के इन तीन कोशों से निकल कर विज्ञानमय कोश का आश्रयलेतेहैं। तत्पश्चात् आनन्दमय कोश

का आश्रय लेते हैं। तत्पश्चात् आनन्दमय कोश तो उनकी उस उपासना का फल ही है ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः।

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्य-श्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतयः आकाश आत्मा इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्र मनोवाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा। एतदधि विधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम् सर्वम्। पाङ्क्तेनैवपाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति ॥ १ ॥ सर्वं मेकं च। इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—[पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः दिशः, अवान्तरदिशः] पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य, पूर्वादि दिशायें और आग्नेय्यादि उपदिशायें ये पांच लोक हैं जिन में यह समस्त ब्रह्माण्ड अवस्थित है इन के [अग्निः, वायुः, आदित्यः, चन्द्रमा, नक्ष-त्राणि] अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मुख्य विभाग हैं, इनमें [आपः, ओषधयः, वनस्पतयः, आकाशः आत्मा] जल ओषधि अन्न आकाश और प्राणियों के शरीर में पांच महाभूत हैं। [इति, अधिभूतम्] इसी को अधीभूत कहते हैं। [अथ, अध्यात्मम्] अब अध्यात्म कहते हैं [प्राणः व्यानः, अपानः, उदानः, समानः] ये पञ्च प्राण [चक्षुः श्रोत्रम् मनः, वाक्, त्वक्,] ये पांच इन्द्रिय [चर्म, मांस, स्नावा, अस्थि मज्जा] ये पांच शारीरिक धातुयें [एतत्, अधिविधाय, ऋषिः अवोचत्] इसी को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने कहा था [पाङ्क्तम्, वै, इदम्, सर्वम्] यह सब जगत् पाङ्क्त अर्थात्

पञ्च संख्यक द्रव्यों से सम्बद्ध है [पाङ्क्तेन, एव, पाङ्क्तम्, स्पृणोति, इति] पांच से ही पांच को पुष्ट करता है ॥ ७ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

भावार्थः—इस सातवें अनुवाक में अधिभूत और आध्यात्म दोनों विद्याओं का उपदेश कियागया है। पंचमहाभूतों से जिसका सम्बन्ध है, वह अधिभूत और आत्मा से जिसका सम्बन्ध है वह आध्यात्मविद्या कहलाती है। इन दोनों में तीन तीन पञ्चक हैं, जिनसे इस सृष्टि का प्रवाह चलरहा है। अधिभूत में पहला पञ्चक पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रकाश, दिशायें और उपदिशाओं का है, इसी प्रकार अध्यात्ममें पहला पञ्चक प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान का है। इससे सिद्ध है कि ये प्राणादि आत्मा के पांचों सहचर क्रमशः पृथिव्यादि पांच भूतों से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार चक्षुरादि पांचों इन्द्रिय जो आत्मा के लिङ्ग हैं, अग्न्यादि पांच भूतों से जो उनके सहायक हैं संबन्ध रखते हैं। तथा चर्मादि पांच धातुयें जो शरीर में आत्मस्थिति का कारण हैं, जलादि पांच अपने उपादानों से विशेष संबन्ध रखती हैं, तात्पर्य यह है कि ये आधि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पञ्चक मिलकर ही अनादिकाल से इस सृष्टि प्रवाह को चलारहे हैं। यह सब जानकर ही इस उपनिषद् के प्रवक्ता ऋषि ने यह कहा कि "यह सब जगत् पांक्त है अर्थात् पांच संख्याओं में विभक्तहै। पांच ही पांच से मिलकर इसको पुष्ट करते हैं ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ।

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम् । ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गाय-

न्ति । ओ३ँशोमिति शास्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं गृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति । ओमित्यग्निहोत्र मनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह । ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति । ओं दश ॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः-(ओम्, इति ब्रह्म) यह ओम् ब्रह्म है (ओम् इति, इदम्, सर्वम्) यह सब ओम् है । (ओम्, इति, एतद्, अनुकृति) 'ओम्' यह अनुकरण है (इस्म, वै, अपि, ओ श्रावय, इति, आश्रावयन्ति) इस्म, वै' प्रसिद्धि वाचक अव्यय हैं और 'ओ' संबोधन है,यदि कोई कहे कि ब्रह्म का उपदेश करो तो इस अनुकरण द्वारा सुनाते हैं। (ओम् इति सामानि, गायन्ति) ओ३म् का उच्चारण करके साम गाते हैं (ओम्, शोम्, इति, शास्त्राणि शंसन्ति) ओ३म् के साथ 'शम्' का उच्चारण करके गद्य पढ़े जाते हैं। 'शोम्' में ओ३म् के साथ 'शम्' का शकार मिलायागया है। (ओ३म् शन्नोमित्रः इत्यादि, ओम्, इति, अध्वर्युः, प्रतिगरम्, गृणाति). 'ओम्' कहकरही अध्वर्यु प्रत्युत्तर देता है। (ओम्, इति, ब्रह्मा प्रस्तौति) ओम् कहकर ही ब्रह्मा प्रस्ताव करता है। (ओम्, इति अग्निहोत्रम्, अनुजानाति) ओम् कहकर ही अग्निहोत्र को स्वीकार करता है । (ओम्, इति ब्राह्मणः, प्रवक्ष्यन्, आह) ओम् कहकर ब्राह्मण स्वाध्याय का आरम्भ करता हुवा कहता है (ब्रह्म, उप, आप्नवानीति) ब्रह्म को प्राप्त होऊं । (ब्रह्म, एव, आप्नोति) ब्रह्म को प्राप्त होता है । (ओम्, दश) इस अनुवाक में दश वाक्य हैं ॥

भावार्थः—इस अनुवाक में ओ३म् का महत्व और उसके प्रयोग के स्थान भी दिखलाये गये हैं। वाचक से वाच्य का अभ्यास होता है, इसीलिए वाच्य की प्राप्ति के लिये पहले

उसके वाचक का आश्रय लेना पड़ता है। जो जिस वस्तु को उपलब्ध करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि पहले वह उस वस्तु का ज्ञान तो प्राप्त करले कि यह क्या है? ।ज्ञान प्राप्त करने का सब से पहला मुख्य साधन शब्द है। क्योंकि श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन सब की प्रवृत्ति शब्द के पश्चात् ही होती है। ब्रह्मवाचक शब्दों में "ओम्" सब से प्रधान है, जिसकी अनेक उपनिषदों में व्याख्या कीगई है। माण्डूक्य उपनिषद् में तो इसी का विशद व्याख्यान कियागया है इस अनुवाक में भी संक्षेप से समस्त ब्रह्माण्ड का समाहार 'ओ३म्' में कियागया है। इस में 'ओ३म्' को ब्रह्म का अनुकरण बतलायागया है, इसमें शायद कोई आपत्ति करें और कहें कि जब "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" उपनिषद् ही ब्रह्म का ऐसा वर्णन करती हैं तो उसका अनुकरण कैसा? इसका उत्तर हम देचुके हैं कि वाचक में वाच्य का अध्यास करके ऐसा कहागया है। एक ज़रासे काग़ज़ के टुकड़े में हम सारे भूगोल और खगोल का चित्र दिखलाते हैं और वह उसका अनुकरण मानाजाता है इसी प्रकार ब्रह्म का महत्व जतलाने के लिए ही 'ओम्' उसका अनुकरण मानागया है। बिना इस चित्र को अपनी दृष्टि के सामने रक्खे हम ब्रह्म की अचिन्त्य सत्ता को कैसे अपने हृदय में अनुभव कर सकते हैं? इसके उदाहरण भी इस अनुवाक्य में दियेगये हैं। जब कोई किसी से कहता है कि मुझे ब्रह्म का उपदेश करो तो वह ओम् का आदर्श उसके सामने रखता है। सामगायी 'ओम्' से सामगान आरम्भ करते हैं। यजुष्पाठी ओम् में 'शम्' को मिलाकर गद्य का आरम्भ करते हैं। इसी का उच्चारण करके ब्रह्मा प्रस्ताव

करता है, अध्वर्यु उत्तर देता है, होता अग्निहोत्र करता है ब्राह्मण स्वाध्याय का आरम्भ करता है इत्यादि। तात्पर्य यह कि यह 'ओम्' हमारे सब कार्यों के आरम्भ में व्यापक है।

अथ नवमोऽनुवाकः

ऋतञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च। स्वाध्याय प्रवचने च अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च मानुषञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च षट् च ॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—(ऋतम्) सरलता अर्थात् कुटिलता का अभाव (सत्यम्) मन वाणी और कर्म की एकता। (तपः) धर्म के पालन में द्वन्द्व सहिष्णुता। (दमः) जितेन्द्रियता (शमः) मनोनिग्रह (अग्नयः) आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि ये तीन अग्नियां (अग्निहोत्रम्)। देवयज्ञ (अतिथयः) अतिथिगण (मानुषम्) मनुष्यता (प्रजाः) सन्तान (प्रजनः] गर्भाधान विद्या (प्रजातिः) वंशवृद्धि इत्यादि कर्तव्यों का पालन हम स्वाध्याय और प्रवचन के साथ करते रहें। अर्थात् किसी भी कर्त्तव्य का पालन करने में हम स्वाध्याय और प्रवचन को न भूलें। इसीलिए द्विवचनान्त स्वाध्याय प्रवचन शब्दका प्रयोग

प्रत्येक कर्म के साथ किया गया है । (सत्यवचा, राथीतरः, सत्यम्, इति) सत्यवादी राथीतर ऋषि सत्य को प्रधान मानता है (तपोनित्यः, पौरुशिष्टिः, तपः, इति) तपोनिरत पौरुशिष्टि ऋषि तपको मुख्य मानता है । (नाको मौद्गल्यः, स्वाध्याय प्रवचने, एव, इति) नाको मौद्गल्य ऋषि स्वाध्याय प्रवचन को ही मुख्य मानताहै ।, तत्, हि, तपः, तत्, हि, तपः) वही तप है, वही तप है ॥

भावार्थः—जिन धर्मों का सेवन करने से मनुष्य अपने तीनों ऋणों का अपाकरणकर सकता है, उन्हीं का इस श्रुति में उपदेश किया गया है। परन्तु अध्ययन और अध्यापन इन दो कर्मों को प्रत्येक धर्म के साथ सम्बद्ध किया गया है इस से सिद्ध है कि ऋषियों की दृष्टि में पढना और पढाना ये दो मुख्य कर्म थे । वे चारों आश्रमों के धर्म यथा-विधि और यथा समय पालन करते हुवे स्वाध्याय और प्रवचन में निरत रहते थे । अर्थात् वे अपने जीवन भर स्वाध्याय के द्वारा स्वयं ज्ञानोपार्जन करने में और प्रवचन के द्वारा उस-ज्ञान को सर्व—साधारण में फैलाया करते थे । इस में तो आचार्यों का कुछ आंशिक मत भेद भी दिखलाया है । अर्थात् सत्यवादी राथीतर सत्यका अनुसंधान करने के लिए, तपस्वी पौरुशिष्टि तप की योग्यता प्राप्त करने के लिए और मुमुक्षु मौद्गल्य ज्ञान की वृद्धि के लिये इन का उपयोग करते थे । यद्यपि इन के आदर्श भिन्न २ थे, तथापि इन के परिणाम में कुछ भेद न था, क्योंकि तप के लिए सत्य का सेवन और ज्ञान के लिये तप का अनुष्ठान किया जाता था ।

अथ दशमोऽनुवाकः

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्व पवित्रो

वाजिनी वस्वमृत मस्मि। द्रविण ॐ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतो क्षितः। इति त्रिशङ्को र्वेदानु वचनम्॥ १॥ इति दशमो ऽनुवाकः

पदार्थः—[अहं, वृक्षस्य, रेरिवा] मैं इस नश्वर शरीर वा संसार का वाहक हूं, मेरी [कीर्तिः, गिरेः-पृष्ठम्, इव] ख्याति पर्वत के शिखर समान हो, मेरा [ऊर्ध्व पवित्रः, वाजिनि, इव] नाभि से ऊपर अन्तः करण पवित्र हो, घोड़े जैसा, मैं [, अमृतम्, अस्मि] सम्यक् जीवन्मुक्त हूं, मेरा सवर्चसम्, द्रविणम्] तेजयुक्त विभव हो, और मैं [सुमेधाः अमृतोक्षितः] अच्छी बुद्धि से युक्त तथा मोक्ष साधनों से पवित्र होऊं। [इति त्रिशङ्को, वेदानुवचनम्] यह त्रिशङ्कु का वेदानुवचन है। दशमोऽनुवाकः॥

भावार्थः—त्रिशङ्कुः पूर्वकाल में एक राजा हुवा है, वह बड़ा प्रतापी और तपस्वी था पुराणों में इस की कथा प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषि ने अपने तपोबल से इसे सशरीर स्वर्ग में पहुंचाया था। यह तो केवल अर्थवाद है, वास्तव में इसका तात्पर्य यह है कि त्रिशंकुने वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से संसार को ही स्वर्ग बनादिया था उसी त्रिशंकु का यह वेदानुवचन है। अर्थात् वह जैसा बनना चाहता था और जो आदर्श उसने अपने सामने रक्खा था, उसी को इस श्रुति में प्रार्थना के द्वारा प्रकट कियागया है।

वेद मनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यंवद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्नप्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यैनप्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥ देव पितृकार्याभ्यां न

प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि ॥ २ ॥ ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥ ३ ॥ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः, सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमुचैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

इत्येकादशोऽनुवाकः

पदार्थः—[आचार्यः, वेदम्, अनूच्य, अन्तेवासिनम्, अनुशास्ति] आचार्य वेद पढ़ाकर शिष्य को उपदेश करता है—[सत्यम्, वद] सत्य बोल [धर्मम्, चर] धर्म का आचरण कर [स्वाध्यायात्, मा, प्रमदः] स्वाध्याय से मत प्रमाद कर [आचार्याय, प्रियम्, धनम्, आहृत्य, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः] आचार्य के लिए प्रिय धन को लाकर अर्थात् समावर्तित होकर सन्तान के सूत्र को मत तोड़ अर्थात् गृहाश्रम का पालन कर । [सत्यात्, न, प्रमदितव्यम्) सत्य से प्रमाद न कर [धर्मात्, न, प्रमदितव्यम्] धर्म से प्रमाद न कर [कुशलात्, न, प्रमदितव्यम्] कल्याण से प्रमाद न कर [भूत्यै, न, प्रमदितव्यम्] उन्नति से प्रमाद न कर [स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्, न, प्रमदितव्यम्] पढ़ने और पढ़ाने से प्रमाद न कर

॥ १ ॥ [देवपितृकार्याभ्याम्, न, प्रमदितव्यम्] देव यज्ञ और पितृयज्ञ से प्रमाद न कर [मातृदेवः, भव] माताको देवता मानने वाला हो [पितृदेवः, भव] पिता को देव मानने वाला हो (आचार्यदेवः, भव) आचार्य को देव माननेवाला हो (अतिथिदेवः, भव) अतिथि को देव मानने वाला हो (यानि, अनवद्यानि, कर्माणि) जो अनिन्दित कर्म हैं, तानि, सेवितव्यानि) वे सेवनीय हैं (नो, इतराणि) अन्य नहीं (यानि, अस्माकम्, सुचरितानि) जो हमारे सुचरित्र हैं [तानि, त्वया, उपास्यानि) वे तुम से उपासनीय हैं [नो, इतराणि] अन्य नहीं ॥ २ ॥ [ये, के, च, अस्मत्, श्रेयांसः, ब्राह्मणाः] और जो कोई हममें श्रेष्ठ ब्राह्मण हों [तेषां, त्वया, आसनेन, प्रश्वसितव्यम्) उनका तुमको आसनादि से सत्कार करना चाहिए [श्रद्धया, देयम्] श्रद्धासे दान करना चाहिये [अश्रद्धया, देयम्] अश्रद्धा से देना चाहिए [श्रिया, देयम्] प्रसन्नता से देना चाहिए [ह्रिया, देयम्] लज्जासे देना चाहिए [भिया, देयम्] भय से देना चाहिये [संविदा देयम्] सम्मान से देना चाहिए । [अथ, यदि, ते, कर्मविचिकित्सा, वा, वृत्तविचिकित्सा, वा, स्यात्] इस के उपरान्त यदि तुमको कर्ममें सन्देह वा चरित्रमें सन्देह हो ॥ ३ ॥ [ये, तत्र, ब्राह्मणाः, सम्मर्शिनः, युक्ताः, आयुक्ताः, अलूक्षाः धर्मकामाः, स्युः] जो वहां अच्छे विचार वाले, स्वयं धर्म निर्णय में प्रवृत्त, अथवा इसकाम नियोजित किये हुवे, सरल, धर्मात्मा ब्राह्मण हों [यथा, ते, तत्र वर्त्तेरन्] जैसे वे उसमें वर्तें [तथा, तत्र, [वर्त्तेथाः] वैसे ही उनमें वर्त्तो । [अथ, अभ्याख्यातेषु] अब जिनमें मतभेद हो [ये, तत्र, सम्मर्शिनः, युक्ताः, अयुक्ताः, अलूक्षाः, धर्मकामाः ब्राह्मणाः स्युः] उनमें भी जो सुविचार

युक्त, स्वयं धर्म निर्णयमें प्रवृत्त अथवा नियोजित, दयालु] धर्मात्मा ब्राह्मण हों [यथा, ते, तेषु, वर्त्तेरन्] जैसे वे उनमें वर्त्तें [तथा, तेषु, वर्त्तेथाः] वैसे ही उनमें वर्त्तो । [एषः, आदेशः] यह आदेश है [एषः, उपदेशः] यह उपदेश है [एष, वेदोपनिषद्] यही वेदोपनिषद् है [एतद्, अनुशासनम्] यही अनुशासन है [एवम्, उपासितव्यम्, एवम्, उ, च, उपास्यम्] ऐसा ही आचरण करना चाहिए, ऐसा ही आचरण करना चाहिए । वीप्सा में द्विर्वचन है ॥

भावार्थः—साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर और ब्रह्मचर्य्य आश्रम की अवधि को समाप्त कर जब शिष्य गुरुके आश्रम से गृहस्थ धर्मका पालन करने के लिए घरको जाता है, उस समय का यह उपदेश है। इसमें संक्षेप से वे सब कर्त्तव्य बतलादिये गये हैं, जिनका दार परिग्रह के पश्चात् एक गृहस्थको पालन करना चाहिए। इसमें 'सत्यंवद' से लेकर 'संविदा देयम्' तक कर्त्तव्य कर्मोंका उपदेश कियागया है, जिसमें यह भी कहागया है कि हमारे उत्तम और शुचरित्रों का ही तुमको आचरण करना चाहिए, अन्यों का नहीं। इससे सिद्ध है कि ऋषि लोग अपनी मनुष्यता का अनुभव करते थे और यह जानते थे कि कि हममें भी भूल या त्रुटिका होना सम्भव है। इसीलिए वे शिष्यों को अपना अन्ध अनुगामी बनाना नहीं चाहते थे। दूसरी बात यह है कि इसमें जहां श्रद्धासे दान देना कहागया है, वहां अश्रद्धा से भी देना कहा है परंतु अश्रद्धा से किये गये दान का तो कुछ महत्व नहीं रहता। इस का उत्तर यह है कि श्रद्धा से जो दान दिया जाता है, उसकी अपेक्षा अश्रद्धा से दिया हुवा दान निकृष्ट है, किन्तु बिलकुल दान न करने की अपेक्षा अश्रद्धा से किया हुवा दान

भी उत्तम है। अखिल तन्त्र स्वतन्त्र श्रीमान् शंकराचार्य "अ-श्रद्धयादेयम्" इसवाक्य का पदच्छेद "अश्रद्धया अदेयम्" अर्थात् "अश्रद्धासे नहीं देना चाहिए" ऐसा करते हैं। परन्तु श्रीमान् विद्यारण्य स्वामी "अश्रद्धया. देयम्' 'अश्रद्धा से देना चाहिए' ऐसा ही पदच्छेद करते हैं। यद्यपि व्याकरणानुसार इस पदके दोनोंही अर्थ होसकते हैं. तथापि प्रसङ्गानुसार उत्तर पक्ष ही ठीक मालूम होता है। अन्यथा श्रिया देयम्. भिया देयम्' इत्यादिमें भी सवर्ण दीर्घ सन्धि करनी पड़ेगी जोकि श्री स्वामी शङ्कराचार्य को भी इष्ट नहीं

तीसरी बात जो सब से अधिक हमारे ध्यान देने योग्य है वह सन्दिग्ध या विवादास्पद विषयों पर विचारशील, चरित्र-वान् और तटस्थ मनुष्यों की सम्मति से लाभ उठाना है। हम ऐसे अवसरों पर प्रायः अपनी सम्मति को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं और झटपट बिना पूर्वापर अनुसन्धान किये बड़े से बड़े विवादास्पद विषय का निर्णय कर बैठते हैं। या भावावेश में आकर आंखें मींच कर प्रवाह में बहने लगते हैं। ये दोनों ही बातें हमारी विवेचन शक्ति को कुण्ठित करने वाली हैं। अत-एव सन्दिग्ध विषयों में अपने विवेक को पुष्ट करने के लिए हमें विद्वानों की सम्मति और चरित्रवानों के आचरण की आवश्यकता है। सम्मति का केवल हम आदर करसकते हैं, परन्तु अनुकरण सदा चरित्र का किया जाता है। तभी तो श्रुति में कहा गया है कि धर्मात्मा, सदाचारी और निष्पक्ष ब्राह्मणों का विवादास्पद विषयों में जैसा आचरण हो, वैसा ही तुम भी करो नकि मूर्ख, स्वार्थी और दुश्चरित्रों का। समस्त वेद और शास्त्रों का निष्कर्ष यही है कि मनुष्य धर्मात्मा, सदा-चारी, और कर्तव्य परायण हो, उसी का संक्षेप से निदर्शन

इस श्रुति में किया गया है । इसीलिए श्रुति के अन्त में यह कहना कि यही वेदोपनिषद् है, वही आदेश और अनुशासन है मुमुक्षु को पहले इसी धर्म का पालन करना चाहिए। सर्वथा उपयुक्त है।

अथ द्वादशोऽनुवाकः

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णु रुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ओ३म् शान्तिः ॥

इति द्वादशोऽनुवाकः ।

इतिशिक्षाध्यायः प्रथमावल्लीच समाप्ता ।

भावार्थ—इस मन्त्र से इस वल्ली के आदि में भी मङ्गलाचरण किया गया था और अब अन्त में भी किया गया है। इस का अर्थ ग्रन्थारम्भ में लिख चुके हैं। केवल इतना भेद है कि आरम्भ के मन्त्र में 'ब्रह्मवदिष्यामि' इत्यादि वाक्यों में भविष्यकालिक क्रिया का प्रयोग किया गया है और यहाँ 'ब्रह्मवादिषम्' इत्यादि में भूतकालिक। सो उचित ही है। क्योंकि जब ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं, तब जो कुछ भी प्रतिज्ञा की जायगी, भविष्य के लिये, क्योंकि भूत तो उस समय कुछ है ही नहीं। और जब ग्रन्थ समाप्त होगया, तब भविष्य कुछ न रहा, अतएव इस समय भूत के लिए प्रार्थना करना उचित होगा। जो कि इस मन्त्र में की गई है।

यह शिक्षाध्याय और पहली वल्ली समाप्त हुई।

अथ ब्रह्मानन्दवल्ली–प्रथमोऽनुवाकः

ओ३म् सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै॥ ओ३म् शान्तिः ३॥

पदार्थः—[सह नौ अवतु] साथ २ हमदोनों की रक्षा करे [सहनौ भुनक्तु] साथ २ हम दोनों का पालन करें [सह वीर्यम् करवावहै] साथ २ बल को प्राप्त करें [नौ अधीतम् तेजस्वि अस्तु] हम दोनों का ज्ञान प्रभावशाली हो [मा विद्विषावहै] हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

भावार्थः—प्रत्येक कार्य के आरम्भ वा अन्त में ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये। आरम्भ में इसलिए कि ईश्वर के अनुग्रह से हमारा प्रारब्ध कार्य निर्विघ्न और शान्तिपूर्वक पूर्ण हो अंतमें इसलियेकि जिसकी अपार दया से हमारा कार्य निर्विघ्न पूर्ण हुवा, उस ईश्वर का हम धन्यवाद करते हैं। इस मंत्र में गुरु शिष्य दोनों मिलकर साथ २ ईश्वर से प्रार्थना करते हैं— भगवन्! आप हमारी रक्षा और पालन करें। आप की दया से हमारा ज्ञान विकसित और प्रभावशाली हो और हम कभी एक दूसरे का द्वेष न करें।

ओ३म्। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्। सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तर पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

पदार्थः-[ब्रह्मविद् आप्नोति परम्] ब्रह्मज्ञानी परमात्मा को पाता है [तद् एषा अभिउक्ता] इस विषय में यह ऋचा कही गई है-[सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म] अविनाशी, ज्ञानमय और अनन्त ब्रह्म है। उस को [यः परमे व्योमन् गुहायाम् निहितम् वेद] जो सूक्ष्म हृदयाकाश की गुहा में अर्थात् बुद्धि में अवस्थित जानता है। [सः सर्वान् कामान् सह विपश्चिता ब्रह्मणा इति अश्नुते] वह सब इष्ट अर्थों को ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के साथ भोगता है। [तस्म द् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः] उस वा इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुवा। [आकाशाद् वायुः] आकाश से वायु [वायोः अग्निः] वायु से अग्नि [अग्नेः आपः] अग्नि से जल [अद्भ्यः पृथिवी] जलों से पृथिवी [पृथिव्याः ओषधयः] पृथिवी से ओषधियां [ओषधीभ्यः अन्नम्] ओषधियों से अन्न। [अन्नाद् रेतः] अन्न से वीर्य [रेतसः पुरुषः] वीर्य से पुरुष [सः वै एषः पुरुषः अन्न रसमयः] सो निश्चय वह पुरुष अन्नरसमय है [तस्य इदम् एव शिरः] उसका यह ऊर्ध्वभाग है [अयम् दक्षिण पक्षः] यह दक्षिण भाग है [अयम् उत्तरः पक्षः] यह उत्तर भाग है। [अयम् आत्मा] यह हृदय है [इदम् पुच्छम् प्रतिष्ठाः] यह पुच्छ स्थिति का कारण है [तद् अपि एषः श्लोकः भवति] इसी विषय में यह श्लोक भी है॥

भावार्थः-इस दूसरे अध्याय में ६ अनुवाक हैं, जिनका विषय नाम से ही प्रकट है। ब्रह्म के आनन्द का वर्णन होने से ही इसका नाम ब्रह्मानंद वल्ली है। पाठकों को संदेह अवश्य होगा कि ब्रह्मानंद वल्ली में तो ब्रह्म का निरूपण होना चाहिए इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और स्थूल शरीरके अवयवों का वर्णन अप्रासङ्गिक है?

पाठक! समस्त उपनिषदों में अपरा और परा दोनों विद्याओं का वर्णन है। इनमें अपरा पहिली और परा पिछली है, जोकि इन के नाम से ही प्रकट है। पहिली सीढियों को लांघकर ही हम अन्त की सीढी में पहुंच सकते हैं और यही क्रम लोक में तथा शास्त्र में सर्वत्र आदरणीय है। मुण्डक उपनिषद् में तो चारों वेदों को इसीलिए अपरा कहागया है कि वे सांसारिक घटनाओं के उपदेश द्वारा हमको ब्रह्म की ओर लेचलते हैं। प्राकृतिक नियम भी यही है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। रासायनिक प्रक्रिया में भी किसी वस्तु के सार भाग को जानने के लिये उसके बहुत से स्थूल भागों का अन्वेषण करना पड़ता है। इसी क्रम का अनुसरण करते हुवे उपनिषद्कार ऋषि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं इस ब्रह्म" ब्रह्म का निर्वचन और "योवेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इस वाक्य से उसका बुद्धिगम्य होना कहकर यह सारी स्थूल सृष्टि जिस प्रकार और जिस क्रम से उस आत्मा से उत्पन्न हुईहै उसको दिखलातेहैं अर्थात् अन्नमय कोशसे आरम्भ संयुक्त हो करके आनन्द मय कोप में इसका अवसान करते हैं:—

उक्त श्लोक में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम दिखाया गया है सब से पहले आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई, इसका यह आशय नहीं है कि आकाश कोई भौतिक द्रव्य है और आत्मा उसका उपादान कारण है। नहीं प्रलय में जब कि प्राकृतिक परमाणुओं से आकाम आच्छादित था, जैसा कि वेद कहते हैं:—"तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रे" उस समय सिवाय आत्मा के और कुछ नहीं था। आत्मा की प्रेरणा से सब से पहले वे व्यष्टि रूप से लिखे हुवे परमाणु संयुक्त होकर जिन्हों ने संपूर्ण आकाश मण्डल को घेरा हुवा था, समष्टि रूप में आने

लगे, जिस से अवकाश की उत्पत्ति हुई और यही आकाश का उत्पन्न होना है। आकाश में अवकाश मिलने पर गति-शील वायु संचरण करने लगा। वायु ने अग्नि को उत्तेजित किया अग्नि ने अपने ताप से जलों को द्रवीभूत किया। जलों ने पार्थिव परमाणुओं को जो विश्लिष्ट होरहे थे, संश्लिष्ट करके पृथिवी को बनाया। पृथिवी के पश्चात् फिर ओषधि और अन्नादि उत्पन्न हुवे। अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीरों उत्पत्ति हुई। शरीर अन्न रसमय है। अर्थात् अन्न से ही शरीर के अंग शिर, बाहु और हृदय आदि पुष्ट होते हैं"

इस लिये सबसे पहले अन्नमय कोश है, जिसका यह शरीर अधिष्ठान है, जिसका उर्ध्वभाग शिर है, दक्षिण और और उत्तर भाग दोनों भुजा हैं, मध्य भाग पुच्छ। है। पक्ष और पुच्छ की कल्पना इस लिये की गई है कि यह शरीर एक उत्पर का उड़ने वाले पक्षि से उपमित किया जा सके। जैसे परों वाले पक्षी की गति आकाश में अनव रुद्ध है, ऐसे ही आत्मवान् शरीर को गति ब्रह्मज्ञान में अव्याहत होनी चाहिए, अर्थात् वह केवल अन्नमय कोशका ही कीड़ा न बनारहे किन्तु आगे बढने की भी चेष्टाकरे, अर्थात् खाना पीना और शरीर को स्थूल बनाना ही अपने जीवन का उद्देश न समझै। अगले श्लोक में इस अन्नमय कोश से प्राणमय कोष की भिन्नता दिखलाई गई है।

इति प्रथमोऽनुवाकः॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः।

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो-अन्नेनैव जीवन्ति। अथैन दपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां

ज्येष्ठमं । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वैतेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषध मुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते । अद्यते ऽत्ति च भूतानि । तस्मान्नं तदुच्यत इति । तस्माद्वा एतस्मा दन्नरस मया दन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः सवा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुष विधताम् । अन्वयं पुरुष विधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येष श्लोको भवति ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

पदार्थः—(अन्नाद्, वै, प्रजाः, प्रजायन्ते) अन्न से सन्तान उत्पन्न होते हैं (याः, काः च, पृथिवीम्, श्रिताः) जो कोई पृथिवी में रहते हैं (अथो, अन्नेन, एव, जीवंति) अन्न से ही जीते हैं (अथ, अंततः, एतत्, अपि यंति) और अंत को इसी में लीन होते हैं (अन्नम्, हिं, भूतानाम्, ज्येष्ठम्) अन्न ही उत्पन्न हुवे पदार्थों में सब से बड़ा है (तस्मात्, सर्वौषधम्, उच्यते) इस लिये सर्वौषध कहलाता है । ये, अन्नम् ब्रह्म उपासते) जो अन्नरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं (ते वै सर्वम्, अन्नम् आप्नुवंती) वे सब प्रकार से अन्न को प्राप्त होते हैं (अन्नम् हि भूतानाम्, ज्येष्ठम् तस्माद्, सर्वौषधम्, उच्यते) द्विरावृत्ति अन्न की श्रेष्ठता जतलाने के लिए है । अन्नाद् भूतानि, जायंते) अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं जातानि, अन्नेन, वर्द्धते) उत्पन्न हुवे अन्न से बढ़ते हैं (अद्यते, अत्ति, च, भूतानि, तस्माद्, अन्नम्, तद, उच्यते) जो प्राणियों से खायाजाता है और प्राणियों को खाता है, वह अन्न कहलाता है (तस्माद, वै एतस्माद, अन्नरसमयाद्,

अन्यः अन्तरः आत्मा प्राणमयः) उस अन्नरसमय आत्मा से प्राणमय अन्तरात्मा भिन्न है [तेन एषः पूर्णः] उस प्राणमय आत्मा से यह अन्नरसमय आत्मा अर्थात् शरीर परिपूर्ण है [स वै एषः पुरुषविधः, एव) वह निश्चय यह भी पुरुषके समान है [तस्य पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुष विधः] उसके पुरुष सादृश्य के अनुकूल ही यह भी पुरुष के सदृश है। [तस्य प्राणः एव शिरः] उसका प्राण ही शिर है [व्यानः दक्षिणः पक्षः व्यान दहिना पक्ष है [अपानः उत्तरः पक्षः] अपान बायां पक्ष है [आकाशः आत्मा] आकाश आत्मा है [पृथिवी] पुच्छम् प्रतिष्ठा] पृथिवी पुच्छ रूप स्थिति का कारण है [तद् अपि एषः श्लोकः भवति] इस विषय में यह श्लोक भी है।

इससे अगली भृगुवल्ली में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येनजातानि जीवन्ती यत्प्रयन्त्यभि संविशन्तीति तद्ब्रह्म" इस वाक्यसे ब्रह्मसेही जगत्का उत्पन्न होनाबढ़ना और अन्तमें इसी में लय होना माना गया है। अन्नमय कोष में रमण करने वाले अन्नकोही ब्रह्म मानते हैं इसलिये ब्रह्मके धर्मोंको अन्न में ही आरोपित करके वे उसकी उपासना करते हैं। यह उनकी पहली सीढ़ी है। यद्यपि इस श्रुति में जो अन्न का निर्वचन किया गया है वह ब्रह्म में भी घटता है, तथापि यहां पर अन्न को ब्रह्म का पर्याय नहीं माना गया है। किंतु स्थूल दर्शी लोग इसी पार्थिव अन्न में ब्रह्म की भावना करके उपासना करते हैं। इसलिये कि ब्रह्म के समान अन्न से भी समस्त प्राणी उत्पन्न होते, बढ़ते और उसी में लीन होते हैं। "सब से खाया जाता है और सब को खाता है, इसी लिए वह अन्न है" यह अन्नमय आत्मा की उपासना जो शरीर में की जाती है, सब से स्थूल उपासना है; इस से आगे चलकर

प्राणमय आत्मा की उपासना है, जो इसकी अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है। अर्थात् वह प्राण मय आत्मा, इस अन्नमय आत्मा शरीर से भिन्न है, इसलिये कि वह इस शरीर में परिपूर्ण होरहा है। अन्नमय आत्मा के समान प्राणमय आत्मा भी पुरुषावध है। इसको पुरुष के समान मान कर ही शिर आदि अङ्गों की इस में भी कल्पना की गई है। प्राण वायु इसका शिर है, व्यान दहना और अपान वायां पक्ष है, आकाश हृदय और पृथिवी पुच्छ है, अगला श्लोक भी इसी को पुष्टिकरता है:—

अथ तृतीयोऽनुवाकः ।

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्चये। प्राणोहि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणोहि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते इति। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् अन्योन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। सवा एषा पुरुषविध एव। तस्य पुरुष विधताम् अन्वयं पुरुष विधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तर पक्षः। आदेशआत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥

इति तृतीयोऽनुवाकः।

पदार्थः—(ये, देवाः, मनुष्याः, पशवः, च प्राणम्, अनुप्राणन्ति) जो देव मनुष्य और पशु हैं, वे प्राण से जीवित हैं (प्राणः, हि, भूतानाम्, आयुः) प्राण ही भूतों का आयु है (ये प्राणम् ब्रह्म, उपासते, सर्वम्, एव आयुः, यन्ति) जो प्राण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं (तस्मात्, सर्वायुषम्, उच्यते) इसलिये प्राण सर्वायुष कहलाता है।

द्विरावृत्ति प्राण की श्रेष्ठता दिखलाने के लिये की गई है। (तस्य, एषः एव, शरीरः, आत्मा, यः, पूर्वस्य) उसका भी शारीरिक आत्मा वैसे ही है, जैसाकि पहले का था। (तस्माद्, वा, एतस्माद्, प्राणमयाद्, अन्यः, अन्तरः आत्मा, मनोमयः) इस प्राणमय आत्मा से अन्यः मनोमय अन्तरात्मा है (तेन, एषः पूर्णः) उस से यह पूर्ण है [सः वै एषः पुरुष विध एव] यह वह भी पुरुष विध है (तस्य, पुरुष विधताम् अनु अयम् पुरुष विधः) उसकी पुरुष विधताम् के अनुकूल ही यह भी पुरुष विध है (तस्य यजु एव शिरः) उसका यजुर्वेद शिर है (ऋग्, दक्षिण, पक्षः) ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है (साम, उत्तरः, पक्षः) सामवेद उत्तर पक्ष है (आदेशः आत्मा) उपदेश हृदय है। अथर्वांगिरसः पुच्छम्ः प्रतिष्ठा) अथर्व वेद पुच्छ रूप प्रतिष्ठा है। इसी विषय में यह श्लोक है।

भावार्थः—प्राण ही समस्त प्राणियों का जीवनाधार है, अतएव प्राणायामादि के द्वारा जो मनुष्य इसका नियन्त्रण करते हैं वे दीर्घायु को प्राप्त होकर बहुत कालतक सृष्टि में विचरण करते हैं। जो लोग इस प्राणमय कोश की उपासना करते हैं, वे यद्यपि अन्नमय कोश के उपासकों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, तथापि जो लोग मनोमय कोश में रमण करते हैं, उनकी अपेक्षा अधर हैं। यद्यपि प्राणमय कोश की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ही मनोमय कोश में प्रवेश किया जाता है, तथापि वह इससे भिन्न है। इसमें प्राण को ही लक्ष्य मानकर उसका पोषण किया जाता है जोकि असुरों का काम है परन्तु मनोमय कोश में जाकर हम संकल्प विकल्प से काम लेते हैं अर्थात् विहित का आचरण और विरुद्ध का त्याग करने की क्षमता हम में उत्पन्न होती है और यहीं से शास्त्र का अनुशासन और विचार

का अनुसन्धान आरम्भ होता है, जिस के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान के स्रोत वेद हैं क्यों कि वेद शब्द ज्ञान काही पर्याय वाचक है। अतएव इसके पौरुषालङ्कार में यजुर्वेद को शिर एवम् ऋक् और साम को दक्षिण और उत्तर पक्ष तथा अथर्व को पुच्छ कहा गया है। इनमें जो उपदेश है, वही इसका आत्मा है। इस प्रकार जो वेदादि से ज्ञान प्राप्त करके अनुसन्धान करते हैं, वे ही मनोमय कोश के सच्चे उपासक हैं। इससे कोई अन्नमय और प्राणमय कोशको अनावश्यक न समझें, क्योंकि जिनके शरीर और प्राण दुर्बल हैं, उनका मन बलवान् कदापि नहीं हो सकता।

अथ चतुर्थोऽनुवाकः।

यतो वाचो निवर्तन्ते; अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति। तस्यैव एव शारीर आत्मा; यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्, अन्योन्तर आत्मा विज्ञान मयः। तेनैष पूर्णः। सवा एष पुरुष विधएव। तस्य पुरुष विधताम्, अन्वयं पुरुष विधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिण पक्षः। सत्यमुत्तर पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोकः भवति।

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

पदार्थः—(मनसा, सह, वाचः) मन के साथ वाणियां ब्रह्म को (अप्राप्य) न पाकर (यतः निवर्त्तन्ते) जहांसे लौट आती हैं (ब्रह्मणः आनन्दम्) ब्रह्म के आनन्द को (विद्वान्) जानने वाला (कदाचन, न, बिभेति) कभी कहीं नहीं डरता। (तस्य एषः एवः, शारीरः, आत्मा) उसका यही शारीरिक आत्मा है [यः पूर्वस्य) जो पहलेका था। (तस्मात्, वै एतस्माद् मनोमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा विज्ञानमयः) उस मनोमय

आत्मासे भिन्न दूसरा विज्ञानमय आत्मा है। (तेन एषः पूर्णः) उससे यह व्याप्त है। (सः वः एषः पुरुष विधः एव) वह यह भी पुरुष विध है (तस्य पुरुष विधताम् अनु, अयं पुरुष विधः) उसकी पुरुष विधता के अनुरूप ही यह पुरुषविध है। (तस्य श्रद्धा एव शिरः) उसका श्रद्धाही शिर है। (ऋतं दक्षिणः पक्षः) ऋत दक्षिण पक्ष है (सत्यम् उत्तरः पक्षः) सत्य उत्तर पक्ष है (योगः आत्माः) योग आत्मा है (महःपुच्छ प्रतिष्ठा) महत्तत्व का कार्य बुद्धि पुच्छरूप प्रतिष्ठाहै (तद् अपि एषः श्लोकः भवति) इसपर यह अगला श्लोक भी है।

भावार्थः—यद्यपि शरीर और प्राण की अपेक्षा मन ब्रह्म प्राप्ति का एक विशेष साधन है तथापि रजोगुणात्मक होनेसे वह चञ्चल है अतएव जबतक योग द्वारा वह बुद्धि के अनुकूल नहीं बनाया जाता तब तक वह आत्मज्ञान के लिये उपयोगी नहीं बन सकता। इसी चौथी कक्षाका नाम जिसमें मनकी चञ्चलता नष्ट होकर वह सात्विक बुद्धि का अनुगामी हो जाता है इस उपनिषद् की परिभाषा में विज्ञानमय कोश है। वह मनोमय कोश से भिन्न है अर्थात् उसमें हम केवल शब्द ब्रह्म की उपासना करते हैं इसमें हम बुद्धि के द्वारा उनके वाच्य (तात्पर्य) का अनुशीलन करतेहैं। आत्माका यथार्थ ज्ञान हमें इसी कक्षा में आकर होता है। यद्यपि ब्रह्मानन्द का अनुभव हमको इससे अगली कक्षा में जाकर होता है। तथापि आत्मा का विकाश यहीं से आरम्भ होता है आनन्दमय कोष में तो वह पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

पूर्व कोशों के समान इसको भी शरीर से उपमित किया गया है इस विज्ञानमय शरीर का शिर श्रद्धा है, जब तक शास्त्र या गुरुवाक्य पर श्रद्धा नहो, तब तक हृदय में ज्ञान का प्रकाश

नहीं होता । शास्त्र और अंतःकरण ये दो इसके पक्ष हैं, जिनसें यह ज्ञानाकाश में उड़ता है । चित्त वृत्तियों का [जो चारों ओर फैली हुई यथार्थ ज्ञान की बाधक हैं] निरोध ही इसका आत्मा है और बुद्धि ही जिसके सहारे से यह अनंत ज्ञानाकाश में स्थिर रहता है विचलित और विस्खलित नहीं होने पाता, इसकी पूंछ है ।

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ।

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्मज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्मचेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान् कामान् समश्नुत इति (तस्यैष) एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञान मयात्, अन्योन्तर आत्माऽनन्द मयः । तेनैष पूर्णः । सवा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविध, । तस्य प्रियमेवशिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

पदार्थः—विज्ञानं, यज्ञं, तनुते) ज्ञान यज्ञ को विस्तृत करता है । (कर्माणि, अपि, तनुते च) कर्मों को भी विस्तार देता है । (सर्वे, देवाः, ब्रह्मज्येष्ठं, विज्ञानम्, उपासते) सब देवता एक ब्रह्म ही जिससे बड़ा है ऐसे ज्ञान की उपासना करतेहैं । (विज्ञानं, ब्रह्म, चेद्, वेद) विज्ञान ब्रह्म है, यदि ऐसा जानता है (तस्माद्, चेद्, न, प्रमाद्यति) यदि उससे प्रमाद नहीं करता (शरीरे, पाप्मनः, हित्वा) शरीर में वर्त्तमान पापों को त्याग कर (सर्वान्, कामान्, समश्नुत, इति) सब

इच्छाओं को प्राप्त होता है। (तस्य, एषः, एव, शरीरः, आत्मा यः, पूर्वस्य) उसका यही विज्ञान शारीरिक आत्मा है, जोकि पहले था। (तस्माद्, वै, एतस्माद्, विज्ञानमयाद्, अन्यः अन्तरः, आत्मा, आनन्दमयः) उस विज्ञानमय आत्मा से इतर आनन्दमय आत्मा है। (तेन, एषः, पूर्णः) उससे यह व्याप्त है (सः, वै, पुरुषविधः, एव) वह भी पुरुषविध है (तस्य, पुरुषविधताम्, अनु, अयं, पुरुषविधः) उसकी पुरुषविधता के अनुकूल ही यह भी पुरुष विध है। [तस्य, प्रियम्, एव, शिरः] उसका प्रेम ही शिर है [मोदः, दक्षिणः, पक्षः, प्रमोदः, उत्तरः, पक्षः] मोद और प्रमोद दक्षिण और उत्तर पक्ष हैं। आनन्द आत्मा है। [ब्रह्म, पुच्छं, प्रतिष्ठा] ब्रह्म पुच्छ रूप प्रतिष्ठा है। [तद्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति] उसीपर यह अगला श्लोक भी है।

भावार्थः—ज्ञान के द्वारा ही समस्त यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है और ज्ञान से ही सारे व्यक्ति गत कर्म भी संपन्न होते हैं। इससे बड़ा केवल एक ब्रह्मही है, जिसको हम इसके द्वारा प्राप्त करते हैं। जबतक मुमुक्षु आनन्द मय कोश में प्रवेश नहीं करता, तबतक वह विज्ञान रूप ब्रह्मकी ही उपासना करता है। क्योंकि जबतक वह ज्ञान को अपना लक्ष्य या उद्देश्य नहीं बनाता, तब तक उसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए श्रुति में कहागया है कि जो विज्ञान को ब्रह्म जानता है और उसकी प्राप्ति में प्रमाद नहीं करता, वह अज्ञान कृत मल, विक्षेप, आवरणों को (जो आत्मज्ञान के प्रतियोगी हैं) दूर करके अपने अभिष्ट को सिद्ध करता है। यद्यपि यह विज्ञान मय आत्मा पूर्वोल्लिखित तीनों आत्माओं से श्रेष्ठ है और बिना इसके विकासके कोई महानन्द का अनुभव नहीं कर

सकता। तथापि इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तथा ध्याता, ध्येयऔर ध्यान इनतीनोंमें भेद रहताहै इसीलिये इस दशामें वह आत्म ज्ञान का उपलब्धि तो करता है, परन्तु आत्मानन्द का अनुभव उसे तबही होता है, जब वह आनन्दमय कोश में विचरण करता है। इसी कक्षा में पहुंचकर मुमुक्षु मुक्त होजाता है और वह अपने ज्ञान, ध्यान यहांतक कि अपनी सत्ताको भी ब्रह्म में लीन करदेता है। इसीलिये विज्ञानमय आत्मासे आनन्दमय आत्मा भिन्न है, उसमें हम श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं और इस में ब्रह्ममय होकर अर्थात् अपनी सत्ता को भुलाकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। यही इसकी विशेषता है। इसको भी शरीरसे उपमित किया गया है। इस आनन्दमय शरीरका शिर प्रेम है, ज्ञानसे हम ब्रह्मको जान सकते हैं, पर बिना प्रेम के हम उसको पा नहीं सकते। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्" । जो उसको चाहता है, उसको वह भी चाहता है। प्रेमशून्य हृदय कदापि ब्रह्म का अधिकरण नहीं होसकता। प्रेम से उत्पन्न हुवे जो मोद और प्रमोद हैं, वेही इसके दोनों बाजू हैं, और आनन्द ही आत्मा है और वह ब्रह्म जिसके आनन्द में वह रमण करता है, इसका पुच्छ रूप आधार है। इसीपर अगला श्लोक भी है।

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

असन्नेव सभवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेन ततो विदुरिति । तस्यैष एव शरीर आत्मा, यः पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य, कश्चन गच्छतीति ३ ? आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य, कश्चित्समश्नुता ३ उ १ सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । सतपोऽ-

तप्यत। सतपस्तप्त्वा। इदꣳसर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य, सच्च त्यच्चाऽभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चानिलयनञ्च। विज्ञानञ्चा-विज्ञानञ्च। सत्यञ्चानृतञ्च। सत्यमभवत्। यदिदंकिञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

इतिषष्ठोऽनुवाकः।

पदार्थः—[असद्, ब्रह्म, इति, वेद, वेद] ब्रह्म असद् है, ऐसा जो जानता है, [सः, असद्, एव, भवति] वह असद् ही होता है। [ब्रह्म, अस्ति, इति, चेद्, वेद] ब्रह्म है ऐसा जो जानता है [ततः, एनं, सन्तम्, इति, विदुः] इसकारण इसको सत्तावाला जानते हैं। [तस्य, एषः, एव, शरीरः, आत्मा, यः, पूर्वस्य] उसका यही शारीरिक आत्मा है, जो पूर्वका था। [अथ, अतः, अनुप्रश्नाः] अब इस उपदेश के अनन्तर ये प्रश्न हैं। [उताविद्वान्, अविद्वान्, प्रेत्य, अमुम्, लोकम्, गच्छति] क्या कोई ब्रह्मको न जानने वाला मरकर इस लोक को जाता है। [आहो, कश्चिद्, विद्वान्, अमुम्, लोकम्, समश्नुते] या कोई ब्रह्म को जाननेवाला मरकर इसलोक को भोगता है? [सः, अकामयत] उस सद् ब्रह्मने इच्छा की कि [बहु, स्याम्, प्रजायेय, इति] बहुत होऊं और उत्पन्न होऊं। [सः, तपः, अतप्यत] उसने तप तपा [सः, तपः, तप्त्वा, इदं, सर्वम्, असृजत] उसने तप तपकर इस सबको उत्पन्न किया [यद्, इदम्, किम्, च] जो कुछ कि यह है। [तत्, सृष्ट्वा, तद्, एव, अनुप्राविशत्] उसको सृजकर उसमें स्वयं अनुप्रविष्ट हुवा [तद्, अनुप्रविश्य, सत्, च, त्यद्, च, अभवत्] उसमें प्रवेश करके मूर्त्त और अमूर्त हुवा [निरुक्तम्, च, अनिरुक्तम्, च] आधेय और आधार [विज्ञानम्,

च, अविज्ञानम् च] चेतन और जड [सत्यम् , च, अनृतम् , च] सत्य और असत्य [सत्यम्, अभवत्] सत्य हुवा [यद्, इदम् , किम् , च] जो कुछ कि वह है [सत्यम्; इति, आचक्षते] सत्य कहलाता है [तद्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति] इसी विषय पर यह श्लोक भी है।

भावार्थः—इस श्लोक में यद्यपि इस प्रश्न का कि विद्वान् ब्रह्म लोक के सुख को भोगता है, या अविद्वान्? कुछ उत्तर नहीं दिया गया। तथापि आरम्भ में ही यह कह देने से कि जो ब्रह्म की सत्ता को नहीं मानता वह अपने होने से ही इन्कार करता है और जो मानता है, वह अपने अस्तित्व को स्थापित करता है, उक्त प्रश्न का समीचीन उत्तर हो जाता है। अब यह प्रश्न होता है कि पूर्वसे पञ्च कोशों का प्रसङ्ग चला आता है, उसको छोड़ कर इस श्लोक में सृष्टिउत्पत्ति का वर्णन क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि विद्वान् उपनिषद्कार ने अपना लक्ष्य नहीं छोड़ा है। पूर्व श्लोक में जिस आनन्दमय कोश का वर्णन किया गया है, उसका अधिकारी कौन है,? यह श्लोक बताकर पुनः जो सृष्टि का वर्णन किया गया है, वह आनन्द से पहले सत् और चित् का प्रति पादन करने के लिये है। क्योंकि जबतक सत् प्रकृति और चित् जीवात्मा न हो, तब तक आनन्द का अनुभव कौन और किसमें करे? इसीलिये इस श्लोक में कहा गया है जब आरम्भ में कुछ न था, अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा भी ब्रह्म में लीन थे तब ब्रह्म ने चाहा कि वह एकत्व अनेकत्वमें परिणत हो जाये, इसके लिये उसने तप किया, उसका तप क्या है "यस्य ज्ञानमयं तपः" वह स्वयं ज्ञानमय है इसलिये इसमें प्रविष्ट होकर उसने इस सृष्टिके दो विभाग किये। एक सत् और दूसरा असत्। इन्हीं को स्थूलसूक्ष्म

जड़, चेतन, मूर्त अमूर्त, सत्य और अनृत नामों से निर्देश करते हैं। सृष्टि में जो कुछ कि है उसी को सत्य कहते हैं और जो नहीं है, वह असत्य है। जगत् को मिथ्या या स्वप्नवत् या शशशृङ्ग कहने वाले इसपर ध्यान दें। इस प्रकार सत् और चित् यह सृष्टि उत्पन्न करके ब्रह्म ने इसमें आनन्द का बीज बोया।

अथ सप्तमोऽनुवाकः।

असद्वा इदमग्रआसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मान ँ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृत मुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथसोऽभयंगतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदर मन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

इति सप्तमोऽनुवाकः॥

पदार्थः—(असद्, वै, इदम्, अग्रम्, आसीत्) यह पहले असद् था (ततः, वै, सद्, अजायत) पीछे सद् हुवा। (तद्, आत्मानम्, स्वयम्, अकुरुत) उसने अपने को स्वयं बनाया (तस्माद्, तत्, सुकृतम्, उच्यते) इसलिये वह सुकृत कहलाता है। (यद्, वै, सुकृतम्) जो सुकृत है (रसः, वै, सः) वह रस है। (रसम्, हि, एव, अयम्, लब्ध्वा, आनन्दी, भवति) रस को ही यह पाकर सुखी होता है। (यदा, एष, आकाशः, आनन्दः न, स्यात्) यदि यह आकाश रूप आनन्द न हो (कः, हि, एव, अन्यात्, कः प्राण्यात्) कौन जीने की चेष्टा करे और कौन श्वास लेवे। (एषः, हि, एवः, आनन्दयाति) यही आनन्द देता है। (यदा, हि एवः, एषः एतस्मिन्, अदृश्ये अनात्म्ये

अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते) जब यह इस अदृश्य जड़ अनिर्वचनीय निराधार आकाशमें निर्भय होकर स्थिति पाता है (अथ सः अभयंगतः भवति) तब वह अभय को प्राप्त होता है (यदा हि एव एषः एतस्मिन्न उत् अरम् अन्तरम् कुरुते) जब यह इसमें थोड़ा सा भी अन्तर करता है (अथ तस्य भयं भवति) तब उसको भय होता है (अमन्वानस्य विदुषः तत् तु एव भयम्) आत्मतत्व को न मानने वाले विद्वान् को आत्म तत्व का अज्ञान ही भय है। (तद् अपि एष श्लोकः भवति) इसपर यह श्लोक भी है।

भावार्थः—इस श्लोक में असद् से सद् की उत्पत्ति कही गई है जो कि विज्ञान शास्त्र के विरुद्ध मालूम होती है। भगवद्गीता में भी "नास्तो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः" असत् के भाव और सत् के अभाव का निषेध किया गया है फिर इस श्रुति में असद् से सद् की उत्पत्ति क्यों कही गई ? इसका उत्तर यह है कि "पहले असद् था फिर सद् उत्पन्न हुवा" इससे श्रुति का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि असद् से सत् उत्पन्न हुवा किन्तु अव्यक्त प्रकृति का उपनिषदों में प्रायः असद् नाम से ही निर्देश किया गया है। अव्यक्त और अनिर्वचनीय प्रकृति का व्यक्त और निर्वचनीय होना ही असद् से सद् की उत्पत्ति है ब्रह्म ने अपने को स्वयं बनाया अर्थात् सृष्टि रूप में प्रकट हुवा इसीलिये उसका नाम 'स्वयम्भू' है। अब प्रकृत आनन्द से इसका सामंजस्य करते हैं। आनन्द या सुख जिसको कहते हैं उसका उत्पत्ति स्थान रस है यद्यपि अलंकार शास्त्र में बीभत्स आदि रसों से दुःख की भी उत्पत्ति मानी गई है तथापि वहभी सुख का ही प्रत्यवाय है। इस रसकी उपलब्धि विना आकाश के नहीं हो सकती। यदि यह आकाश न हो तो न स्थावर बद्ध

सकते हैं और न जङ्गम श्वास ले सकते हैं। जब यह जीवात्मा इस अदृश्य अनिर्वचनीय और निराधार आकाश में अवकाश पाता है तभी अभय होता है। जो इसमें भेद करता है अर्थात् विभु आकाश में ब्रह्म की सत्ता को नहीं मानता उसे भय होता है। भय क्या है ? आत्मतत्व को न मानना। आत्मा के सिवाय सब पदार्थ विनश्वर हैं जो लोग उनके रस में आसक्त हैं वे उस शाश्वत आनन्द को कैसे पा सकते हैं ? जिसको एक आत्म विश्वासी और आत्मरत मुमुक्षु प्राप्त कर सकता है।

अथाष्टमोऽनुवाकः।

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मा देग्निश्चेन्द्रश्च. मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषानन्दस्य मीमाँसा भवति। युवास्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। तेये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य गन्धर्वाणा मानन्दः श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य। तेये शतं मनुष्य गन्धर्वाणा मानन्दः। स एको देव गन्धर्वाणा मानन्दा। श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य। ते ये शतं देव गन्धर्वाणा मानंदाः। स एकः पितृणां चिरलोक लोकाना मानंदः। श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य। तेये शतं पितृणां चिरलोकंलोकाना मानंदाः। स एक आजानजानां देवाना मानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य। तेये शतं माजानजानां देवाना मानंदाः। स एकः कर्म देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवामपि यन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ते ये शतं कर्म देवानांदेवाना मानंदाः। स एको देवा नामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य। तेये शतं देवाना मानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तेये शत मिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पते रानंदाः। श्रोत्रियस्य

चाकामहतस्य तेये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापते रानंदः। श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य। तेये शतं प्रजापतेतेरानंदाः। स एको ब्रह्मण आनंदः। श्रोत्रियस्य चाकाम हतस्य स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये। स एकः। सय एवं वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।

इत्यष्टमोऽनुवाकः॥

पदार्थः—(अस्मात्, भीषा, वातः, पवते) इसके भय से वायु बहता है (भीषा, सूर्यः, उदेति) भय से सूर्य उदित होता है (अस्मात् भीषा, अग्निः च इन्द्रः च) इस के भय से अग्नि और इन्द्र भी अपना काम करते हैं (पञ्चमः, मृत्यु, धावति) पांचवां मृत्यु भी दौड़ता है। (सा, एषा, आनंदस्य, मीमांसा, भवति) सो यह आनंद की मीमांसा आरम्भ की जाती है। (युवा, साधुयुवा, अध्यायकः, स्यात्) कोई युवा पुरुष जो सच्चरित्र और वेदादि शास्त्र का ज्ञाता भी हो (आशिष्ठः, द्रढिष्ठः, बलिष्ठः) शासक, दृढाङ्ग और बलवान् हो (तस्य, इमम्, वित्तस्य, पूर्णा, सर्वा, पृथिवी, स्यात्) उसकी यह सब धन से परिपूर्ण पृथिवी हो। (सः, एकः, मानुषः, आनंदः) वह एक मनुष्य का सुख है। (ते, ये, शतम्, मानुषाः, आनंदाः) वे जो सौ मनुष्य के आनंद हैं। (सः, एकः मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनंदः) वह मनुष्य गन्धर्वों का आनंद है। (श्रोत्रियस्य, च अकामहतस्य) वेदाध्यायी और विरक्त का [यह पद इस श्रुति में दस बार पढ़ागया है, इसलिये अब बार बार इसका अर्थ न करेंगे। (ते, ये, शतम्, देव गन्धर्वाणाम्, आनंदाः)

वे जो सौ देव गन्धर्वों के आनंद हैं (सः, एकः, चिर लोकलोकानाम्, पितॄणाम्, आनंदः) वह एक चिरकाल तक उत्तम लोकों में रहने वाले पितरों का आनंद है (ते, ये, शतम्, चिरलोक लोकानाम्, पितॄणाम्, आनंदाः) वे जो सौ चिरलोक वासी पितरों के आनंद हैं (सः एकः, आजानजानाम् देवानाम्, आनंदाः वह एक जन्म से ही जो दिव्य गुणयुक्त हैं उनका आनंद है । (ते, ये, शतम्, आजानजानां, देवानाम्, आनंदाः) वे जो सौ जन्म देवों के आनंद हैं (सः, एकः, कर्मदेवानाम्, आनंदः) वह एक कर्म से जो देवत्व को प्राप्त हुवे हैं उन का आनन्द है । (ये, कर्मणा, देवान्, अपि, यन्ति) जो कर्म से देवत्व को प्राप्त होते हैं (ते, ये, शतम्, कर्मदेवानाम्, देवानाम्, आनन्दाः) वे जो सौ कर्म देवों के आनन्द हैं (सः, एकः, देवानाम्, आनन्दः) वह एक देवों का (जिन में जन्म और कर्म दोनों से देवत्व सिद्ध है] आनन्द है । (ते, ये, शतम्, देवानाम्, आनन्दाः) वे जो सौ देवों के आनन्द हैं (सः, एकः, इन्द्रस्य, आनन्दः) वह एक इन्द्रका आनन्द है । (ते, ये, शतम्ः इन्द्रस्य, आनन्दाः) वेजो सौ इन्द्रके आनन्द हैं सःएकः बृहस्पतेः आनन्दः]वहएक बृहस्पतिका आनन्द है (ते येशतम्, बृहस्पतेः, आनन्दाः)वे जोसौ बृहस्पतिके आनन्द हैं । (सः, एकः,प्रजापतेः, आनन्दः)वह एक प्रजापति का आनन्द है (ते,ये,शतम् प्रजापतेः, आनन्दाः) वे जो सौ प्रजापति के आनन्द हैं (सः, एकः, ब्रह्मणः आनन्दः) वह एक ब्रह्म का आनन्द है । (सः, यः, च, अयम्, पुरुषे, यः च असौ, आदित्ये, सः, एकः) वह जो यह आत्मा पुरुष में है और इस आकाश में, वह एक है (सः, यः, एवम्, वित्) जो ऐसा जानता है (अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य) इस लोक से पृथक् होकर (एतम्, अन्नमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रा-

मति) इस अन्नमय आत्मा में संक्रमण करता है (एतम्, प्राणमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस प्राणमय आत्मा में संक्रमण करता है। (एतम्, मनोमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस मनोमय आत्मा में संक्रमण करता है (एतम्, विज्ञानमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस विज्ञानमय आत्मा में संक्रमण करता है (एतम्, आनन्दमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रामति) इस आनन्दमय आत्मा में संक्रमण करता है। (तद्, अपि, एषः, श्लोकः भवति) उसपर भी यह श्लोक है।

भावार्थः—इस श्रुति में आनन्द की मीमांसा की गई है, वह आनन्दमय आत्मा जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय आत्मा का सार है, क्या है ? और हम किस किस दशा में उस को प्राप्त कर सकते हैं ? साधारण पुरुष यौवन आरोग्यता और सम्पन्नता इसी को परम सुख मानते हैं, परन्तु मुमुक्षु के लिये यह सब से निम्नकोटि का मानुष आनन्द है। इस से उच्चकोटि के गन्धर्व, पितर और देवों के आनन्द है। ये कोई अदृश्य लोकों में रहने वाली अदृश्य व्यक्तियां नहीं हैं। किन्तु यह साढ़ेतीन हाथ का मनुष्य ही उन्नति करते करते इन पदवियों को प्राप्त करता है। श्रुति में देवों के तीन विभाग किये गये हैं १—जन्मदेव, २—कर्मदेव और ३—देव। इस से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है जैसे देवों के तीन भेद हैं, ऐसे ही गन्धर्व और पितरों के भी कई भेद होसकते हैं। मनुष्यता का ज्यों ज्यों विकास होता है, त्यों त्यों क्रमशः इन पदों की प्राप्ति होती जाती है। जो लोग जन्म से श्रेष्ठता मानते हैं, उन को इस श्लोक पर ध्यान देना चाहिये। इस में स्पष्ट ही जन्मदेवों की अपेक्षा कर्मदेवों की उच्चता मानी गई है।

देवत्व को प्राप्त होकर ही हम आनन्द की चरम सीमा को प्राप्त नहीं होजाते और उस से नीचे गिरने का भी भय है, अतएव मनुष्य जन्म पाकर हमको उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये निरन्तर उद्योग करना चाहिए । देवत्व से बढ़कर इन्द्र (नेता) का पद है नेता से भी ऊपर बृहस्पति [वक्ता] का आनन्द है और वक्ता से भी अधिक प्रजापति (सम्राट) का आनन्द है । इस सम्राट् तक मानुष आनन्द समाप्त होजाते हैं और ये सब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं । इन सब के ऊपर और इन सब से विलक्षण वाङ्मनोऽतीत ब्रह्म आनन्द है, जिसको प्राप्त होकर मनुष्य को फिर कुछ प्राप्तव्य और कर्तव्य शेष नहीं रहता और वह जीवन्मुक्त होजाता है । बस यही आनंद की पराकाष्ठा है । इसके अधिकारी वही जन होते हैं जो क्रमशः अन्नमय आत्मा से प्राणमय, प्राणमय से मनोमय और मनोमय से विज्ञानमय आत्मा में संक्रमण करते हुवे अंत में जाकर आनन्दमय आत्मा में अवस्थान करते हैं ।

अथ नवमोऽनुवाकः ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् नबिभेति कुतश्चनेति । एतꣳ ह वाव न तपति । किमहꣳसाधु नाकरवम् । किमहं पाप मकरवमिती । स य एवं विद्वानेते आत्मान ꣳ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मान ꣳ स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युपनिषद् ॥ ९ ॥

इति नवमोऽनुवाकः ।

पदार्थः—] मनसा, सह, वाचः) मनके साथ वाणियां (ब्रह्मणः, आनंदम्) ब्रह्म के आनंद को (अप्राप्य) न

पाकर (यतः) जहां से (निवर्त्तन्ते) लौट आती हैं, उसको पाकर (विद्वान्) विवेक शील पुरुष (कुतश्चन, न, बिभेति) कहीं पर नहीं डरता। (एतम्, ह, वाव न, तपति) इसको निश्चय कोई ताप दुःख नहीं देते। (किम्, अहम्, साधु न, अकरवम्) क्या मैंने अच्छा नहीं किया। (किम्, अहम्, पापम् अकरवम्) क्या मैंने पाप किया। सः, यः, एवम् विद्वान्, एते आत्मानम्, स्पृणुते) वह जो विद्वान् इस प्रकार पुण्य पाप के विचार से अपने को संतुष्ट करता है। (उभे, हि, एव एषः, एते, आत्मानम् स्पृणुते) ये दोनों ही इसके आत्मा को प्रसन्न करते हैं। (यः एवम्, वेद) जो ऐसा जानता है। (इति, उपनिषद्) यह उपनिषद् है।

भावार्थः—इस श्लोक में पूर्व कथित प्रसङ्ग का उपसंहार किया गया है। प्राणमय आत्मा में प्राण, मनोमय में मन और विज्ञानमय में बुद्धि और वाणी काम करती हैं। आनंदमय आत्मा में पहुंचकर यह मन बुद्धि और वाणियां कुछ काम नहीं करतीं किंतु जाने का उपक्रम करती हैं और फिर लौट आती हैं। जैसा कि मुण्डक उपनिषद् कहता है:-

समाधि निर्धूत मलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं तदागिरा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते।

समाधि के द्वारा आनंदमय आत्मा में प्रविष्ट होने वाले मुमुक्षु को जो आनंद होता है, उसको वाणी वर्णन नहीं कर सकती वह केवल अंतःकरण से अनुभव किया जाता है, ऐसे आत्माराम पुरुष को संसार के कोई क्लेश या ताप व्यथित नहीं करसकते। मैंने क्या किया, इस बातको कभी वह ध्यान में नहीं लाता, किंतु उसकी दृष्टि सदा इस बातपर रहती हैकि

मैंने क्या नहीं किया ? वह अपने बड़े से बड़े पुण्य की भी सदा उपेक्षा करता है और छोटे से छोटे पाप के लिये भी हृदय में संतप्त होता है। बस यह पुण्य की ओर प्रवृत्ति और पापकी ओर निवृत्ति ही उसके आत्म सन्तोष का कारण होती हैं। बस यही इस उपनिषद् का सार है ।

सहना ववतु, सहनौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवा वहै। तेजस्वीना वधीतमस्तु मा विद्विषा वहै ॥

ब्रह्मानन्द वल्ली समाप्त ।

अथ भृगुवल्ली ।

प्रथमोऽनुवाकः ।

भृगुर्वैवारुणिः। वरुणं पितर मुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मे ति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति त ँ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायंते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मे ति । स तपो तप्यत । सतपस्तप्त्वा ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः-(भृगुः, वै, वारुणिः) वरुण का पुत्र भृगु (वरुणम्, पितरम्, उपससार) अपने पिता वरुण के पास गया (भगवः, ब्रह्म, इति, अधीहि) भगवन् ! ब्रह्म क्या है, कहो (तस्मै, एतत्, अन्नम्, प्राणम्, चक्षुः, श्रोत्रम्, मनः, वाचम्, प्रोवाच) उसके लिये यह अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन, और वाणी ब्रह्म है, ऐसा कहा। (तम्, ह, उवाच) उसको फिर कहा (यतः, वै, इमानि, भूतानी, जायंते] जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं [येन, जातानि जीवंति] जिस से उत्पन्न

हुवे जीते हैं [यत् प्रयंति अभिसंविशन्ति] जिस में जाकर लीन होजाते हैं [तद् विजिज्ञासस्व] उस को जान [तद् ब्रह्म इति] वह ब्रह्म है। [सः, तपः, अतप्यत] उसने तप तपा [स, तपः, तप्त्वा] उसने तप तप कर ॥

भावार्थः—इस वल्ली का भी प्रकरण वही है जो पूर्व-वल्ली का था। भृगुवल्ली इसका नाम इसलिये पड़ा कि इसमें भृगुनामक अपने पुत्र को उसकी जिज्ञासापर वरुण ने उपदेश किया है। अतः उसीके नामसे यह वल्ली प्रसिद्ध हुई। भृगुने वरुण से जब यह पूछा कि ब्रह्म क्या है? तो पहले उसने क्रमशः अन्न, प्राण चक्षु, श्रोत्र मन और वाणी की ओर संकेत किया इसका आशय यह है कि पहले मनुष्य अन्न को ही जिस से शरीर का पोषण होता है, सब कुछ समझता है, उसके पश्चात् प्राण को अपना जीवनाधार मानता है, तत्पश्चात् चक्षु को जिससे सब कुछ देखता है, पुनः श्रोत्र को जिस से सब कुछ सुनता है, पश्चात् मनको जिस से सब का मनन करता है, तत्पश्चात् वाणी को जिस से समस्त पदार्थों का निर्वचन करता है, ब्रह्म समझता है। यथार्थ ज्ञान होने पर वह समझ-ता है-यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिद मुपासते।

जब वह यह जान लेता है कि यह अन्नादि ब्रह्म नहीं किंतु ब्रह्म के महत्व को प्रकट करने वाले निदर्शन हैं, तब उसे ब्रह्म का कुछ ज्ञान होता है और वह अपने मनमें विश्वास करता है कि जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीवन धारण करते हैं और अन्त में जिसमें ही ये सारे खाद्य खादक लीन होजाते हैं, वह ब्रह्म है। अन्नादि को पोषण शक्ति जिसने प्रदान की है, वह ब्रह्म है। तब इन पंच कोशों का रहस्य उसकी समझ में

आता है और वह कहता है–श्रोत्रस्य श्रोत्रं मन सो मनो यद्वा-चोह वाचं सउ प्राणस्य प्राणः ।„ यह श्रोत्र ब्रह्म नहीं, किंतु श्रोत्र का जो श्रोत्र है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार मन, वाणी और प्राण ब्रह्म नहीं, किंतु मनका मन, वाणी की वाणी और प्राण का प्राण ब्रह्म है। उसी ब्रह्म के ज्ञान मय तप से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नंप्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति सतपोऽतप्यत । सतपस्तप्त्वा ।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

पदार्थः—(अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्) अन्न ब्रह्म है यह जाना (अन्नाद् एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते) अन्न से ही निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं (अन्नेन जातानि जीवन्ति) अन्न से उत्पन्न हुये जीते हैं [अन्नम् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति] अन्न में जाकर लीन होते हैं [तद् विज्ञाय] ऐसा जानकर [पुनः एव वरुणम् पितरम् उपससार] फिर पिता वरुणके पास गया [भगवः ब्रह्म इति अधीहि] भगवन् ? ब्रह्म क्या है कहो [तम् ह उवाच] उसको कहा [तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व] तप से ब्रह्म को जान [तपः ब्रह्म इति] तप ही ब्रह्म है [सः तपः अतप्यत] उसने तप तपा [सः तपः तप्त्वा] उसने तप तपकर ॥

भावार्थः—पूर्वश्लोक में वरुण ने भृगुको उपदेश करते हुये ब्रह्म का यह लक्षण किया था कि "जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न

होते हैं जिससे उत्पन्न हुये जीते हैं और जिसमें सब लीन होते हैं वह ब्रह्म है उसको तू जान पिता का यह उपदेश सुनकर भृगु ने तप किया और तप करने के बाद उसने अन्न को ब्रह्म जाना। क्योंकि यह सब लक्षण अन्न में घटते हैं अन्न से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है, अन्न से ही उत्पन्न हुवे प्राणी जीते हैं और फिर नष्ट होकर अन्न का ही खाद बनते हैं। यह जान-कर वह फिर वरुण के पास गया और ब्रह्म की जिज्ञासा की वरुण ने कहा अभी और तप करो, वह फिर तप करने लगा।

इति तृतीयोऽनुवाकः

प्राणोब्रह्मे ति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ती' ति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितर मुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मे ति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मे ति। सतपोऽतप्यत। सतपस्तप्त्वा।

इति तृतीयोऽनुवाकः।

पदार्थः—(प्राणः, ब्रह्म, इति, व्यजानात्) प्राण ब्रह्म है, यह जाना (प्राणात्, हि, एवं, खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते) प्राण से ही निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। (प्राणेन, जातानि) जीवन्ति) प्राण से ही उत्पन्न हुवे जीते हैं (प्राणम् प्रयन्ति, प्राण में ही जाकर लीन होते हैं (तद्, विज्ञाय) ऐसा जानकर (पुनः, एव, वरुणम्, पितरम्, उपससार) पिता वरुण के पास गया। (भगवः, ब्रह्म, इति, अधीहि) भगवन्! ब्रह्म क्या है कहो (तम्, ह, उवाच) उस को कहा (तपसा, ब्रह्म, विजिज्ञासस्व) तप से ब्रह्म को जानो (तपः, ब्रह्म, इति) तप ही ब्रह्म है (सः, तपः, ऽतप्यत) उसने तप तपा (सः, तपः तप्त्वा) उसने तप तप कर।

भावार्थः—इस बार तप करने के बाद उसने प्राण को ब्रह्म जाना क्योंकि प्राण से ही प्राणी उत्पन्न होते, उससे ही जीते और उसमें ही लीन होते हैं। यह जानकर वह फिर पिता के पास गया और ब्रह्म को जिज्ञासा की पिता ने फिर तप करने को कहा वह फिर तप करने लगा।

अथ चतुर्थोऽनुवाकः।

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितामुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति तँहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपोब्रह्मेति स तपोऽतप्यत। सतपस्तप्त्वा।

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

पदार्थः—[मनः, ब्रह्म, इति व्यजानात्] मन ही ब्रह्म यह जाना। [मनसः, ही, एव, खलु इमानि भूतानि जायन्ते] मन से ही निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं [मनसा जातानि जीवंती]मन से ही उत्पन्न हुये जीते हैं [मनः प्रयन्ति अभि-संविशंति] मन में ही जान कर लीन होते हैं [तद् विज्ञाय] ऐसा जानकर [पुनः. एव, वरुणम्, पितरम् उपससार] फिर पिता वरुण के पास गया [भगवः, ब्रह्म इति अधीहि] भग-वन्! ब्रह्म क्या है, कहो [तम् ह, उवाच] उससे कहा [तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व] तपसे ब्रह्म को जानो [तपः ब्रह्म इति] तप ही ब्रह्म है। [स तपः अतप्यत] उसने तप तपा [सः तपः तप्त्वा] उसने तपतपकर।

भावार्थः—इसवार तप करके उसने मनको ब्रह्म जाना क्योंकि मन से ही सृष्टि उत्पन्न होती, मन से ही जीवित कह-लाती और मन में ही लीन होजाती है। यह जान कर वह फिर

पिता के पास गया और ब्रह्म की जिज्ञासा की। पिता ने उस से फिर तपकरने को कहा वह फिर तपकरने लगा।

अथ पञ्चमोऽनुवाकः।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। सतपोऽतप्यत। सतपस्तप्त्वा।

इति पञ्चमोनुवाकः॥

पदार्थः—(विज्ञानम्, ब्रह्म, इति, व्यजानात्) विज्ञान ही ब्रह्म है, यह जाना (विज्ञानात्, हि, एव, खलु, इमानि, भूतानि जायन्ते) विज्ञान से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं (विज्ञानेन, जातानि, जीवन्ति) विज्ञान से उत्पन्न हुये जीते हैं (विज्ञानम्, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति) विज्ञान में ही सब लीन होते हैं (तद् विज्ञाय) ऐसा जान कर (पुनः, एव, वरुणम्, पितरम्, उपससार) फिर वरुण पिता के पास गया (भगवः, ब्रह्म, इति, अधीहि) भगवन्! ब्रह्म क्या है, कहो (तम्, ह, उवाच) उससे कहा (तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व) तप से ब्रह्म को जानो (तपः, ब्रह्म, इति) तप ही ब्रह्म है (सः, तपः, अतप्यत उसने तप तपा (सः, तप, तप्त्वा) उसने तप तपकर।

भावार्थः—इसप्रकार तप करने के पश्चात् उसने विज्ञान को ब्रह्म जाना। क्योंकि विज्ञान से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है, विज्ञान से उत्पन्न हुवे प्राणी अपने जीवन की रक्षा करते हैं विज्ञान में ही सब का पर्यवसान होता है। यह जानकर वह पिता के पास गया और ब्रह्म की जिज्ञासा की। पिताने फिर तप के लिए प्रेरित किया और वह तप करने लगा।

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥

इतिषष्ठोऽनुवाकः

पदार्थः—(आनन्दः, ब्रह्म, इति व्यजानात्) आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाना (आनन्दात्, हि, एव, खलु, इमानि भूतानि, जायन्ते) आनन्द से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं (आनन्देन, जातानि, जीवन्ति) आनन्द से उत्पन्न हुवे जीते हैं (आनन्दम्, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति) आनन्द में ही सब अवसान पाते हैं । (सा, एषा, भार्गवी, वारुणी, विद्या) सो यह भृगुसम्बन्धिनी और वरुण सम्बन्धिनी विद्या है (परमे, व्योमन्, प्रतिष्ठिता) उत्तम हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है (यः, एवम्, वेद) जो इसको जानता है (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है । (अन्नवान्, अन्नादः, भवति) अन्नवान् और उसका भोगकरने वाला होता है (प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन महान् भवति) सन्तान, पशु और ब्रह्मतेज से बड़ा होता है (कीर्त्या, महान् भवति) कीर्ति से बड़ा होता है ।

भावार्थः—अन्त में आकर तप का फल भृगुको मिला और उसने उस आनन्द को ब्रह्मजाना, जो सबका सारभूत रस है और जिसकी अधीनता में ही विज्ञान, मन, प्राण और अन्न इस सृष्टि की उत्पादन, पालन और संहार करने में समर्थ होते हैं । तपके द्वारा भृगु आत्मविकास की इस चरमसीमा को पहुंचगया । वरुण ने इस विद्या का उपदेश किया, इसलिये

यह वारुणी और भृगु ने इस को प्राप्त किया, इसलिये यह भार्गवी कहलाती है। इस विद्या की प्रतिष्ठा पवित्र अन्तःकरण में ही होसकती है। भृगु के समान तप और अभ्यास के द्वारा जो इस पञ्चात्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अन्नवान् और आनन्द दोनों होते हैं (अन्नवान् रोगी भी होसकता है, उसके साथ ही अन्नाद कहने से नीरोग होना सूचित किया गया है। इसके साथ ही सन्तान, पशु, ब्रह्म, तेज से युक्त होकर कीर्तिमान् होता है,

अथ सप्तमोऽनुवाकः।

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥

इति सप्तमोऽनुवाकः।

पदार्थः—(अन्नम् न निन्द्यात्) अन्न की निन्दा न करे (तद्, व्रतम्) यह व्रत है (प्राणः, वै, अन्नम्) प्राण ही अन्न है (शरीरम्, अन्नादम्) शरीर अन्नाद है (प्राणे, शरीरम्, प्रतिष्ठितम्) प्राणमें शरीर प्रतिष्ठित है (शरीरे, प्राणम्, प्रतिष्ठितम्) शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है (तद्, एतद्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्) सो यह अन्न अन्न में प्रतिष्ठित है (सः, यः, एतद्, अन्नम् अन्ने ऽप्रतिष्ठितम्, वेद) वह जो इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है प्रतिष्ठित होता है (अन्नवान्, अन्नादः, भवति) अन्नवान् और अन्नाद होता है। (महान्, भवति, प्रजया, पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन) सन्तान, पशु और ब्रह्मतेज से बड़ा होता है (महान्, कीर्त्या) कीर्ति से बड़ा होता है।

भावार्थः— पञ्चकोश यात्रा की पहली मंजिल अन्न है। अन्न से ही हमारे शरीर बनते हैं, अन्न ही उनका पोषण करता है। इसलिये अन्न की निन्दा न करे। अन्न और प्राण में कुछ भेद नहीं, क्योंकि अन्न ही परिपक्व होकर प्राण के रूप में परिणत होता है। शरीर अन्नाद् है जो अन्न को भक्षण करता है। प्राण में शरीर और शरीरमें प्राण प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार शरीर और प्राण में परिणत हुआ अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो अन्न और प्राण के सामञ्जस्यको जानकर अन्नकी पूजा (सदुपयोग) करता है, वह धनधान्य से युक्त और निरोग होता है। प्रजावान्, पशुमान्, तेजस्वी और यशस्वी होता है। अन्न का महत्व जतलाने के लिये यह अर्थवाद किया गया है।

अथाष्टमोऽनुवाकः।

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः।

पदार्थः—(अन्नम्, न, परिचक्षीत) अन्न का निषेध न करे (तद्, व्रतम्) यह व्रत है (आपो, वै, अन्नम्) जल ही अन्न है (ज्योतिः, अन्नादम्) अग्नि अन्नाद है (अप्सु, ज्योतिः, प्रतिष्ठितम्) जलों में अग्नि प्रतिष्ठित है (ज्योतिषि, आपः, प्रतिष्ठिताः] अग्नि में जल प्रतिष्ठित है। [तद्, एतद्, अन्नम् अन्ने, प्रतिष्ठितम्] सो यह अन्न अन्न में प्रतिष्ठित है। [सः, यः, एतद्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्, वेद, प्रतितिष्ठति] सो जो इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानताहै, प्रतिष्ठित होता है। [अन्न-

वान्, अन्नादः भवतिः] अन्नयुक्त और, आनन्द होता है। [म-
हान्, भवति, प्रजया पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन] प्रजा. पशु और तेज
से बड़ा होता है [महान्, कीर्त्या] कीर्ति से बड़ा होता है।

भावार्थः—पूर्व श्लोक में अन्न और प्राण की एकता दिख-
लाई थी अब इस श्लोक में अन्न के उपादान जल और अग्नि
की एक रूपता दिखलाते हैं। जल अन्न है और अग्नि उसका
शोषक अन्नाद है। जलों में विद्युत् रूप से अग्नि प्रतिष्ठित है
और अग्नि में वाष्प रूप से जल प्रतिष्ठित है। यह भी अन्न में
अन्न की प्रतिष्ठा है। क्योंकि अन्न को जल उत्पन्न करते हैं और
जल की उत्पत्ति अग्नि से है। इस विज्ञान के रहस्य को जो
जानताहै, वह अन्न, सन्तान, पशु, तेज, और कीर्तिसे युक्त होता
है। पूर्व श्लोक में अन्न की निन्दा का निषेध किया था।
इस श्लोक में उसके निषेध का वर्णन कियागया है। निन्दा
और निषेध में कुछ भेद हैं। गुणमें दोषारोपण को निन्दा कह-
ते हैं और प्राप्त वस्तु का तिरस्कार करना निषेध कहलाता है।
अन्न के सम्बन्ध में ये दोनों बातें वर्जित हैं।

अथ नवमोऽनुवाकः ।

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽ-
न्नादः। पृथिव्या माकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता
तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रति-
तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्र-
ह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

इति नवमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—(अन्नम्, बहु, कुर्वीत) अन्न को बढ़ावो (तद्,
व्रतम्) यह व्रत है। (पृथिवी, वै, अन्नम्) पृथिवी अन्न है

(आकाशः, अन्नादः) आकाश अन्नाद् है (पृथिव्याम्, आकाशः, प्रतिष्ठितः) पृथिवीमें आकाश प्रतिष्ठित है (आकाशे, पृथिवी, प्रतिष्ठिता) आकाशमें पृथिवी प्रतिष्ठित है (तद्, एतद्, अन्नम्, अन्ने, प्रतिष्ठितम्) सो यह अन्न अन्न में प्रतिष्ठित है (सः, यः, एतद्, अन्नम्, अन्ने, प्रतितिष्ठति) सो जो इस अन्नको अन्नमें प्रतिष्ठित जानता है, प्रतिष्ठित होता है। (अन्नवान्, अन्नादः, भवति) अन्नयुक्त और अन्नाद होता है (महान्, भवति, प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन) प्रजा, पशु और तेज से बड़ा होता है (महान्, कीर्त्या) कीर्ति से बड़ा होता है।

भावार्थः—इसश्लोकमें पृथिवी और आकाशकी एक रूपता दिखलाते हैं। यह पृथिवी अन्न है और आकाश इसका अन्नाद, क्योंकि पृथिवी में जो कुछ उत्पन्न होता है, वह सब आकाश में ही लीन होता है, इसलिए आकाश उनका अन्नाद है। पृथिवी में आकाश और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। यही अन्नमें अन्न की प्रतिष्ठा है, जो इसको जानता है, वह सुखी और यशस्वी होता है। इस श्लोक में अन्न के बढ़ाने की आज्ञा दीगई है इससे हमारे पूर्वजों की दृष्टि में कृषिकर्म का महत्त्व सिद्ध होता है।

अथ दशमोनुवाकः।

न कश्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते॥ १॥ य एवं वेद।

क्षेम इतिवाचि। योग क्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञा। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति ॥२॥ यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठे त्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति ॥ ३ ॥ तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मिन्कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे यश्चासा वादित्ये। स एकः ॥ ४ ॥ स य एवं विद्। अस्माँल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमय मात्मान मुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मान मुपसंक्रम्य। एतं मनोमय माऽत्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमय मात्मान मुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मान मुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्। एतत्सामगायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥५॥ अहमन्नमहमन्न महमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहँ श्लोक कृदहँ श्लोककृदहँ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति सइ देव मा ३ वाः अह मन्नमन्नमदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनम्यभवां ३ सुवर्ण ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषद् ॥६॥ राध्यते विद्युति मानवान् भवत्येको हा ३ वु य एवं वेदैकञ्च ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

पदार्थः—(कञ्चन वसतौ न प्रत्याचक्षीत) वस्तीमें या घर में किसी को बुरा न कहे (तद् व्रतम्) यह व्रत है (तस्मात्, यया, कया, च, विधया, बहु अन्नम्, प्राप्नुयात्) इसलिए

जिस किसी प्रकार बहुत अन्न को प्राप्त करै। (अस्मै,अन्नम्, अराधि, इति, आचक्षते) इस के लिये) अन्न पकाया गया है, ऐसा कहे (एतद्, वै, मुखतः, अन्नम्. राद्धम्) यह पहले अन्न पकाया गया है (मुखत, अस्मै, अन्नम्,) (राध्यते) इस के लिये पहले अन्न पकाया जाता है (एतत्, वै, मध्यतः, अन्नम्, राद्धम्) यह बीच में अन्न पकाया गयाहै ।(मध्यतः, अस्मै,अन्नम् राध्यते) इस के लिये बीच में अन्न पकाया गया है (एतद्, वै, अन्ततः. अन्नम्,राद्धम्) यह पीछे अन्न पकाया गया है (अन्ततः, अस्मै, अन्नम्, राध्यते) इस के लिये पीछे अन्न पकाया गया है ॥ १ ॥ (यः, एवम्, वेद) जो इस प्रकार जानता है (क्षेमः, इति, वाचि) उस की वाणी में क्षेम (योग क्षेमः, इति प्राणापानयोः) प्राण और अपान में योग क्षेम (कर्म, इति, हस्तयोः) हाथों में कर्म (गतिः, इति, पादयोः) पैरों में गति (विमुक्तिः, इति, पायौ) गुदा से मल विसर्जन (इति, मानुषीः समाज्ञा) ये मनुष्य के सम्बन्ध में आज्ञायें हैं (अथ, दैवीः) अब दैवी आज्ञाओं को कहते हैं (तृप्तिः इति, वृष्टौ) वर्षा में तृप्ति है (बलम्, इति, विद्युति) बिजली में बल है ॥ २ ॥ (यशः, इति, पशुषु) पशुओं में यश है [ज्योतिः इति, नक्षत्रेषु] नक्षत्रों में प्रकाश हैं [प्रजातिः, अमृतम्, आनन्दः, इति, उपस्थे] जन्म और आनन्द जननेन्द्रिय में है (सर्वम्, इति आकाशे) सब कुछ आकाश में है [तद्, प्रतिष्ठा, इति, उपासीत, प्रतिष्ठावान्, भवति] उस को आधार मानकर उपासना करे, प्रतिष्ठावान् होताहै [तद्. महः, इति, उपासीत महान् भवति] उस को बड़ा जानकर उपासना करे, बड़ा होता है [तद्, मनः, इति उपासीत मानवान्, भवति] उस को मन जान कर उपासना करै, मानयुक्त होता है ॥ ३ ॥ [तद्, नमः, इति, उपासीत,

नम्यन्ते, अस्मिन्, कामाः] उस को पूजनीय जानकर उपासना करे; सब कामनायें उस का स्वागत करती हैं [तद्, ब्रह्म, इति उपासीत, ब्रह्मवान्, भवति] उस को ब्रह्म जानकर उपासना करे ब्रह्मवान् होता है [तद्, ब्रह्मणः, परिमरः, इति, उपासीत, परि एनम्, म्रियन्ते, द्विषन्तः,सपत्नाः, परि,ये,अप्रियाः, भ्रातृव्याः) उस ब्रह्म को सब का अधीश्वर जानकर उपासना करे तो उस के द्वेषी और अप्रिय सब शत्रु नष्ट होते हैं [सः, यः, च, अयम्, पुरुषे, यः, च, असौ, आदित्ये, सः, एकः] वह जो यह ब्रह्म पुरुष में है, वही आकाश में, वह एक ही है ॥ ४ ॥ [सः, यः, एवम्, विद्] जो ऐसा जानता है [अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य] इस लोक से गुज़र कर [एतम्, अन्नमयम्, आत्मानम्, उप-संक्रम्य] इस अन्नमय आत्मा का संक्रमण करके [एतम् प्राण-मयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य] इस प्राणमय आत्मा का संक्र-मण करके [एतम्, मनोमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य] इस मनोमय आत्मा का संक्रमण करके [एतम्, विज्ञानमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य] इस विज्ञान मय आत्मा का संक्रमण करके [एतम्, आनन्दमयम्, आत्मानम्, उपसंक्रम्य] इस आनन्दमय आत्मा का संक्रमण करके [इमान्, लोकान्, कामान्, नीकामरूपी, अनुसञ्चरन्] इन सबलोकों और कामों को निःस्पृह होकर विचरता हुवा [एतत्, सामगायन्, आस्ते] यह साम गाता हुवा रहता है [हावु हावु, हावु] अहो ! ! आश्चर्य स्वरूप ब्रह्म है, अचिन्त्य उस की शक्ति और महिमा है; इत्यादि । [अहम्, अन्नम्२] मैं अन्न हूं मैं भक्ष्य हूं मैं खाद्य हूं [अहम् अन्नादः २] मैं अन्नाद हूं, मैं भक्षक हूं, मैं खादक हूं, [अहम्, श्लोककृत् २] मैं कर्म और उसके फल का प्रतिपादक हूं [अहम्, ऋतस्य, प्रथमजाः, अस्मि] मैं चराचर विश्व में

फैलाहुवा हूं [पूर्वम्, देवेभ्यः, अमृतस्य. नाभौ] इन्द्रियों से वा सूर्यादि-देवों से पहले अमृत की नाभि अर्थात् मोक्ष में स्थित हूं [यः, मा. ददाति, सः, इत्. एव, मा, अवाः] जो मुझे अन्नादि देता है, वही निश्चय मेरी रक्षा करता है [अहम्, अन्नम्, अन्नम् अदन्तम्, आ अद्मि] मैं पृथिव्यादि के रस को खींचने वाले अन्न को खाता हूं । (अहम्, विश्वम्, भुवनम्, अभ्यभवाम्) मैं अपनी उज्जवल प्रकाश से सम्पूर्ण विश्वको अभिभूत करता हूं । (यः, एवम्, वेद) जो ऐसा जानता है (इति, उपनिषद् यह उपनिषद्‌है ।

भावार्थः—इस दशवें अनुवाक में ६ श्लोक हैं, जिन में से पहला 'राध्यते' दूसरा 'विद्युति' तीसरा 'मानवान् भवति' चौथा 'एकः' पांचवां हा ३ वु और छठा 'य एवं वेद' इस पद पर समाप्त होते हैं । इन छहों श्लोकों में इस वल्ली का उपसंहार कियागया है । पहले श्लोक में जो अन्नमय आत्मा की उपासना करते हैं, उनका कर्तव्य बतलाया गया है । उन को चाहिए कि वे जिसवस्ती में या जिस घर में रहते हों, किसी से बुरा बरताव न करें । इसी व्रत का पालन करें । अतिथि आश्रित और दीनों के लिये अन्न का सञ्चय करें । अतिथि और वृद्धों को सब से पहले भोजन करायें, आत्मीयों के साथ आप बीच में भोजन करें और आश्रित जन दास आदि भृत्य-वर्गों को अन्त में भोजन करायें इस प्रकार यथायोग्य पात्रों में अन्न का वितरण करते हुवे अन्नमय आत्मा को रिझावें । इस से आगे चलकर प्राणमय आत्मा के उपासकों को पहले अपनी वाणी सत्य और प्रिय भाषण से पवित्र करनी चाहिये, तत्पश्चात् प्राणायाम से प्राण शुद्धि और मिताहार से अपान शुद्धि करनी चाहिए । इसके साथही शुभ कर्मोंके सेवनसे अन्य कर्म-

न्द्रियों की शुद्धि करनी चाहिए। आत्मशुद्धि के अनन्तर आधिदैविक शुद्धि पर भी ध्यान देना चाहिये, जोकि अग्नि जल और वायु की शुद्धि पर निर्भर है, जो यज्ञादि के द्वारा सम्पादन की जाती है। इस से आगे मनोमय आत्मा की उपासना में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। जो अन्तः करण चतुष्टय की शुद्धि पर अवलम्बित है अर्थात् सत्य से मन को, विद्यामें बुद्धि को, तप से चित्त को और उपरति से अहङ्कार को शुद्ध करना। प्रजननेन्द्रिय से जो आनन्द विषयी पुरुष अनुभव करते हैं, वही आनन्द मनःशुद्धि से विरक्त पुरुषों को प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना है कि विषयी पुरुष आसक्त होकर उस आनन्द का सेवन करते हैं, विरक्त पुरुष अनासक्त होकर। इस ममोमय आत्मा की उपासना से मनुष्य मानयुक्त होता है। और उस में विज्ञानमय आत्मा के समझने की योग्यता उत्पन्न होती है। इस के पश्चात् जब उस से मानसिक भाव शुद्ध एवं उच्च होजाते हैं तब वह विज्ञानमय आत्मा को सब से बड़ा जानकर उस की उपासना करता है इसमें वह ब्रह्म को विश्व का अधीश्वर और सर्वातिशायी मानकर उपासना करता है और आप्तकाम होता है।" उसका न कोई शत्रु होता है और न वह किसी से द्वेष करता है। इस कक्षा में उत्तीर्ण होकर ही मुमुक्षु उस पांचवीं कक्षा का, जो मोक्ष की आखिरी मंजिल है, अधिकारी होता है। इस कक्षामें जाकर उसके सारे संकल्प विकल्प शान्त होजाते हैं और उपासक ब्रह्ममय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। मुण्डक की इस श्रुति के अनुसारः—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"

इसके हृदय की सब गाँठें खुलजाती हैं, संशय निवृत्त होजाते हैं और कर्म क्षीण होजाते हैं अर्थात् दग्धबीज की भांति उनकी प्ररोह शक्ति नष्ट होजाती है। वह यथा कामचारी होकर सब लोकों में विचरण करता है और उस आनन्दमय आत्मा के अनिर्वचनीय आनन्द को सर्वत्र और सब में अनुभव करता हुआ उसकी महिमा के गीत गाता है और कहता है कि यद्यपि अन्नमयादि कोशों में मैं ही कहीं भक्ष्य था और कहीं भक्षक, कहीं कर्त्ता था और कहीं कर्म, तथापि अब मैं न कर्म हूं, न कर्त्ता। न भक्ष्य हूं, न भक्षक। किन्तु केवल आनन्द स्वरूप आत्मा हूं, मेरा ही प्रकाश सारे विश्व में व्याप्त है और ये समष्टिरूप विश्व के इन्द्रिय सूर्यादि देव और व्यष्टिरूप शरीर के इन्द्रिय चक्षुरादि देव सब मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं मैं ही इस संसार रूप नाटक का अभिनेता हूं। आनन्दमय को पाकर मुक्तात्मा की जो स्थिति होती है, उसी का दिग्दर्शन इस श्लोक में किया गया है।

दशवां अनुवाक समाप्त।

ओ३म् सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विना वधीतमस्तु माविद्विषावहै॥

ओ३म् शांतिः! शांतिः!! शांतिः!!!

मङ्गलाचरण के पश्चात् ग्रन्थ समाप्त किया जाता है।

इति भृगुवल्ली समाप्ता

तैत्तिरीयोपनिषच्च समाप्ता।

ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद् ।

प्रथमाध्यायः

आत्मा वा इद मेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चनमिषत् । सईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

पदार्थः—(आत्मा, वै, इदम्, एकम् एव अग्रे, आसीत्) निश्चय यह एक आत्मा ही पहले था (मिषत्, अन्यत्, किञ्चन, न) प्राणादि की क्रिया करनेवाला और कुछ नहीं था (सः, ईक्षत, लोकान्, नु, सृजै, इति) उसने सोचा लोकों को बनाऊँ ॥ १ ॥

भावार्थः—जब यह भौतिक सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, आकाश भी प्रकृति के परमाणुओं से आच्छादित था। उस समय केवल एक विभु आत्मा जो अपनी सत्ता से सर्वत्र व्यापक है, मौजूद था, उसके सिवाय और किसी प्राणी वा अप्राणी की सत्ता उस समय विद्यमान न थी, यहाँतक कि अग्नि वायु और जल आदि भौतिक द्रव्य भी अपने वर्त्तमानरूप में न थे। उस समय आत्मा को यह इच्छा हुई कि मैं सृष्टि को रचूँ। तदनुसार सृष्टि की रचना हुई।

"एक आत्माही था और कुछ न था" इस से कोई २ अभिन्न निमित्तोपादान की कल्पना करते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि कार्यभूत सृष्टि से आत्मा का अस्तित्व पृथक् माना गया है, न कि कारण भूत प्रलय में जब यह सृष्टि अपने सूक्ष्म कारण में लीन थी और वह कारण आत्मा में अनुस्यूत

था। तब यह कहना कि "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" प्रकृति सत्ता का निषेध नहीं करता। हाँ आत्मा की अपेक्षा उसका अप्रधान या गौण होना अवश्य सिद्ध करता है। इसी विषय का वर्णन ऋग्वेद में "नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्" इन शब्दों में किया गया है। सत् और असत् दोनों के न होने का भी तात्पर्य यही है कि ये दोनों अव्यवहार्य दशा में। इसी प्रकार उस समय घटपटादि वस्तु भेद और भोजन छादनादि क्रिया भेद के न होने से प्रकृति व्यवहार्य दशा में न थी। इसीलिये यह कहागया है कि उस समय सिवाय आत्मा के जो तीनों कालों में एक रस रहनेवाला है और कुछ न था।

स इमाँल्लोकान सृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा ऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः॥ २॥ ॥

पदार्थः—[सः, अम्भः, मरीचीः मरम्, आपः, इमान्, असृजत] उस आत्माने अम्भस्, मरीचीः, मरम् और आपः इन चार लोकोंको उत्पन्न किया। [अदः, अंभःपरेण, दिवम्, द्यौः प्रतिष्ठा] आकाश से परे जो सूर्य लोक है, वही यह अम्भस् है, आकाश ही इसका आधार है [अन्तरिक्षम्, मरीचयः] अंतरिक्ष ही मरीचि लोक है [पृथिवी, मरः] पृथिवी मर लोक है [या, अधस्तात्, ताः, आपः] जो नीचे पाताल लोक है वही आपः है॥

भावार्थः—जैसे यह शरीर शिर, हृदय, जघन और पाद इन चार भागों में विभक्त है, ऐसे ही सर्गारम्भ में यह ब्रह्माण्ड चार लोकों में विभक्त किया गया। इनमें शिरःस्थानी सूर्य लोक है जिसको श्रुति में अंभस् के नाम से निर्देश कियागया

है। "अम्भस्" नाम जल का है, सूर्य अपनी किरणों से जल को खींचकर आकाश में धारण करता है, इसलिये उसको "अंभस' कहागया है। दूसरा हृदय स्थानीय अन्तरिक्षलोक है, उसको मरीचि इसलिये कहागया है कि सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में ही आकर फैलती हैं। सूर्य और पृथिवी के मध्य में होने से वह हृदय स्थानीय है। तीसरा जघन स्थानीय पृथिवी लोक है, उसको मर इसलिए कहागया है कि पृथिवी-स्थ सब पदार्थ मरणशील अर्थात विनश्वर हैं। चौथा पाद स्थानीय पाताल लोक है, उसको 'आपः' इसलिये कहा-गया है कि जल पृथिवी के नीचे जाकर ही स्थिरता प्राप्त करते हैं इन्हीं चार विभागों में ब्रह्मांड के समस्त लोक लोका-न्तर सन्निविष्ट हैं।

सईक्षते मे नु लोका लोक पालान्नु सृजा इति। सोद्भ्या एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥

पदार्थः—[सः, ईक्षत् इमे, नु लोकाः] उस ने देखा ये ये लोक हैं [लोकपालान्, नु, सृजै, इति] अब लोक पालों को बनाऊं [सः, अद्भ्यः, एव, पुरुषम्, समुद्धृत्य, अमूर्च्छयत्] उस ने जल से ही मनुष्य को उद्धरण करके उत्पन्न किया, अर्थात् सूक्ष्म कारण भूत जल रूप उपादान से मनुष्य के स्थूल देह को निर्मित किया।

भावार्थः—जब उक्त चारों लोकों की सृष्टि हो चुकी या दूसरे शब्दों में यों कहो कि पञ्च महाभूत और उन में रहने वाले सिवाय मनुष्य के और सब चराचर जीव उत्पन्न हो चुके, तब सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ने यह सोचकर कि विना रक्षक के रक्ष्य की स्थिति और वृद्धि दुर्घट है, जल रूप उपादन से ही मनुष्य रूप लोकपाल को उत्पन्न किया। मनुष्य के रज और

वीर्य अप्तत्व प्रधान होने से ही जल से उस की उत्पत्ति कही गई है। परिणामवादी वैज्ञानिक भी यही कहते हैं कि जब पृथिवी में सब प्रकार की वनस्पति और विविध जन्तु उत्पन्न हो गये, तब पीछे से उनका यथावत् उपयोग, रक्षा और वृद्धि करने के लिये मनुष्य की उत्पत्ति हुई।

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधि वनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानो अपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥ ४॥

इति प्रथमःखण्डः

पदार्थः–[तम्, अभ्यतपत्] उसने उस कारण को विचेष्टित किया (तस्य, अभितप्तस्य, यथा, अण्डम्, मुखम् निरभिद्यत) उस विचेष्टित हुवे कारण से अण्डे के समान मुख निकला [मुखात्, वाक्, वाचः, अग्निः] मुख से वाग् और वाक् से अग्नि [नासिके, निरभिद्यताम्] नासिका के दो छिद्र निकले [नासिकाभ्याम्, प्राणः, प्राणाद्, वायुः,] नासिका से प्राण और प्राण से वायु [अक्षिणी, निरभिद्येताम्] आंखें निकलीं [अक्षिभ्याम्, चक्षुः, चक्षुषः, आदित्यः] आंखों से दृक्शक्ति और दृक्शक्ति से प्रकाश [कर्णौ निरभिद्येताम्] कान निकले [कर्णाभ्याम्, श्रोत्रम्, श्रोत्राद्, दिशः] कानों से श्रवणशक्ति और श्रवणशक्ति से दिशायें [त्वङ्, निरभिद्यत] त्वचा निकली [त्वचः, लोमानि, लोमभ्यः, ओषधिवनस्पतयः] त्वचा से लोम और लोमों से वनस्पति [हृदयम्, निरभिद्यत] हृदय निकला [हृदयात्,

मनः, मनसः,चन्द्रमा] हृदय से मन और मनसे चन्द्रमा[नाभिः, निरभिद्यत [नाभि निकलो [नाभ्याः, अपानः, अपानात् मृत्युः] नाभि से अपान और अपान से मृत्यु [शिश्नम्, निरभिद्यत] प्रजननेन्द्रिय निकला [शिश्नाद्, रेतः रेतसः, आपः] प्रजननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से जल ॥ इतिप्रथमखण्डः।

भावार्थः—इस श्लोक में सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम दिखलाया गया है। जैसे इस व्यक्तिगत शरीर का मूल शिर है और गर्भ से उत्पत्ति के समय शिर ही पहले निकलता है इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड का शिर यह गगनचारी सूर्य है सूर्य के बिना मानुषी सृष्टि तो क्या स्थावर वनस्पति आदि भी नहीं उग सकतीं। अतएव सब से पहले अण्डरूप में यह सूर्य उत्पन्न हुवा और यही ब्रह्माण्ड का मुख है। शब्द और प्रकाश भी इसीसे उत्पन्न होते है। पुनः वायुकी उत्पत्ति हुई जो इस ब्रह्माण्ड की नासिका है जिससे यह श्वास लेता है। प्राण भी इसीसे उत्पन्न होता है जो सब प्राणियों को जीवन दान करता है।

वायु के अनन्तर अग्नि की उत्पत्ति हुई और यही विश्व का चक्षु है, इसीने दृक्शक्ति का प्रसार होता है। अग्नि के पश्चात् दिशायें उत्पन्न हुई और यही विश्व के कान हैं। पुनः पृथिवी की उत्पत्ति हुई जो इस ब्रह्माण्ड की त्वचा है। पृथिवी से ओषधि और वनस्पतियां जो इसके लोम हैं उत्पन्न हुई। पुनः अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई जो इस ब्रह्माण्ड का हृदय है। जैसे हृदय से मन उत्पन्न होता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। हृदय के पश्चात् नाभि उत्पन्न हुई, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु उत्पन्न हुवा। तात्पर्य यह कि जैसे प्राण (शुद्ध वायु) जीवनदाता है, वैसे ही अपान दूषित वायु मृत्यु का सञ्चारक है। पुनः शिश्न (जननेन्द्रिय) की उत्पत्ति हुई

शिश्न से वीर्य और वीर्य से जल। इसप्रकार जल से ही (अ-द्भ्यः, एव पुरुषम्, समुद्धृत्य) पुरुषसृष्टि का आरम्भ हुवा और जल में ही (रेतसः, आपः) उसका पर्यवसान हुवा॥ ४॥

इति प्रथमः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एन मब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति॥१॥ ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति॥ २॥ ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति॥ ३॥

पदार्थः—(ताः, एताः, देवताः, सृष्टाः, अस्मिन्, महति, अर्णवे, प्रापतन्,) वे ये अग्न्यादि देव उत्पन्न होकर इस बड़े ब्रह्माण्ड में प्राप्त हुवे (तम्, अशनायापिपासाभ्याम्, अनु-अवार्जत्) उन्होंने इस पुरुष को भूख प्यास से संयुक्त किया (ताः, एतम्, अब्रुवन्, आयतनम्, नः, प्रजानीहि) वे अग्न्यादि देव इस पुरुष से बोले कि हमारे लिये स्थान बतलाओ (यस्मिन्, प्रतिष्ठिताः, अन्नम्, अदाम, इति) जिसमें ठहर कर हम अन्न खेवें॥ १॥ (ताभ्यः, गाम्, आनयत्) उनके लिए गाय लाई गई (ताः, अब्रुवन्) वे बोले (न, वै, नः, अयम्, अलम्, इति) हमारे लिए यह पर्याप्त नहीं है (ताभ्यः, अश्वम्, आनयत्) उनके लिये घोड़ा लायागया (ताः, अब्रुवन्) वे बोले [न, वै नः, अयम्, अलम्, इति] हमारे लिए यह पर्याप्त नहीं है॥ २॥ ताभ्यः, पुरुषम्, आनयत्] उनके लिए मनुष्य लाया गया [ताः, अब्रुवन्] वे बोले [सुकृतम्, बत, इति, पुरुषः, वाव, सुकृतम्] अहो बहुत अच्छा बना है, पुरुष ही इस सृष्टि की उत्तम रचना है। [ताः, अब्रवीत्] उन से

ईश्वर ने कहा [यथा, आतयतनम्, प्रविशत, इति] यथास्थान प्रवेश करो ॥ ३ ॥

भावार्थः—जब अग्न्यादि देवों की सृष्टि हो चुकी और उन्हीं के संयोग से पुरुष भी जिसमें स्वभाविक रीति पर भूख और प्यास लगी हुई है, उत्पन्न हो चुका तब अग्न्यादि देवों ने स्रष्टा ईश्वर से कहा कि हमको ऐसा केन्द्र बतलाइये, जिसमें प्रतिष्ठित होकर हम इस चराचर सृष्टिके लिये अन्न उत्पन्न कर सकें। ईश्वर ने पहले उनको गाय दिखलाई और कहा कि इसके द्वारा तुम अन्न उत्पन्न करो। देवों ने कहा कि नहीं, यह इस काम के लिये पर्याप्त न होगी। पुनः घोड़ा उनके सामने लाया गया, उससे भी उनको संतोष न हुवा। तब मनुष्य उपस्थित किया गया, जिसको देखकर सब देवता आश्चर्य से बोल उठे, अहो !! यह बहुत अच्छा बना है, इससे अन्नोत्पादन रूप हमारा उद्देश भली प्रकार सिद्ध होगा।

स्थूलदृष्टि से तो पाठकों को यह एक कहानी मालूम पड़ेगी, परंतु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर विकास सिद्धान्त का जिसका पल्लवित करने में चार्ल्स डारविन और हर्वर्टस्पेंसर जैसे अनुभवी विद्वानों का सारा जीवन समाप्त हुवा है) तत्व इसमें भरापड़ा है। अर्थात् उपनिषद् की यह श्रुति स्पष्ट कहरही है कि क्रमशः विकास होते २ मनुष्य बना और अबतक जितने जन्तु जाने गये हैं, उन सब में यह दिव्य और पूर्ण है ॥ २ ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अग्निः, वाक्, भूत्वा, मुखम् , प्राविशत्] अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुवा (वायु, प्राणः, भूत्वा, नासिके, प्राविशत्) वायु प्राण होकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हुवा (आदित्यः, चक्षुः, भूत्वा, अक्षिणी, प्राविशत्) सूर्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट हुवा (दिशः, श्रोत्रम् , भूत्वा, कर्णौ, प्राविशन्) दिशायें श्रोत्र होकर कानों में प्रविष्ट हुईं (ओषधिवनस्पतयः, लोमानि, भूत्वा, त्वचम् , प्राविशत्) ओषधि वनस्पतियां लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं (चन्द्रमा, मनः, भूत्वा, हृदयम् , प्राविशत्) चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुवा (मृत्युः, अपानः, भूत्वा, नाभिम् , प्राविशत्) मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुवा (आपः, रेतः, भूत्वा, शिश्नम् , प्राविशत्) जल वीर्य होकर जननेन्द्रिय में प्रविष्ट हुये ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस श्रुति में आध्यात्मिक और आधिभौतिक देवों का समानाधिकरण दिखलाया गया है । अग्न्यादि आधि भौतिक देवों से ही वागादि आध्यात्मिक देवों की उत्पत्ति हुई है अग्नि वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुवा इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि अग्नि सारे शरीर में व्यापक है, तथापि मुख उसका मुख्य आयतन है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मरणासन्न पुरुष का और शरीर जब ठंडा होजाता है, मुख तब भी कुछ गरम रहता है । उस समय उष्णतामापक यंत्र मुख में ही लगाया जाता है । इसी प्रकार वायु का सम्बन्ध भी यद्यपि संपूर्ण शरीर से है तथापि उसकी उत्कृष्टता और निकृष्टता का अनुभव नासिका के द्वारा ही होता है, अतएव नासिका ही उसका केन्द्र मानीगई है । आंखों में देखने की शक्ति सूर्य के अंशसे ही है । दिशाओं का अवाकश होने से ही कानों में सुनने की शक्ति है । अन्नादि ओषधियों के प्रभावसे

ही लोम बनकर त्वचा में स्पर्शशक्ति को उत्पन्न करते हैं। चंद्रमा की शीतल किरणों से मन को आल्हाद होता है और उसकी मनन शक्ति बढ़ती है। मृत्यु अपान का रूप धारण करके नाभि में प्रवेश करता है अर्थात् मल कुपित होकर अपान को उत्पन्न करते हैं और वह रोग एवं मृत्यु का कारण होता है। जलवीर्य रूपसे शिश्नमें प्रविष्ट होकर संतानोत्पत्ति का कारण होते हैं। इस प्रकार ये आधिभौतिक देव आध्यात्मक देवों में परिणत होकर इस सृष्टि का विस्तार करते हैं ॥ ४ ॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभि प्रजानीहीति । सते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्या-वेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

पदार्थः-(तम्, अशनाया पिपासे, अब्रूताम्) उस ब्रह्म से भूख प्यास बोलीं (आवाभ्याम्, अभिप्रजानीहि) हम दोनों के लिए स्थान बतलाओ (सः, ते, अब्रवीत्) उसने उन दोनों से कहा (एतासु, एव, वाम्, देवतासु, आभजामि, एतासु, भागिन्यौ, करोमि, इति) इन्हीं अग्नि आदि देवों में तुम दोनों को विभक्त करता हूं, इन्हीं में भागलेने वाली करता हूं (तस्मात्, यस्यै, कस्यै च, देवतायै, हविः, गृह्यते, भागिन्यौ, एव, अस्याम्, अशनाया पिपासे, भवतः) इसलिए जिस किसी देवता के लिए हविष ग्रहण किया जाता है, उसमें भाग लेनेवाली भूख प्यास होती हैं ॥ ५ ॥

इति द्वितीयःखण्डः ॥ ५ ॥

भावार्थः—प्रत्येक प्राणी में जो उत्पन्न हुवा है, जो भूख प्यास लगी हुई है, उसका आयतन क्या है? यह श्रुति बतलाती है कि ईश्वर ने वा प्रकृति ने इन अग्न्यादि देवों में ही भूख प्यास का संयोजन किया है। अर्थात् ये अग्न्यादि देव जैसे बाह्य

जगत् में अन्नादि को उत्पन्न करते, बढ़ाते और पकाते हैं, ऐसे ही आन्तरिक जगत् में भी यही प्राणियों में भूख प्यासको प्रचण्ड करने और आमाशय में अन्नादि को पकाते और उनके रस से शरीरों को पुष्ट एवं बलवान् बनाते हैं। इसीलिये वेदमें सब शक्तियों की (जो बाह्य और अन्तर्जगत् में काम कर रही हैं) अधिष्ठात्री देवताओं को ही माना गया है। उन सब शक्तियों का बीज यही भूख प्यास हैं। जंगम ही नहीं किन्तु स्थावर भी इन्हीं के सहारे जीते, बढ़ते और अपना२ काम करते हैं। यदि उनको यथासमय खाद्य और जल न मिलें, तो वे सूख कर मुरझा जावें। इस चराचर की जीवनमूल भूख प्यासको ईश्वर ने इन अग्नि आदि भौतिक देवों में ही स्थापन किया है। इस लिए वैदिक सम्प्रदाय में 'स्वाहा' शब्द से जिस किसी देवता को आहुति दी जाती है, वह उसकी भूख प्यास शान्त करने के लिये ही दी जाती है। भूख प्यास के शान्त न होने से जैसे हम उपद्रव करने लगते हैं, ऐसे ही देवता भी क्षुधित और पिपासित होकर अतिवृष्टि, अनावृष्टि, उल्कापात और महामारी आदि अनेक प्रकार के उपद्रव करते हैं ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥ सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्त्तिरजायत। या वै सा मूर्त्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥ तदेतदभिसृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥ तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥ तच्चक्षुषा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥ तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेणग्रहीतुम्। स यद्धै-

नच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥ तत्त्वचा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्त्वचा ग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥ तन्मनसा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥ तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनाच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्न मत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥ तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्। स एषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

पदार्थ—(सः, ईक्षत, इमे, नु, लोकाः, च, लोकपालाः, च, अन्नम्, एभ्यः, सृजै, इति) ईश्वर ने देखा कि ये लोक और लोकपाल हैं, अब अन्न इनके लिये बनाऊं ॥ १ ॥ (सः, अपः, अभ्यतपत्) उसने जलों को तपाया (ताभ्यः, अभितप्ताभ्यः, मूर्त्तिः, अजायत) उन अभितप्त जलों से मूर्त्ति उत्पन्न हुई (अन्नम् वै, तत्) वही अन्न है ॥ २ ॥ (तद्, एतद्, अभिसृष्टम्, नवत, पराङ्, अत्यजिघांसत) वह यह रचा गया अन्न शब्द करता हुआ परे हट गया (तद्, वाचा, अजिघृक्षत्) उसको वाणी से पकड़ना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, वाचा, ग्रहीतुम्) उसको वाणी से ग्रहण करने में समर्थ न हुआ। (सः, यद्, ह, एनत्, वाचा, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको वाणी से ग्रहण कर सकता (अभिव्याहृत्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न का उच्चारण करके ही तृप्त होजाता ॥ ३ ॥ (तत्, प्राणेन, अजिघृक्षत्) उसको प्राण से लेना चाहा (तत् न, अशक्नोत्, प्राणेन, ग्रहीतुम्) उसको प्राण से ग्रहण करने में समर्थ न हुआ (सः, यत्, ह, एनत्, प्राणेन, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको प्राण से ले सकता (अभिप्राण्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को सूंघ कर ही तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥ (तद्, चक्षुषा, अजिघृक्षत्) उसको

आंख से लेना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, चक्षुषा, ग्रहीतुम्) उसको आंख से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुवा (सः, यद्, ह, एनत्, चक्षुषा, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको आंख से ग्रहण कर सकता (दृष्ट्वा, ह एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) अन्न को देख कर ही तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥ (तत्, श्रोत्रेण, अजिघृक्षत्) उसको कान से ग्रहण करना चाहा (तत, न, अशक्नोत्, श्रोत्रेण, ग्रहीतुम्) उसको कान से ग्रहण करने में समर्थ न हुवा (सः, यद्, ह, एनत श्रोत्रेण, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको कान से ग्रहण कर सकता (श्रुत्वा ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) सुनकर ही अन्न को तृप्त होजाता ६ (तत्, त्वचा, अजिघृक्षत्) उसको त्वचा से ग्रहण करना चाहा (तत, न अशक्नोत्, त्वचा, ग्रहीतुम्) उसको त्वचा से ग्रहण करने में समर्थ न हुवा (सः, यद्, ह, एनत्, त्वचा, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको त्वचा से ग्रहण करसकता (स्पृष्ट्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) छूकर ही अन्नका तृप्त होजाता ॥७॥ तत्, मनसा, अजिघृक्षत्) उसको मन से ग्रहण करना चाहा (तत्, न, अशक्नोत्, मनसा, ग्रहीतुम्) उसको मनसे ग्रहण करने में समर्थ न हुवा (सः, यद्, ह, एनत्, मनसा, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको मनसे ग्रहण करसकता (ध्यात्वा, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत) ध्यान करके ही अन्नका तृप्त हो जाता ॥ ८ ॥ (तत्, शिश्नेन, अजिघृक्षत्) उसको शिश्नसे ग्रहण करना चाहा (तत्, न अशक्नोत्, शिश्नेन, ग्रहीतुम्) उसको शिश्न से ग्रहण करने में समर्थ न हुवा (सः, यद्, ह, एनत्, शिश्नेन, अग्रहैष्यत्) वह जो इसको शिश्न से ग्रहण कर सकता (विसृज्य, ह, एव, अन्नम्, अत्रप्स्यत्) छोड़कर ही अन्न को तृप्त होजाता ॥ ९ ॥ (तद्, अपानेन, अजिघृक्षत्) उसको अपान से ग्रहण करना चाहा (तद् आवयत्) उसको

ग्रहण किया (सः, एवः, अन्नस्य, ग्रहः, यद्, वायुः, अन्नायुः, वा एषः, यद्, वायुः) वह यह अपान वायु ही अन्न का ग्राहक है, यही अन्नायु है और यही वायु है ॥ १० ॥

भावार्थः—जब ब्रह्मा लोक और लोकपालों की सृष्टि कर चुका, तब उसने सोचा कि बिना भक्ष्य के ये प्राणी कैसे जीवित रहसकते हैं? यह सोचकर उसने जलों को पृथ्वी में आलोडित किया, उससे मूर्ति उत्पन्न हुई और वही अन्न है। विदित हो कि अन्न वही नहीं है जो खाया जाता है, किन्तु खाने वाला भी अन्न है, जैसाकि किसी ने कहा है:—

"अद्यतेत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते" अब प्राणियों का जीवन अन्न बन गया और वह प्राणियों के शरीर से भिन्न था, अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इसको कौन ग्रहण करे और किस प्रकार यह प्राणियों की भूख प्यास को शान्त करके उन्हें तृप्त करे। इस काम के लिए सबसे पहले वाणी जिसके द्वारा हम अन्न के गुण वर्णन करते हैं, अग्रसर हुई और उसने अन्न को ग्रहण करने की चेष्टा की, पर वह इसमें कृतकार्य न हुई। क्योंकि यदि वाणी से अन्न का ग्रहण हो सकता तो फिर अन्न का उच्चारण करने से ही हम तृप्त होजाते। अन्न का नाम लेने से किसी की भूख नहीं बुझती, इससे सिद्ध है कि वाणी से हम अन्न का ग्रहण नहीं कर सकते। इसी प्रकार प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, मन और शिश्न ये भी अन्न का ग्रहण करने में समर्थ नहीं होसकते। क्योंकि यदि इनसे अन्न का ग्रहण होसकता तो सूँघने से या देखने से या सुनने से या छूने से या सोचने से या छोड़ने से हमारी तृप्ति होजाती, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध है कि ये सब उपकरण अन्न को ग्रहण करने में समर्थ नहीं। इन सबके हार जानेपर

अपान वायु ने जो मुख के द्वारा भक्ष्य को उदर में ले जाता है और अभक्ष्य को वमन द्वारा बाहर फेंक देता है तथा पायु द्वारा मलविसर्जन करता है, इस काम का बीड़ा उठाया और यह कृतकार्य हुआ। तात्पर्य यह कि अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, ओषधि, चन्द्र और जल इनके कार्य वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र त्वक्, मन और शिश्न ये सातों अन्न को ग्रहण न कर सके, परंतु पृथिवी के कार्य अपान ने इसलिये अन्न को ग्रहण करलिया कि अन्न भी पृथ्वी का ही विकार है। पार्थिव अन्न को पार्थिव अपान ही ग्रहण करने में समर्थ है। अतएव इस अपान की ही अन्नायु संज्ञा है, और यही कुपित होकर, मृत्यु के द्वारा आयु को निःशेष भी करता है॥ १०॥

सईक्षत कथं न्विदं मदृतेस्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति॥ ११॥ स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति॥ १२॥ स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति, स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमहो ३ ॥१३॥ तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्त मिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः। परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ १४॥ इति तृतीयः खण्डः॥

इति प्रथमोऽध्यायः॥

पदार्थः—(सः, ईक्षत, कथम्, नु, इदम्, मत्, ऋते, स्यात्, इति) उस आत्माने देखा क्योंकर यह मेरे विना रहेगा? (सः, ईक्षत, कतरेण, प्रपद्यै, इति) उसने देखा कौनसे (मार्गसे) प्रवेश करूं (सः, ईक्षत, यदि, वाचा, अभिव्याहृतम्,) उसने सोचा यदि वाणी से बोला जाता है। (यदि, प्राणेन, अभिप्राणितम्) यदि प्राण से श्वास लिया जाता है (यदि, चक्षुषा, दृष्टम्) यदि आंख से देखा जाता है (यदि, श्रोत्रेण, श्रुतम्) यदि कान से सुना जाता है (यदि, त्वचा, स्पृष्टम्) यदि चर्म से छुआ जाता है (यदि, मनसा, ध्यातम्) यदि मन से ध्यान किया जाता है (यदि, अपानेन, अभ्यपानितम्) यदि अपानसे खाया जाता है (यदि, शिश्नेन, विसृष्टम्) यदि शिश्न से विसर्जन कियाजाता है (अथ, कः, अहम्, इति) तब मैं कौन हूं? ॥११॥ (सः, एतम् एव, सीमानम्, विदार्य, एतया, द्वारा, प्रापद्यत) वह इस ही (शरीर की) सीमा को विदारण करके इसके द्वारा प्रविष्ट हुवा। सा, एषा, विदृतिः, नाम, द्वाः) वह यह द्वार विदृति नाम वाला है (तत्, एतत्, नान्दनम्) वह यह (द्वार) नान्दन भी कहलाता है (तस्य, त्रयः, आवसथाः, त्रयः, स्वप्नाः,) उसके तीन स्थान हैं तीन ही स्वप्न हैं (अयम्, आवसथः, अयम्, आवसथः, अयम्, आवसथः, इति) तीन स्थानों को लक्ष्य करके तीन बार कहागया है कि यही स्थान है ॥ १२ ॥ (सः, जातः, भूतानि, अभिव्यैख्यत्) उस प्रकट हुवे जीव ने प्राणियों को देखा (किम्, इह, अन्यम्, वावदिषत्, इति) क्या यहांपर अन्य से बोले (सः, एतम्, एव, पुरुषम्, ब्रह्म, ततमम्, अपश्यत्) वह इसी पुरुष को जो सब से बड़ा और सब में व्यापक है, देखता है (इदम्, अदर्शम्, अहो ३) अहो इसको देखा ॥१३॥ (तस्माद्, इदन्द्रः, नाम इदन्द्रः, ह, वै, नाम) इसलिए उसका 'इदन्द्र' नाम हुवा।

"इदम्, अदर्शम्" इन दो शब्दों में से 'इदम्' पूरा और 'अद-र्शम्' के बीच के द्, र्, श्. लेकर 'इदन्द्र' शब्द बना है जिसका अर्थ है इसको देखता हूं [तम्, इदन्द्रम्; सन्तम्, इन्द्रम्, इति, आचक्षते, परोक्षेण] उसको साक्षात् ज्ञान वाचक इदन्द्र होते हुवे परोक्ष से इन्द्र कहते हैं। [परोक्ष प्रियाः, इव, हिः देवाः] देवता परोक्ष प्रिय होते हैं द्विर्वचन पुष्टि के लिए है।

इति तृतीयः खण्डः॥

भावार्थः—भौतिक सृष्टिको बनाकर आत्माने देखा कि मेरे बिना ये सब लोक और लोकपाल कैसे जीवित रहेंगे। यह निश्चय करके कि आत्मा के बिना ये सब निःसत्व हैं, उसने इनमें स्वयं प्रवेश करना चाहा। उसने यह भी सोचा कि यदि ये इन्द्रिय अपना अपना व्यापार करने में स्वतंत्र हैं तो फिर मैं किस रोगकी औषधि हूं? अतएव मूर्द्धा की सीमाको विदारण करके उसने इसमें प्रवेश किया, इसीलिये इस स्थान का नाम 'विदृति' हुवा अर्थात् मूर्द्धा को विदारण करके आत्मा शरीर प्रविष्ट हुवा। दूसरा नाम इसका 'नान्दन' भी है, इसीलिए कि योगी लोग सुषुम्णा नाडी के द्वारा मस्तक का भेदन करके आनन्द स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वह आत्मा प्रविष्ट होकर यद्यपि सब शरीर में व्यापक है, तथापि तीन अधिष्ठान उसके मुख्य हैं और वे तीन ये हैं-चक्षु, कण्ठ और हृदय [तीन ही अवस्था हैं-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इसीलिए श्रुति में भी तीन ही वार 'आवसथ' शब्द का प्रयोग कियागया है। शरीर में प्रकट होकर जब आत्मा ने इस सृष्टिका निरीक्षण किया तब अन्य कौन था? जिससे यह कुछ कहता। उस ही एक व्यापक ब्रह्म को जिसके अंश से यह प्रकट हुवा था, इसने सबमें व्याप्त देखा। तब इसने आश्चर्य होकर कहा अहो!! मैंने

ब्रह्मको प्रत्यक्ष देखा। प्रत्यक्ष देखने से ही ब्रह्म का नाम 'इदन्द्र' हुवा, अर्थात् "इदम् अदर्शम्" का यह संक्षिप्त रूप है। इसी प्रत्यक्षवाचक 'इदन्द्र' शब्द से परोक्ष में दकार का लोप करके 'इन्द्र' शब्द बनाया गया है। इसका कारण यह है कि देव लोग परोक्ष प्रिय होते हैं। लोक में भी प्रायः व्यक्तियों का निजनाम की अपेक्षा उपाधि से निर्देश किया जाना अच्छा समझा जाता है॥

इति प्रथमाध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्त्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥ १॥ तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति॥ २॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्त्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म॥ ३॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥ ४॥ तदुक्तमृषिणा—"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्॥ [ऋग्वेदे मण्डले ४ सूक्तम् २७] इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥ ५॥ स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत्॥ ६॥

इति चतुर्थः खण्डः॥ इति द्वितीयाध्यायः॥

पदार्थः—(पुरुषे, ह, वै, अयम्, आदितः, गर्भः भवति) पुरुष में (पिता के शरीर में) पहले से ही यह गर्भ होता है (यद्, एतत्, रेतः) जो यह वीर्य है। (तद्, एतत्, सर्वेभ्यः, अङ्गेभ्यः, तेजः, सम्भूतम्, आत्मनि, एव, आत्मानम्, बिभर्ति) वह यह सब अङ्गों से तेज उत्पन्न होकर आत्मा में ही आत्मा को धारण करता है (तद्, यदा, स्त्रियाम्, सिञ्चति, अथ, एतत्, जनयति, तद्, अस्य, प्रथमम्, जन्म) वह जब स्त्री में सींचता है तब इसको उत्पन्न करता है, वह इसका पहला जन्म है॥ १॥ (तत्, स्त्रियाः, आत्मभूयम्, गच्छति, यथा, स्वम्, अङ्गम्, तथा) वह अपने ही अङ्ग के समान स्त्रीके अङ्ग में मिल जाता है (तस्माद्, एनाम्, न, हिनस्ति) इसलिये इसको पीड़ा नहीं देता (सा, अस्य एतम् आत्मानम्, अत्र गतम् भावयति) वह इस पुरुष के इस आत्मा को अपने में मिला हुआ जानती है ॥ २॥ (सा, भावयित्री, भावयितव्या, भवति) वह गर्भ की रक्षा करती हुई रक्षणीय होती है (तम्, गर्भम्, स्त्री, बिभर्ति) उस गर्भ को स्त्री धारण करती है (सः, अग्रे, एव, कुमारम्, जन्मनः, अग्रे अधि भावयति) वह पिता पहले ही कुमार को जन्म के पश्चात् प्यार करता है (सः, यत्, कुमारम् जन्मनः, अग्रे अधिभावयति, आत्मानम्, एव, तद्, भावयति) वह जो कुमार को जन्म के पश्चात् प्यार करता है वह अपने को ही प्यार करता है (एषाम्, लोकानाम्, सन्तत्या, एवम्, सन्तताः, हि, इमे लोकाः) इन लोकों की सन्तति से इस प्रकार फैले हुये यह लोक हैं (तद् अस्य, द्वितीयम् जन्म) यह इसका दूसरा जन्म है॥ ३॥ (सः, अस्य अयम आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते) वह इसका यह आत्मा अर्थात् पुत्र पुण्य कर्मोंकेलिये प्रतिनिधि होता है (अथ, अस्य, अयम्, इतरः, आत्मा, कृतकृत्यः, वयोगत

प्रैति और इसका यह वयोगत (वृद्ध) दूसरा आत्मा कृतकृत्य होकर प्रयाण करता है (सः, इतः प्रयन् एव पुनः जायते) वह यहां से जाता हुवा ही फिर उत्पन्न होता है (तद् अस्य तृतीयम् जन्म) वह इसका तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥ (तद् उक्तम ऋषिणा) सो वेदोक्त ऋषि ने कहा है:—नु अहम्. गर्भे, सन् एषाम् देवानाम्, विश्वा, जनिमानि अनु अवेदम्] मैंने गर्भ में ही रहते हुये इन देवों के सब जन्मों को जाना है (मा शतम आयसीः पुरः अरक्षन् अधः श्येनः जवसा निरदीयम्) लोह के समान सैकड़ों दृढ़ शरीरों ने मेरी रक्षा की अब मैं मुक्ति की इच्छा करता हुवा इस बंधनसे निकला हूं। (ऋग्वेद मण्डल ४ सूक्त २७) (इति गर्भे एव शयानः वामदेवः एवम् उवाच) इस प्रकार गर्भ में ही सोते हुये वामदेव ने यह वाक्य कहा ॥ ५ ॥ (सः एवं विद्वान् अस्मात् शरीरभेदात् ऊर्ध्वम् उत्क्रम्य अमुष्मिन्; स्वर्गेलोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत् सम भवत्) इस प्रकार वह विद्वान् वामदेव इस शरीर से ऊपर उठकर उस स्वर्ग लोकमें सब कामनाओंको प्राप्त होकर अमरहो गया। द्विर्वचन द्वितीय अध्याय की समाप्ति के लिये है ॥ ६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

भावार्थः—इस आधि भौतिक सृष्टि में जीवात्मा के प्रवेशानन्तर अब उसके तीन जन्म दिखलाये हैं। जन्म शब्द का अर्थ किसी विशेष अवस्था में प्रकट होना है । पहला जन्म तो इसका यही है कि जब यह पिता के शुक्र और माता के रजस् का संयोग होने से गर्भ में आता है। इस प्रसंग में यह बात याद रखनी चाहिए कि शुक्र और रज दोनों पिता माता के सब अङ्गों से जो रस उत्पन्न होता है, उसका सार हैं । अतएव प्रत्येक स्त्री पुरुष को अपने आत्मा के ही समान उनकी रक्षा

करनी चाहिए अर्थात् बिना प्रजोत्पादन की योग्यता प्राप्त किये कदापि उनका उपयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस उपादान से अपने इस लोक का ही नहीं, किंतु परलोक का भी सहायक प्रतिनिधि उत्पन्न होता है, उसको व्यर्थ खोने के बराबर संसार में और कोई अपराध नहीं होसकता।

दूसरा जन्म इसका तब होता है जब यह माताके रससे पुष्ट होकर ६ महीने की अवधि समाप्त करके गर्भ से बाहर आता है अर्थात् प्रसव के समय जब यह कहाजाता है कि कुमार या कुमारी का जन्म हुआ, तब पिता उसको अपना ही आत्मा समझकर प्यार करता है, माता ने तो गर्भावस्था से ही उसको अपना आत्मा समझ कर पोषण किया है। इस प्रकार माता पिता के अकृत्रिम प्रेम से परिवर्द्धित होकर वह समर्थ और योग्य बनता है, इसीसे यह वंश परंपरा और प्रजाका विस्तार संसार में फैला हुवा है।

ये दो जन्म तो योग्य अयोग्य सभी के होते हैं, परंतु तीसरा जन्म इसका तभी मानाजाता है, जबकि यह अपने सुकृत कर्मों से पिता का सच्चा प्रतिनिधि बनकर पिता को मुक्तभार करता है। योग्य पुत्रको अपना स्थानापन्न बनाकर पिता कृतकृत्य होकर यहां से प्रयाण करता है और अपने कर्मानुसार फिर जन्म लेता है।

ऋग्वेद के मन्त्र में जिसकी इस श्लोक में प्रतीक दीगई है, गर्भस्थ वामदेव ऋषि=जीवात्मा कहता है कि "मैंने गर्भ में रहते हुवे ही इन देवताओं के अनेक जन्मों को जाना है, जहां लोहके समान दृढ़ शरीरोंने मेरी रक्षाकी और अब मैं इस जन्म मरणके बंधन से छूटने की इच्छा करता हुवा इस बंधन

से मुक्त होता हूं।" वामदेव नाम यहां जीवात्मा का है. प्रत्येक जीवात्मा को गर्भ में अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है। परमात्माकी कुछ ऐसी विचित्र लीला है कि गर्भ से बाहर आते ही अर्थात् जन्म लेतेही उसको पूर्वजातिका ज्ञान विस्मरण होजाता है। जैसा कि गर्भोपनिषद् में कहा है:—

"अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकारण सम्पूर्णोभवति पूर्वजाति स्मरति शुभाशुभ च कर्म विन्दति। पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधास्तनाः॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः। यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः। अहो दुःखोदधौ मग्नो नपश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥ यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् । अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥"

अर्थः—"नवें महीने में जब संपूर्ण ज्ञानकरणों से संपन्न होता है, पूर्वजन्म का स्मरण करता है. शुभाशुभ कर्म को प्राप्त होता है, उसी समय जीवात्मा कहता है, इससे पहले मैं हजारों योनियों में आचुका हूं जिनमें मैंने अनेक प्रकारके आहार भक्षण किये; बहुतसी माताओं के स्तन पिये। जन्मलिया, मरा, फिर जन्मा। जो मैंने कुटुम्ब के लिए बहुतसे शुभाशुभ कर्म किये, फलभोगी सब चले गये, अब मैं अकेला उनसे जल रहा हूं। अहो !! मैं दुःख के समुद्र में डूबा हुवा, अपने उद्धार का कोई उपाय नहीं देखता। यदि अब मैं इस योनि के बंधन से मुक्त होजाऊं तो अशुभ के नाशकर्त्ता और मुक्ति के दाता महेश्वर का आश्रय लूंगा।"

इसी प्रकार निरुक्त के परिशिष्ट भाग में भी इसी प्रसङ्ग का वर्णन आया है जो इसप्रकार है:—

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनि सहस्त्राणि मयोषितानि यानिवै॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा।
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जंतुश्चैव समन्वितः॥

अर्थः—मरकर मैं फिर जन्मा और जन्मलेकर फिर मरा। सहस्त्रों योनियों का मैंने आश्रय लिया। अनेक प्रकारके आहार खाये और अनेक माताओं के स्तन पिये। अनेक माता, पिता और मित्र देखे. गर्भ में नीचे को शिर किये हुये पीड्यमान प्राणी ऐसा सोचता है।

यद्वा 'वामदेव' शब्द से उस जीवात्मा का ग्रहण होता है जिसने सत्वगुण की प्रधानता से अपने संस्कारों को शुद्ध करलिया है और संस्कारशुद्धि होने से जिसको पूर्वजाति का ज्ञान होगया है, जैसाकि योगशास्त्र में पतञ्जलिने कहा है:—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्
(योगसाधनपादसूत्र)

यद्वा 'वामदेव' शब्द से उस ऋषि विशेष का भी ग्रहण होसकता है, जिसको अपने सञ्चित शुभसंस्कारों के कारण माताके गर्भ में ही अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान होगया था। इस-प्रकार शुद्धसंस्कारसंपन्न जीवात्मा यद्वा वामदेवऋषि शारीरिक बंधनों को तोड़कर और आप्तकाम होकर अमर होगया।

इति द्वितीयाध्यायः।

अथ तृतीयाऽध्यायः ।

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा । येन वा रूपं पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति,येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥१॥यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानंप्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति । सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥ एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवीवायुराकाश आपोज्योतींष्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥ स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्समभवत् ॥ इत्योश्म् ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

समाप्ता चेयमुपनिषद्

पदार्थः—(कः, अयम्, आत्मा, इति, वयम् उपास्महे) यह आत्मा कौन है, जिसकी हम उपासना करते हैं (कतरः, सः, आत्मा) दोनों में से वह कौन आत्मा है (येन वा रूपम्, पश्यति) जिससे रूपको देखता है (येन,वा शब्दम्, शृणोति) वा जिससे शब्द सुनता है (येन, वा, गन्धान्, आजिघ्रति) वा जिससे गन्धोंको सूंघता है (येन, वा, वाचम्, व्याकरोति) वा जिससे वाणी को व्यक्त करता है (येन, वा, स्वादु, च,

अस्वादु, च, विजानाति) या जिससे स्वादु और अस्वादु को जानता है ॥ १ ॥ (यत्, एतत्, हृदयम्, मनः, च) जो यह हृदय और मन है (एतद्, संज्ञानम्, आज्ञानम्, विज्ञानम् प्रज्ञानम्, मेधा, दृष्टिः, धृतिः मतिः, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वशः इति) यह संज्ञानादि पदवाच्य है। (सर्वाणि, एव, एतानि, प्रज्ञानस्य, नामधेयानि, भवन्ति) ये सब प्रज्ञानके नामान्तर हैं-॥ २ ॥ (एष, ब्रह्म) यह सबसे बड़ा है (एष, इन्द्रः) यह शक्तिमान् है (एष, प्रजापतिः) यह प्रजा का पालक है (एते, सर्वे, देवाः) ये सब देवता (इमानि, च, पञ्च, महाभूतानि) ये पञ्च महाभूत (पृथिवी, वायुः, आकाशः, आपः, ज्योतींषि, एतानि) पृथिवी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये (इमानि, च, क्षुद्रमिश्राणि, इव बीजानि) ये पार्थिव तत्वों में मिले हुये क्षुद्र बीज (इतराणि, च, अण्डजानि, च, जारुजानि, च, स्वेदजानि, च, उद्भिज्जानि, च, अश्वाः, गावः, पुरुषाः, हस्तिनः) और जो अण्डज और जरायुज और स्वेदज और उद्भिज, तथा घोड़े गाय, पुरुष और हाथी (यत्, किम्, च, इदम्, प्राणी जङ्गमम्, च, पतत्रि, च, यत्, च, स्थावरम्) जो कुछ यह प्राणिजङ्गम और पक्षी और वृक्षादि स्थावर हैं (सर्वम्, तद्, प्रज्ञानेत्रम्) सब वह प्रज्ञानेत्र है (प्रज्ञाने, प्रतिष्ठितम्) प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है (प्रज्ञानेत्रः, लोकः) लोक प्रज्ञानेत्र है (प्रज्ञा, प्रतिष्ठा) प्रज्ञा ही इसकी स्थिति का कारण है प्रज्ञानम्, ब्रह्म , प्रज्ञान ही ब्रह्म है ॥ ३ ॥ (सः, एतेन, प्रज्ञेन, आत्मना) वह इस प्राज्ञ आत्मासे (अस्मात्, लोकात्, उत्क्रम्य) इस लोक से उत्क्रान्त होकर (अमुष्मिन्, स्वर्गे लोके) परत्र स्वर्गलोक में (सर्वान्, कामान्, आप्त्वा) सब इच्छाओं को

प्राप्त होकर (अमृतः, समभवत्, समभवत्) अमर होना है द्विशर्वन ग्रन्थ सतति सूचक है।

भावार्थः—इस श्रुति में प्रश्नात्मक रीति पर आत्मा और उसके करणों का प्रतिपादन किया गया है। वह आत्मा कौन है जिस के द्वारा प्राणी देखते हैं, सुनते हैं बोलते हैं और रसादि का अनुभव करते हैं ? यदि कोई कहे कि हम आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं और वाणी से बोलते हैं, इत्यादि तो उस से कहना चाहिये कि जब आत्मा इस शरीर को छोड़ देता है, तब ये इन्द्रिय अपना २ काम क्यों नहीं करते ? बस जिस के होने से जो होता है, वह उसी का समझा जाता है । अतएव दर्शनादि का कर्त्ता और उस से होनेवाले सुख दुःखादि का भोक्ता केवल आत्मा है, इन्द्रियादि तो उस के करण मात्र हैं । इस शरीर में जो हृत्पुण्डरीक देश है, वही उस आत्मा का अधिष्ठान है । वहीं पर मनरूप सेनापति अपने सोलह सरदारों के सहित निवास करता है. उन सोलह सरदारों के नाम ये हैं १—संज्ञान २—आज्ञान ३—विज्ञान ४—प्रज्ञान ५—मेधा ६—दृष्टि ७—धृति ८—मति ९—मनीषा १०—जूति ११—स्मृति १२—संकल्प १३—क्रतु १४—असु १५—काम १६—वश । इन्हीं को सोलह कला भी कहते हैं। इन सोलह कलाओं से युक्त होने से ही आत्माका नाम षोडशी है । आत्मा वस्तुतः क्या है ? ज्ञानका दूसरा नाम और सारे गुण वा शक्तियां जड़ प्रकृति में रह सकती हैं, परन्तु ज्ञान का अधिकरण केवल आत्मा है । अतएव आत्मा की ये १६ कलायें वास्तव में ज्ञान का ही पर्याय हैं ।

ज्ञान से ही हम ब्रह्म को जानते हैं उस के ऐश्वर्य को अनुभव करते हैं, उसकी सृष्टि के रहस्य को समझते हैं, अतएव

ान ही ब्रह्म है, ज्ञान ही इन्द्र है और ज्ञान ही प्रजापति है, ह कहना अनुचित न होगा। क्योंकि ज्ञेय का वास्तविक ज्ञान भी होता है, जब ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक होजाते हैं। इस ; अतिरिक्त आध्यात्मिक और आधिभौतिक देवता, पञ्च-हाभूत—पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश, स्थूल और ्क्ष्म परमाणु, अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज आदि ानियां, जङ्गम और स्थावर जो कुछ जगत् है, वह सब ज्ञान ा ही जाना जाता है, अतएव वह 'प्रज्ञानेत्र' कहलाता है। स प्राज्ञ आत्मा को जानकर ही मनुष्य इस लोक में आप्त-ाम होकर जीवन्मुक्त होजाता है।

तीसरा अध्याय समाप्त।

ऐतरेय उपनिषद् भी समाप्त हुई।

विज्ञप्ति

द्वितीय संस्करण में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, और माण्डूक्य इन ६ उपनिषदों की २००० प्रतियां छपी थीं, जो हाथों हाथ निकल गईं। पाठकों ने इस अनुवाद को बहुत पसन्द किया। सरल और संक्षिप्त होने के अतिरिक्त यह मूल का आशय भली भाँति पाठकों के हृदय में अङ्कित करदेता है। अनेक सज्जनों के अनुरोध से हमने लेखक से तैत्तिरीय और ऐतरेय का भी उसी क्रम से अनुवाद कराकर इसमें सम्मिलित करदिया है। इस बार कागज़ भी बढ़िया, साइज मिडिल और छपाई नये टाइप की है। इतने पर भी २७ फार्म की पुस्तक का मूल्य हमने सिर्फ २) रक्खा है। यदि पाठकोंने इसको अपनाया तो शीघ्र ही हम शेष चार उपनिषदों का भी ऐसा ही सरल और सुबोध अनुवाद पाठकों की भेंट करेंगे।

प्रकाशक—

देखने योग्य पुस्तकें।

...र्शनिक एवं धार्मिक विभाग।	
...ाय दर्शन	१॥)
...ेषिक दर्शन	१॥)
...ागदर्शन	३)
...ंख्यदर्शन	१)
...ानयोगप्रकाश	१॥)
...ान्त समुच्चय	१॥)
...ोपनिषद्	२)
...ुक विवाहादर्श	१)
...ासत्यार्थप्रकाश	॥=)
...ु नामावलि	॥)
...्योपनयनसंस्कार	।-)
...गों में महासभा	।)
...गों में सब्जैक्ट कमेटी	=)॥
...त मनुस्मृति	।-)
...र्य हिन्दू नमस्ते का अनुसन्धान	।)
...ति शतक	=)
...ठी जनेऊ का विवाह	=)
...के और पुनरावृत्ति	-)॥
...ाणक्यनीति दोहायस	)॥

राजनैतिक विभाग।	
देश दिवाकर	१।)
मेरी जेल यात्रा	॥)
कृषक स्तुति	)॥

ऐतिहासिक विभाग।	
श्रीकृष्णका जीवन (सचित्र)	१)
भीष्म पितामह का जीवन	।≈)
छत्रपति शिवाजीका जीवन	॥=)
हज़रत मोहम्मद ,,	॥=)
बैंजमिन फ्रैंकलिन ,,	॥=)
हकीकतरायधर्मी	-)
स्वामी विरजानन्द ,,	=)॥

साम्प्रदायिक विभाग।	
यवनमतादर्श	१)
विषलता इस्लाम का फोटू	।-)
कुरान की छानबीन	।-)
यवनमत परीक्षा	।-)
पुराण परीक्षा	।)
भौंदूआट. पादरी साहब	≈)
ईसाई विद्वानों से प्रश्न	)॥

ईसाई मत परीक्षा)॥	राष्ट्रीय चमत्कार भ०माला
ईसाई मत में मुक्ति असम्भव है)॥	वसन्तमाला
जैनमत लीला)।	आनन्द मङ्गल
	नूतन स्त्री ज्ञान गजरा तीनों भाग

छोटे छोटे ट्रैक्ट ।

विचित्र ब्रह्मचारी)॥।	भजन नूतन प्रकाश
हिंदुओं की छाती पर ज़हरीली छुरी -)	दुख निवारण भजनावलि =)
शिव पूजा विधान)।	कर्णामृत
बकरा विनय)।	आनन्दलता
ग्रहण पर विचार)॥।	गौ भक्ति प्रकाश
पतिव्रत धर्म -)	नगर कीर्त्तन
वेद किनपर प्रकट हुए)॥।	भजन वसन्त बहार
ईश्वर विचार)॥	भजन पचासा (प्र० द्वि०)
ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है)॥	स्त्री गीत प्रकाश)
ईश्वर जगत् कर्त्ता कैसे हो सकता है)॥	भजन हृदय प्रकाश)
	भजन ज्ञान प्रकाश)
	अन्धेर खाता
	भारतमाता की पुकार

नाटक व उपन्यास

सीता चरित्र छठा भाग ॥)	
भारत माता ।-)	
चंचल कुमारी ≡)	

गाने योग्य पुस्तकें

राष्ट्र गान =)	
तेजसिंह शतक ॥)	

शिक्षा सम्बंधी पुस्तकें

बाला बोधनी चारों भाग	१
सन्तान शिक्षक	।
घरेलू चिकित्सा	
शिष्टाचार सोपान	

मिलने का पता—वैदिक पुस्तकालय

विधवोद्वाहमीमांसा

विधवाविवाह की निष्पक्ष आलोचना

क्या भारत की एक करोड़ अनाथा बालविधवाओं से
प की सहानुभूति है और आप उन के मानुषिक स्वत्वों को
नसे वे बलात् वञ्चित की गई हैं, स्वीकार करते हैं। यदि
प इस अप्राकृतिक दशा से जिसमें पड़ी हुई लाखों बालविध-
यें समाज का शूल बन रही हैं, उन का उद्धार करना चाहते
और उन के जीवन को मङ्गलमय और समाज के लिए उप-
गी बनाना चाहते हैं, तो एकबार इस पुस्तक का आद्योपान्त
लोकन करजाइये। इस में न केवल श्रुति,स्मृति और पुराणों
अनेक प्रमाणों और ऐतिहासिक उदाहरणोंसे विधवाविवाह
वैध होना सिद्ध किया गया है। किन्तु शास्त्र और लोका-
र के आधार पर जो २ आक्षेप और तर्क इसके विरुद्ध किये
ते हैं, उनकी ऐसी मार्मिक और अनुसन्धानात्मक आलोचना
गई है कि जिस को पढ़ या सुनकर कोई हठवादी भी इस
अवैध कहने का साहस नहीं कर सकता। निदान हिन्दी
हित्य में इस विषय की यह पहली पुस्तक है। हम दावे से
ते हैं कि हिन्दू समाज में यह पुस्तक युगान्तर उपस्थित
देगी, इस के अवलोकन से एक बार तो पत्थर से पत्थर
दय का भी हृदय पिघल जावेगा और नेत्र अश्रुपूर्ण हो
येंगे। हाथ कङ्गन को आरसी क्या है मँगाकर देख लीजिये
ज छपाई बढ़िया मूल्य १।)

मिलने का पता :—

अध्यक्ष वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद ॥